THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

121

SĀHITYA-ŚĀSTṚĪYA TATTVOṄ KĀ ĀDHUNIKA SAMĀLOCHANĀTMAKA ADHYAYANA

(A Study on the Theories of Literature)

By

ŚRĪ MADHUSŪDANA ŚĀSTRĪ,

Dean, Faculty of Oriental Learning,
Head of the Department of Sahitya,
Banares Hindu University, Varanasi
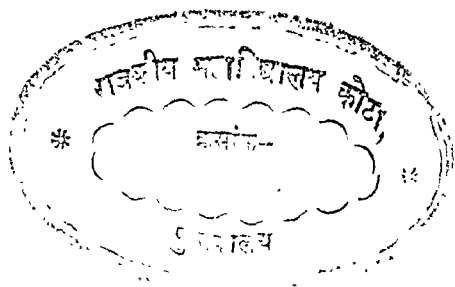
THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1968

समर्पण

विद्यानुरागी, संस्कृत के दुर्लभ ग्रन्थ रत्नों के उद्धारक अत एव भगवती सरस्वती के परम अनुकम्पनीय, राष्ट्रहित में संलग्न एवं गीर्वाणवाणी के उपासक विद्वानों के अतीव उपकारक विश्वविख्यात चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन के अध्यक्ष **स्व० सेठ श्री जयकृष्णदास जी गुप्त** एवं उन्हीं के अनुज हमारे परम सुहृत् **स्व० सेठ श्री कृष्णदास जी गुप्त** की स्मृति में उन्हीं की यह वस्तु सादर, सप्रेम एवं श्रद्धा के साथ समर्पित

आप ही का विश्वास-भाजन

मधुसूदन शास्त्री

प्राक्कथन

सहृदयों के समक्ष

परिपूर्ण घन आनन्द भगवान् की असीम कृपा से साहित्य शास्त्रीय तत्त्वों के आलोचन करने में हमारी प्रवृत्ति हुई। तदनुसार "यथाज्ञानं करवाणि" रूप सिद्धान्त से हमने वाणी की उपासना की। "श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्" शास्त्र एवं प्रयत्नों के द्वारा उपासित वाणी अवश्य ही अनुग्रह करती है। उसी वाणी के अनुग्रह को सहृदयों के समक्ष उपस्थित करते हैं।

वह अनुग्रह प्रकृत में "साहित्य शास्त्रीय तत्त्वों का आलोचन" रूप एक लघु निबन्ध है।

इसमें तीन पदार्थ हैं साहित्य, उसके तत्त्व और उसका आलोचन।

साहित्य

आचार्यों ने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" यह काव्य का स्वरूप लिखा है। इस पर प्रश्न होता है कि क्या लोक एवं क्या शास्त्र सभी स्थलों में अर्थ को समझाने के लिए शब्द का प्रयोग करते हैं और शब्द से अर्थ को समझते हैं। फलतः शब्द का अर्थ के साथ स्वाभाविक साहचर्य है। जैसा कि मीमांसादर्शन के प्रथम अध्याय प्रथम पाद के सूत्र "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" में लिखा है।

व्याकरण के नियम के अनुसार शब्दार्थौ इस पद में इतरेतर योगद्वन्द्व नाम वाला समास है। शब्दश्च अर्थश्च तौ शब्दार्थौ यह उसका स्वरूप है। यह द्वन्द्व समास तभी होता है जब पदार्थों में सहभाव विवक्षित हो। जैसा कि आचार्यों का कहना है कि—

"सहभावविवक्षायां वृत्तिर्द्वन्द्वैकशेषयोः"।

इस द्वन्द्व समास के भी दो भेद हैं। समाहार एवं इतरेतर योग।

जहां सहभाव अर्थात्साहित्य प्रधान होता है वहाँ समाहार द्वन्द्व होता है। समाहार शब्द का अर्थ है कई वस्तुओं का एकत्र होना। जब भिन्न-भिन्न वस्तुओं की समास के कारण एकरूपता हो जाती है तब उसमें "धवख-दिरम्" की तरह एक वचन होता है। और जहां साहित्य के आश्रयीभूत सहित पदार्थों में प्रधानता होती है वहाँ इतरेतर योग द्वन्द्वसमास होता है। उसमें एक दूसरे का परस्पर में योग होता है अतः द्वित्व वगैरह संख्या उन पदार्थों के अनुसार होती है। जैसे, "धवखदिरौ छिन्धि"। यहां छेदन क्रिया में धव और खदिर दोनों सहित हैं जो विवक्षित हैं। अतः धव के सहित खदिर और खदिर के सहित धव यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति के अनुसार साहित्य होने पर भी दोनों प्रधान हैं अतः द्विवचन ही होता है। इसी तरह 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' में भी उपर्युक्त स्थिति है।

शब्द सहित अर्थ अर्थात् शब्द का सहभाव है अर्थ प्रधान है। यह दृश्य है। अर्थसहित शब्द अर्थात् अर्थ का सहभाव है शब्द प्रधान है यह श्रव्य है। यहां इस शब्दार्थौ में द्विवचन है जिसका तात्पर्य है कि ये दोनों जहां प्रधान होते हैं यह पठ्य है। जहाँ दोनों प्रधान नहीं रहें या एक-एक भी प्रधान नहीं रहे किन्तु लिपि प्रधान रहे वह चित्र है। इस तरह काव्य चार प्रकार का है—दृश्य, श्रव्य, पठ्य एवं चित्र। लिपि भी शब्दस्मारक होने से शब्द रूप है। शब्द रूप होने से वह भी निरर्थक शब्द रूप नहीं होकर सार्थक शब्द रूप है। अतः दोनों रहते हुए भी दोनों प्रधान नहीं हैं लिपि ही प्रधान है। फलतः खड्ग बन्ध, मुरजबन्ध, पद्मबन्ध इत्यादि चित्रकाव्य हैं। बन्ध का अर्थ रचना है खड्गाकार लिपि की रचना को खड्गबन्ध कहेंगे इत्यादि। इस तरह परस्पर सहित शब्द और अर्थ में रहने वाला धर्म साहित्य काव्यत्व है। यह साहित्य पद लक्षण या काव्य को भी कहता है।

साहित्य शास्त्र के ९ तत्त्व हैं

इस प्रकार स्वभावतः और शास्त्र नियमतः साथ रहने वाले शब्द और अर्थ को सहितौ कहा है। अत आचार्यों का कोई गंभीर अभिप्राय अवश्य है। वह अभिप्राय क्या है, इस पर विचार विमर्श करने से यह प्रतीत होता है कि कोई समुदाय विशेष साहित्य विशेष यहाँ विवक्षा का विषय है। वह

विलक्षण साहित्य या विशिष्ट समुदाय क्या है तब कहते हैं कि कीट पतंग से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त समस्त चेतन प्राणी सुख आनन्द रस को प्राप्त करना चाहता है। इस प्राप्त सुख आनन्द रस के विरोधी या रस को विकृत कर देने वाले या रस की अनुभूति न होने देने वाले या रस को दबा देने वाले दोषों का त्याग करता है। और रस के अभिव्यंजक गुणों का संग्रह करता है। संग्रह करने के लिए रीति की आवश्यकता है। रीति शैली जानने के बाद उसके जानने वाले व्यक्ति में बढ़ने की वृत्ति पैदा होती है। वृत्ति होने के बाद अर्थात् उनकी तरफ भावों के पैदा होने के बाद प्राणी की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति में भी औचित्य का अतिक्रमण न होने पावे इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है अतः औचित्य का ज्ञान करना चाहिए। मेरी रीति, शैली या प्रवृत्तियाँ सभी जनता को आकर्षण करने वाली होवें ऐसी भावना होने पर सभी बातों में सौन्दर्य को लाने का प्रयत्न करता है। सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए अलंकारों की गवेषणा की। इसके बाद 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः, इस आत्मा सुख आनन्द रस को बलहीन अर्थात् शक्तिहीन नहीं प्राप्त कर सकता है अतः शक्ति का संग्रह करना अतीव आवश्यक है। सारांश देश, काल, पात्र एवं अवस्था के अनुसार लोकव्यवहार एवं शास्त्र प्रक्रिया में इस उपर्युक्त समुदाय का होना एवं मिलाना अपेक्षित है। फलतः इस समुदायवान् शब्द सहित अर्थ एवं उक्त समुदायवान् अर्थसहित शब्द को काव्य कहा जाता है।

उसमें इन नौ बातों का निरूपण किया जाता है। यह काव्य प्रकाशादि ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट है।

आलोचन

इस पुस्तक में उक्त नौ पदार्थों का क्रमशः आलोचन किया गया है। जैसे अलंकारों के प्रकरण में उपमा के विषय में पर्याप्त आलोचन किया गया है उसका एक अंश दिखाते हैं।

प्राचीन भामह, दण्डी, एवं वामन ने अनन्वय को उपमा की संज्ञा दी है। शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता। वामन। 'अनन्वय-ससन्देहौ उपमास्वेव दर्शितौ' दण्डी। 'एषां सर्वेषां प्रतिवस्तूपमायाश्च उपमाप्रपञ्चत्वम्' कुन्तक। 'एकवाक्ये एकस्यैव उपमानोपमेयत्वे अनन्वयोपमा' विश्वेश्वर। पण्डितराज एवं अप्पय्यदीक्षित कहते हैं कि उपमा की निष्पत्ति

इनमें नहीं है अतः यह अनन्वय एवं असम उपमा नहीं है। प्राचीनों ने असम को भी उपमा ही का भेद माना है।

जहां तीन, चार या पाँच वाक्यों में उपमेय को ही उपमान बना दिया जाय वह रसनोपमा होती है १। जहाँ दो वाक्य हों और उपमेय को उपमान बना दिया जाय वह उपमेयोपमा होती है २। यह एक प्रकार है। जहां उपमान एवं उपमेय का क्रम से विन्यास हो वह उपमा है जैसे चन्द्र इव मुखम्। १ जहाँ उन दोनों का अक्रम से विन्यास हो अर्थात् विपर्यास हो उसके चार प्रकार हैं। एक वाक्य में विपर्यास मुखमिव चन्द्रः प्रतीप होता है।

दो वाक्यों में विपर्यास हो चन्द्र इव मुखम्, मुखमिव चन्द्रः उपमेयोपमा। उत्तरोत्तर तीन चार पांच वाक्यों में विपर्यास चन्द्र इव मुखम्, मुखमिव कमलम्, कमलमिव नयनम्, नयनमिव खञ्जनम्, खञ्जनमिव नीलाम्भोजम् रसनोपमा। एक वाक्य में विपर्यास धर्म इव धर्मः, अर्थ इव अर्थः, चन्द्र इव चन्द्रः अनन्वय। यह दूसरा प्रकार है।

कहीं एक में सादृश्य निषेध; 'तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम्' व्यतिरेक है। दूसरे में सादृश्य निषेध; अर्थ इव अर्थः अनन्वय है। तीसरे में सादृश्य निषेध; उपमेयोपमा है। सर्वथा सादृश्य निषेध; असम है। काचित्क सादृश्य निषेध उपमान लुप्ता है। इनमें भी अनन्वय और उपमेयोपमा में सादृश्य निषेध व्यंग्य है। व्यतिरेक, असम, एवं, उपमान-लुप्ता में वह वाच्य है। उक्त स्थलों में सादृश्य वाच्य है। दीपक, रूपक, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा एवं निदर्शना आदि में सादृश्य आर्थ है व्यंग्य है। यह चतुर्थ एवं पंचम प्रकार है।

इसी तरह अन्य तत्त्वों में भी आलोचन किया गया है। अतः सहृदयों एवं बुभूषु छात्रों के लिए उपयोगी होगा। यह मेरा विश्वास है। क्योंकि शोध के लिए पिपासु विद्यार्थी वृन्द को इससे प्रेरणा जरूर मिलनी चाहिए। सहृदय लोग इसे देखें, सुनें एवं स्वयं पढ़ें। मेरा प्रयत्न कहां तक सफल हुआ यह तो सहृदयों की अपनी कथा है कि कैसा क्या सफल हुआ।

इसमें कालिदास का निम्न लिखित पद्य ही प्रमाण है—

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये सुलेखविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

इसके बाद भगवती पराम्बा वाणी के चरणों में प्रणाम करता हूँ कि ऐसे ही सुअवसर एवं प्रेरणायें मुझे लिखने के लिए बराबर देती रहें।

विश्वविख्यात चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन, संस्थान के सुयोग्य संचालक बाबू मोहनदास जी गुप्त एवं बाबू विट्ठलदास जी गुप्त प्रभृति बन्धुओं को हार्दिक शुभकामना के साथ-साथ धन्यवाद देता हूँ जिनके सत्प्रयत्न से यह ग्रन्थ सर्वसुलभ हुआ है। आम शम्।

वासन्तिक नवरात्र
वि० सं० २०२५

सहृदयों का ही
मधुसूदन शास्त्री

साहित्य शास्त्रीय तत्त्वों का
आधुनिक समालोचनात्मक अध्ययन

: श्री :

साहित्यशास्त्रीय

तत्त्वों का आधुनिक समालोचन

उपक्रम

सूक्तीनां, प्रतिभानाञ्च मंजरीणाञ्च जृम्भितम् ।
नवमेव मनोहारि नारीणामिव यौवनम् ॥

ग्रन्थकार लोग युक्ति एवं प्रमाणों द्वारा प्रमेय भूत वस्तु के सम्बन्ध में खण्डन एवं मण्डन करते हैं, जिससे सिद्धान्त भूत वस्तु निखर आती है। प्राचीनों की सूक्तियों को अपनी प्रतिभा के द्वारा परिमार्जन करके नवीनता का स्वरूप प्रदान करते हैं। यह नवीन पदार्थ मनोहारी होने से जनता के लिए उपादेयता का विषय हो जाता है। इस विषय में एक विद्वान् कवि ने बहुत सुन्दर कहा है कि जैसे नारियों का नूतन विकसित हुआ ही यौवन मनोहारी होता है, उसी तरह विद्वानों की सूक्तियाँ प्रतिभाएँ एवं वृक्षों की मंजरियाँ नव विकसित ही आकर्षक होती हैं। पुरानी पड़ने पर वह आकर्षण या रमणीयता नहीं रहती है। अतः हम भी अलंकारिकों की सूक्ति एवं प्रतिभा को नवीन स्वरूप देने के लिए समालोचनात्मक प्रयत्न करते हैं।

समालोचना में प्रवृत्ति क्यों = उद्देश्य

समालोचना में हमारी प्रवृत्ति के दो कारण हैं। प्रथम कारण बहिरंग है, जो कि विद्वान् एवं छात्रों के लिए परिष्कृत निबन्ध प्रस्तुत करना है। दूसरा कारण अन्तरंग है।

"वह अन्तरंग कारण है आनन्द"

किसी प्राचीन सहृदय ने कहा है कि—

संगीतञ्चैव साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम् ।
एकमापातमधुर मन्यदालोचनामृतम् ॥

यहाँ "सरस्वती के दो स्तन हैं" यह कहने का कोई अर्थ नहीं है। कौन नहीं जानता कि स्त्री को दो स्तन होते हैं। अगर उसको एक स्तन हुआ तो उसका महावीभत्स रूप हो जाता है। अतः यहाँ स्तन द्वय कहने का यह भाव है।

किसी स्त्री के स्तन को स्पर्श दो प्रकार के व्यक्ति ही कर सकते हैं। एक पुत्र, दूसरा नायक। तदनुसार उपासकों के लिए सरस्वती के दो स्वरूप हैं, एक माता का स्वरूप है। दूसरा नायिका का स्वरूप है।

जिस अवस्था में सरस्वती माता के स्वरूप में हैं, उस अवस्था में उसके स्तनद्वय संगीत रूप हैं। उपासक गण माता के संगीत रूपी स्तनद्वय का उपयोग करते हैं, अर्थात् उससे स्तन्य दुग्ध का पान करते हैं, इसीलिए संगीत को आपात मधुर कहा। इसका भाव यह है कि जैसे दुग्ध को देखने से या छूने से उसके माधुर्य का अनुभव नहीं होता, किन्तु जब दुग्धधारा का मुख में पात होता है, तभी उसके माधुर्य का अनुभव होता है, आनन्द मिलता है, उसी तरह संगीत के भी कानों में पड़ने से माधुर्य की अनुभूति होती है। यह मातृभाव है। माता स्नेह से पुत्र को दुग्ध का पान करा देती है उसके द्वारा पुत्र सद्यः पुष्टि को प्राप्त करता है। उसी तरह संगीत भी सद्यः फल देता है "सद्य फलति गान्धारी।"

उद्देश्य का स्वरूप निर्धारण

जिस अवस्था में सरस्वती नायिका के स्वरूप में है, उस अवस्था में उसके स्तन द्वय साहित्य रूप है, अतएव उसका विशेषण आलोचनामृत कहा है। यहाँ का भाव यह है—स्तन शब्द का अर्थ है (यः स्तनति यौवनोदयं कथयति स स्तनः) जो नायिका के यौवनोद्गम को कहता है, नायिका उपभोग के योग्य हो गई है। इस अवस्था को जो प्रकाशित करता है, उस चिह्नको स्तन कहते हैं। इस अवस्था में नायक, नायिका का उपभोग करता है। यहाँ यह उपभोग आलोचन है चर्वणा है, उससे अमृत माने आनन्द का अनुभव करता है। श्रुति ने कहा है (आनन्द रूपं यदमृतं विभाति) कि जो अमृत है, वह आनन्द है। फलतः साहित्य के आलोचन चर्वणा से उत्पन्न हुए अमृत आनन्द को प्राप्त करना ही इस समालोचना रूप महान् प्रयास में प्रवृत्ति का अन्तरंग कारण है।

प्रासंगिक शंका

यह आपका कथन (आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे) पूछा आमों के विषय में उत्तर देने लगे कोविदारों के विषय में का जैसे हुआ। क्योंकि रसादि साहित्य शास्त्रीय तत्त्वों के समालोचन की प्रतिज्ञा करते हैं और करने लगे समालोचना साहित्य की। अथ च प्रतिज्ञा करते हैं कि हम मम्मट एवं पण्डितराज वगैरह की सूक्ति एवं प्रतिभा का नवीन स्वरूप देने के लिए समालोचनात्मक प्रयत्न करते हैं, किन्तु यह कहते हैं कि आनन्द को प्राप्त करना प्रवृत्ति का अन्तरंग कारण हैं। 'आये थे हरिभजन को ऊटन लगे कपास' के समान आप का व्यवसाय मालूम पड़ता है।

क्रमशः शंकाओं का समाधान

प्रथम शंका का समाधान-साहित्य शब्द का अर्थ

प्रथम शंका का समाधान यह है कि यह शंका साहित्य शब्द के अर्थ से परिचय न होने से उत्पन्न हुई है। अतः साहित्य शब्द के अर्थ का विस्तार से निरूपण करते हैं। इसके लिए साहित्य पद की निरुक्ति निर्वचन एवं प्रयोग प्रवाह तथा युक्ति को बतलाना अप्रासंगिक नहीं होगा प्रत्युत अतीव आवश्यक है।

साहित्य शब्द के १४ चौदह अर्थ हैं। कोषकारों ने 'सह' नामक अव्यय के सात अर्थ लिखें हैं जैसे--

१—सीकल्य--जैसे (सतृणमत्ति) सब कुछ खा जाता है तृण तक खा जाता है। तृणेन सह अत्ति यह अव्ययीभाव समास है।

२--समानता=सहोदर, सहज, सहधर्मिणी।

३—एकत्व=सहभोजन, एक पात्र में एक पंक्ति में भोजन। "सग्धिश्च में सपीतिश्च में" यह एकत्व वेद मन्त्रों में भी है।

४--यौगपद्य=सहकार। उस आम को सहकार कहते हैं, जो अपनी सौरभ को योगपद्येन दूर-दूर तक फैलाता है।

५---विद्यमानता=सहैभिर्दशभिः पुत्रैः भारं वहति गर्दभी। दस पुत्रों के रहते हुए भी गर्दभी भार ढोती है।

६—अनुरूपता=सक्षत्रियम्, क्षत्रिय के अनुरूप। इसी को सम्पत्ति भी कहते हैं।

७—सामर्थ्य=सहाय। सह सामर्थ्य गृहीत्वा आयते स. सहाय सामर्थ्य को बलको लेकर आता है वह सहाय कहाता है।

इन सात अर्थों वाले सह अव्य से इतच प्रत्यय करके सहित बना उससे ष्यञ् करने पर साहित्य बनता है। इसके उपर्युक्त सात अर्थ हैं।

८—"सह मर्षणे" इस धातु से कष्टं सहते इस अर्थ में कर्त्ता में औणादिक क्त प्रत्यय किया इट् का आगम करके सहित बना। इसका अर्थ है सहने वाला सहनशील व्यक्ति। इस सहित से ष्यञ् करने पर साहित्य बना। उसका अर्थ है सहना।

९-१०—"डुधाञ् धारण पोषणयोः" इस धातु से भाव में क्त प्रत्यय किया और "दधाते हिः" इस सूत्र से धा के स्थान में 'हि' आदेश किया तब हित बना। इसी का अर्थ है कल्याण। इससे सम् उपसर्ग जोड़ा और समोहित-ततयोः से सम् के मकार का विकल्प से लोप हो गया तब सहित और संहिता बना। उससे स्वार्थ में ष्यन् करने पर साहित्य बनता है। इसका अर्थ धृति और पुष्टि माने कल्याण।

११-१२—"हि गतौ वृद्धौ च" यह पाणिनि महर्षि के धातुपाठ में हि धातु है। व्याकरण के नियम के अनुसार जो गत्यर्थक धातु हैं वे ज्ञानार्थक भी होते हैं। इस धातु से सम् उपसर्ग लगाकर कर्त्ता में (सं सम्यक् हिनोति जानाति इस अर्थ में) क्त प्रत्यय किया और "समो हितसतयोः" इस वार्तिक से सम् के मकार का लोप करने पर सहित बना, जिसका अर्थ है ज्ञानवान्। इस तरह बने हुए सहित से ष्यञ् प्रत्यय करने पर साहित्य बना उसका अर्थ है ज्ञान। जैसे पाचक का धर्म पकाना, पाठक का धर्म पढ़ाना उसी तरह ज्ञानवान् का धर्म ज्ञान होता है। साहित्य पद के ज्ञान अर्थ को लेकर ही वैदिक साहित्य, धार्मिक साहित्य, जैन साहित्य बौद्ध साहित्य यह प्रयोग होते हैं।

महावैयाकरण भर्तृहरि जी ने इसी अर्थ में साहित्य पद का प्रयोग किया है। "साहित्य-संगीतकला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ विषाणहीनः" यहाँ साहित्य पद का अर्थ है विद्या। इस बात का आगे के पद्य से स्पष्ट हो जाता है "विद्या विहीनः पशुः" ये दोनों वाक्य भर्तृहरि शतक में नीतिशतक के मूर्ख प्रकरण के हैं।

हि धातु का दूसरा अर्थ है वृद्धि अर्थात् उपज। अतः साहित्य का अर्थ उपज भी होता है।

१३—षह षुह चक्यर्थे, चक्यर्थः तृप्तिः। ये दो धातु हैं। जिनके आदि में षकार है, पाणिनि के नियम के अनुसार 'ष' को 'स' आदेश होता है जिसका अर्थ तृप्ति है। तृप्ति की व्याख्या महर्षि वात्स्यायन ने कामसूत्र में, महर्षि पतंजलि ने चरक में सुख आनन्द की है। वे लिखते हैं कि 'विसृष्टिसुखाधिगमे तृप्ता हि स्त्री गर्भं धत्ते' विसृष्टि से सुख मिलने पर स्त्री तृप्त हो जाती है, उसका फल है गर्भधारण करना।

कामसूत्र १ प्रकरण।

'तृप्तिश्च स्वयोन्यां बीजग्रहणात् गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य लिंगम्' चरकः। तृप्तिरानन्दः सुखमिति यावत्, चरकटीका। जब स्त्री अपनी योनि में बीज ग्रहण करती है, तब उसको पूर्ण आनन्द सुख मिलता है। यह पूर्णसुख प्राप्त होना ही सद्यो गृहीत गर्भ का चिह्न है। कहा भी जाता है। तुष्टे नं परमं किंचित् तृप्ते नं परं किंचित्। तुष्टि या तृप्ति के बाद कुछ प्राप्तव्य नहीं है। पूर्वोक्त सह के साथ पढे हुए सुह धातु से क्त प्रत्यय करने पर सुहित बना। जिस का प्रयोग महर्षि पाणिनि ने "पूरणगुण सुहितार्थ" इस सूत्र में किया और टीकाकारों ने उसका अर्थ सुहितार्थाः तृप्त्यर्थाः कहा है। सुहित शब्द से ष्यञ् करने पर निष्पन्न सौहित्य पद का अर्थ अमरसिंह ने कोष में "सौहित्यं तर्पणं तृप्तिः" है। चरक ने भी "भोजने चार्थ सौहित्यम्" स्मृतिकारों ने भी "नातिसौहित्यमाचरेत्" कहकर तृप्ति अर्थ का निर्देश किया है।

इस सुह समानार्थक सह धातु से (सह्यति आनन्द मनुभवति) आनन्द का अनुभव कर्ता है। इस अर्थ में क्त प्रत्यय से सहित बना, जिसका अर्थ है तृप्त सुखी। इससे ष्यञ् करने पर बने साहित्य शब्द का अर्थ है सुख आनन्द। क्योंकि तृप्त या सुखी का धर्म तृप्ति या सुख होता है। अतः सहित सुखी का धर्म साहित्य भी सुख है। सुख और रस पर्याय है।

इस साहित्य याने आनन्द को व्यक्त करने वाले काव्य नाटकों की भी साहित्य शब्द से लक्षणा के द्वारा प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध से कहा जाता है। साहित्य पद का वाच्यार्थ, काव्य कभी संभव नहीं है।

जो कारण अवश्य ही विना सन्देह के कार्य को पैदा करता है, वहां कारण को भी कार्य शब्द से कह देते हैं—जैसे घी खाने से आयु बढ़ती है न घी ही आयु है घी आयु का कारण है आयु कार्य है तथापि "आयुर्घृतम्" घी आयु है। ऐसे कितने ही प्रयोग बराबर होते हैं—जैसे –

आयुर्घृतं, नदी पुण्यं, भयं चौरः, सुखं प्रिया।
द्यूतं वैरं, गुरुर्ज्ञानं, श्रेयो ब्राह्मणपूजनम्॥

"काव्यप्रकाशादि लक्षण ग्रन्थों में साहित्यपद का प्रयोग"

इस पर विचार होता है कि यथापि लक्षणा के द्वारा लक्ष्य काव्य नाटकादि साहित्य पद के प्रतिपाद्य होते हैं, ठीक हैं, किन्तु काव्यप्रकाश और "रसगंगाधर" तो काव्य नाटक कुछ भी नहीं है। तथापि रस गंगाधर काव्यप्रकाशादि सभी साहित्य की परिधि में आते हैं क्योंकि ये रस आदि तत्त्वों के निरूपक हैं साहित्य पद का चौदहवां अर्थ साहचर्य इस प्रसिद्धि का मूल है।

१४--अलंकारों के विकाशक आचार्य भामह ने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्", यह काव्य का स्वरूप लिखा है। इस पर प्रश्न होता है कि क्या लोक क्या शास्त्र सभी जगह अर्थ को समझाने के लिए शब्द का प्रयोग करते हैं और शब्द से अर्थ समझते हैं। मीमांसादर्शन १ अध्याय १ पाद के "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" सूत्र के अनुसार शब्द का अर्थ के साथ नियतसाहचर्य है। व्याकरण के नियम के अनुसार "शब्दार्थौ" इस पद में इतरेतर योग द्वन्द्व नाम वाला समास है। शब्दश्च अर्थश्च इति शब्दार्थौ ऐसा उसका स्वरूप है। यह द्वन्द्व समास तभी होता है, जब पदार्थों में सहभाव कहना हो। आचार्यों का कहना है कि सहभावविवक्षायां वृत्तिर्द्वन्द्वैक शेपयोरिति।

उस द्वन्द्व समास में भी जहां सहभावरूप साहित्य प्रधान होता है, वह समाहार द्वन्द्व कहाता है। समाहार शब्द का अर्थ है कई वस्तुओं का एकत्र होना। जब समास के कारण भिन्न-भिन्न वस्तु एक हो जाती है, तब उसमें "धवखदिरम्" एक वचन होता है और जहां साहित्य के आश्रयीभूत पदार्थों में प्रधानता होती है, वहां एकदूसरे का परस्पर में योग होता है अतः द्वित्व वगैरह संख्या उन पदार्थों के अनुसार होती है, जैसे धवखदिरौ। यहां "धवखदिरौ" इस वाक्य से धव के सहित खदिर तथा खदिर के सहित धव यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति के अनुसार साहित्य होने पर भी दोनों के प्रधान होने

से द्विवचन ही होता है। इसी तरह. धवाश्वखदिराः इसमें बहुवचन भी होता है।

इस प्रकार समास के बदौलत भी शब्द और अर्थ में सहभाव रूप साहित्य प्राप्त है। फिर भी स्वभावतः और नियमतः साथ रहने वाले शब्द और अर्थ को सहितौ कहा है। अतः आचार्यों का कोई गंभीर अभिप्राय अवश्य है।

वह अभिप्राय क्या है। इस पर विचार-विमर्श करने से यह प्रतीत होता है कि समस्त चेतन प्राणी कीट-पतंग से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सुख आनन्द रस को प्राप्त करना चाहता है और प्राप्त सुख आनन्द रस के विरोधी, या रस को विकृत कर देने वाले, या रस की अनुभूति न होने देने वाले, या रस को दबा देने वाले दोषों का त्याग करता है और रस के अभिव्यंजक गुणों का संग्रह करता है। संग्रह करने के लिए रीति की आवश्यकता है। रीति या शैली जानने के बाद उनके जानने वाले में बढ़ने की वृत्ति पैदा होती है। वृत्ति होने के बाद प्राणी की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति में भी औचित्य का जातिक्रमण न होने पावे यह भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। अतः औचित्य का ज्ञान करना चाहिए। मेरी रीति या प्रवृत्ति, शैली आकर्षक होनी चाहिए। यह भावना होने पर सभी बातों में सौन्दर्य लाने का प्रत्यत्न करता है। सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए अलंकारों की गवेषणा की। इसके बाद "नायकात्मा बलहीनेन लभ्यः" यह आत्मा सुख आनन्द को बलहीन अर्थात् शक्तिहीन नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः शक्ति का संग्रह करना अतीव आवश्यक होता है।

सारांशः क्या लोकव्यवहार क्या शास्त्र सभी अवस्था में और देश, काल, पात्र में इस उपर्युक्त समुदाय का होना या मिलाना अपेक्षित है।

इन नो पदार्थों की समष्टि के सहित शब्द और अर्थ को काव्य माना गया है। अतएव काव्यप्रकाशादि लक्षण ग्रंथों में इन नो बातों का निरूपण किया है। उपर्युक्त पदार्थों की परस्पर की अपेक्षा को ध्यान में रखकर ही काव्य विषयक अनुशासन करने वाले शास्त्र में साहित्य पद की प्रसिद्धि हुई। उसी के तत्त्व "रस आदि नो पदार्थ हैं।" अतः "आम्रान् पृष्टः को विदारानाचष्टे" की नौबत नहीं आई है।

द्वितीय शंका का समाधान

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" यहाँ गुण शब्द उपलक्षण है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कार्य में जो भी गुण,

क्रिया, साधारणता, विशेपता, कमजोरियाँ या अच्छाइयाँ होंगी या हैं वे सब या कुछ-कुछ प्रायः कारण के गुण, क्रिया साधारणता, विशेषता, कमजोरियाँ, अच्छाइयों के अनुसार ही अनुकूल ही होंगी या हैं।

भगवती श्रुति कहती है कि "आनन्दाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्य भिविशन्ति" इति। ये समस्त भूत प्राणी आनन्द से पैदा हुए हैं, आनन्द से जीते हैं, और आनन्द में ही प्रयाण करते हैं एवं आनन्द में अभिनिवेश अर्थात् लीन हो जाते हैं।

फलतः सुख से आनन्द से पैदा होने वाला यह प्राणी जो भी क्रियायें करेगा अथवा गुण, साधारणता, एवं विशेषताओं का अर्जन करेगा या जो भी उससे त्रुटियाँ होंगी अथवा जिस किसी से भी वह अपना सम्बन्ध स्थापित करेगा, वह सब सुख को प्राप्त करने और सुख विरोधी दुःख को हटाने के लिए ही करेगा।

किस गुण या क्रिया वगैरह से सुख प्राप्त होगा और सुख विरोधी दुःख हटाया जायगा। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऋषियों ने मुनियों ने आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अधिकारी के लिए भिन्न-भिन्न शास्त्रों का निर्माण किया। इस तरह सभी शास्त्रों का साक्षात् परम्परया आनन्दस्वरूप आत्मा रस का ही दर्शन याने ज्ञान कराना ही उद्देश्य है। क्योंकि "रसो वै सः।"; रसं हि एवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाशे आनन्दो न स्यात्। वह आत्मा ही रस है। रस को प्राप्त करके आनन्दी होते हैं अगर यह परमाकाश में आनन्द रस नहीं होता तो कौन अपान वायु का उत्सर्ग करता और कौन जीता। अतः आत्मा का दर्शन कराने के कारण ही इन शास्त्रों का दर्शन नाम प्रसिद्ध हुआ। इस दर्शन नाम में दर्शन क्रिया का कर्म आत्मा अन्तर्निहित है। वस्तुतः इनका नाम आत्मदर्शनशास्त्र होना चाहिए था।

दर्शन छ क्यों ?

ये दर्शन शास्त्र छ हैं। क्योंकि दर्शन के बाह्य साधन छ ही होते हैं। लोक में भी किसी वस्तु को सामने से, या पीछे की ओर घूम कर, या अगल एवं बगल से तथा ऊपर एवं नीचे की ओर से देख, सुन, स्पर्शादि कर सकते

हैं, किन्तु अन्त: साधन ७ वां एक और भी है। उसी के द्वारा ईश्वर ने अपने आपको दर्शन कराने के लिए स्वयं ७ वां दर्शन बनाया।

सातवाँ दर्शन क्यों ?

इन शास्त्रों में न्याय और वैशेषिक दर्शन प्रमाणों के निरूपण करने में इतने उलझ गये कि इन को पढ़ने पाले व्यक्ति के लिए आत्मदर्शन करना तो दूर रहा उधर झाँकना भी कठिन हो गया। अतएव इनको प्रमाण शास्त्र ही कहते हैं।

पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दर्शन श्रुति-वाक्यों के अर्थों की गुत्थियां सुलझाने में इतने व्यस्त हुए कि अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि नाना मत खड़े हो गये और इनको पढ़ने वाले व्यक्ति इन मत भेदों की झाड़ियों में गुमराह हो गये। फलत: आत्मा का अनुभव नहीं कर सके। अतएव इन का नाम वाक्य शास्त्र पड़ा।

सांख्य शास्त्र भी पुरुष के वहुत्व, प्रकृति के एकत्व एवं इससे सृष्टि प्रक्रिया का निरूपण करके (एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति) वस्तुत: वह परमात्मा एक ही है, किन्तु ब्राह्मण लोग उसका वहुत्व निरूपण करते हैं, इस श्रुति के अनुसार कुछ समन्वित होता हुआ भी "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि श्रुतियों को समन्वित न करने के कारण पड़ने वालों को व्यग्रता में ही डालता है।

योग शास्त्र अवश्य आत्मदर्शन के प्रामापक साधनों में है, किन्तु इसकी हठयोग प्रक्रिया तो वाहिरंग है और राजयोग प्रक्रिया आज क्या पहले भी अनायासेन उपलब्ध नहीं थी। स्वयं परमात्मा ने इस योग का उपदेश सूर्य को सूर्य ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को दिया। किन्तु वह योग महान् काल के गाल में विलुप्त होगया। उपदेशक एवं आश्रावकों के न होने से इसकी परम्परा या सम्प्रदाय कट गया। इस वात को स्वयं भगवान् ने गीता में कहा है।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
एवं परम्पाप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप: ॥ इति

सातवाँ दर्शन और उसका निर्माता

फलतः परम्परा में भी परम्परा से इन शास्त्रों को आत्मा के दर्शन कराने में सफल नहीं समझकर स्वयं परमात्मा ने रस आनन्द रूप अपने आपको समझाने के लिए त्रयीरूप काव्य का उपदेश दिया। उसके द्वारा याथातथ्य से अर्थों कों समझाया। इस बात को भगवती श्रुति बतलाती है कि "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।"

सर्वोपरि वर्त्तमान मननशील जिस परमात्मा ने शाश्वत प्रजापतियों को सृष्टि के निर्माताओं को याथातथ्यतः यथार्थरूप से अर्थो का विधान किया। वह कवि है। उस कवि की वस्तु, उस कवि का कर्म या भाव काव्य है। इसका निर्माण छन्द के अनुसार होता है। यह काव्य वेदत्रयी है। इस बात को शतपथ ब्राह्मण की श्रुति में बतलाया गया है। (त्रयी विद्या काव्यं छन्दः, इति यजुर्वेद संहिता अध्याय १५ मं० में इसका पूरा उल्लेख है। महीधर भाष्य की पंक्तियाँ हैं। "काव्यं छन्दः, कवेः परमात्मन. इदं काव्यं वेदत्रयी छन्दः, त्रयी विद्या काव्यं छन्द इति श्रुतेः, अखिल ब्रह्माण्ड में पहला कवि स्वयं परमेश्वर है। और पहला काव्य वेद त्रयी है। परमेश्वर ने स्वयं अपना नाम कवि और अपनी कृति वेद काव्य इन मानवों को दिया और अपने स्वरूप रस को समझने तथा समझाने की शक्ति दी। इस बात को श्रुति, स्मृति एवं सन्तों ने स्पष्ट कहा है –

> "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै,"
> यं कामये तं तमुग्रं करोमि तं ब्रह्माणं तं सुमेधाम्।
> यमेवैष वृणुते तनूं स्वां तेन लभ्यः। श्रुतिः।
> "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयास्यसि" गीता।
> "सो जाने जेहि देहु जनाई" सन्त तुलसी।

वैदिक जगत् में कवि एवं काव्य ये नाम और उस काव्य का परम लक्ष्य रस स्वयं परमेश्वर है, यह प्रसिद्ध होने के बाद लौकिक जगत् में भी तदनुसार कवि एवं काव्य नामों की परम्परा चली। और उस काव्य का परम लक्ष्य आत्मा रस माने जाने लगा। इस काव्य का नाम साहित्य है और रस का नाम साहित्य है। यह सब हम पहिले बतलाचुके हैं। इस साहित्य अर्थात् रस को प्राप्ति के लिए साहित्य की आलोचना में हमारी प्रवृत्ति का कारण स्पष्ट हो गया। अब किसी शंका का अवसर नहीं है।

"विषय का पूर्वांग"

हम पहले लिख आये हैं कि काव्य में रस, दोषत्याग, गुण, रीति, अलंकार, वृत्ति, प्रवृत्ति, औचित्य, एवं शक्ति इन नौ वस्तुओं का साहित्य, अर्थात् साहचर्य है। कार्य एवं कारण में, गुण एवं गुणी में, धर्म एवं धर्मी में अभेद मानने तथा काव्य एवं साहित्य में और प्रतिपाद्य एवं-प्रतिपादक में अभेद मानने के अनुसार काव्यप्रकाशादि लक्षण-ग्रन्थों एवं साहित्य में अभेद मानने लगे। और साहित्य ऐसा व्यवहार होने लगा। तथा इन अर्थों में साहित्य शब्द योग रूढ़ हो गया। अतएव साहित्य दर्पण, साहित्य कौमुदी, साहित्य चिन्तामणि आदि लक्षण ग्रन्थों के नाम प्रसिद्ध हुए और उन के जानकारों की संज्ञा साहित्याचार्य होने लगी। और कहीं इन नौओं में से किसी एक को मुख्य मानकर भी आलंकारिक एवं रसिक ये नाम भी उस काव्य के जानकारों के प्रसिद्ध हुए, इस प्रकार "साहित्य" पद के स्वरूप एवं अर्थ का निर्धारण करने के बाद समष्टि रूप साहित्य के नौ विषयों का उपरिनिर्दिष्ट क्रम के अनुसार निरूपण करने के लिए हम प्रस्तुत होते हैं।

इन उपर्युक्त नौ वस्तुओं में से किस को प्रथम कहा जाय और किस को द्वितीय या तृतीयादि कहा जाय। क्योंकि हमारे सामने इन विषयों का प्रतिपादक सर्वप्रथम ग्रन्थ भरत मुनि का नाट्यशास्त्र और उसके बाद का ग्रन्थ अग्निपुराण एवं उपपुराण विष्णु धर्मोत्तर मिलता है। इन से पहले के गार्ग्य आचार्य का नाम अवश्य निरुक्त में है, किन्तु ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है और न सुनने में आता है। बाद की परम्परा में कुछ लोगों जैसे कोहल प्रभृति का नाम सुनने में आता है, परन्तु ग्रन्थ उनके भी उपलब्ध नहीं होते हैं। बहुत समय के बाद भामह, दण्डी, वामन वगैरह के नाम एवं ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थों में भी तथाकथित नौओं की समष्टि संकलित विषय के रूप में ही मिलती है, क्रमशः नहीं मिलती। फिर इन आचार्यों ने एक रूप एवं क्रम से इन उपर्युक्त विषयों का निरूपण नहीं किया है।

सर्वप्रथम जंगल की तरह अर्ध विकसित एवं विकसित किन्तु अव्यवस्थित रूप में इतस्ततः बिखरी हुई उस साहित्यिक समृद्धि को एक शृंखला में एक क्रम में निबद्ध करके निरूपण करने का श्रेय आचार्य मम्मट को है। "वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकः तद्गतानुगतिको, न, महार्घः" एक किसी भी महापुरुष का मार्ग के निर्देश करने के लिए अग्रगामी होना आवश्यक है। उसके बाद तो उसके बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करने वालें की कमी नहीं है। इस आभाणक

के अनुसार परवर्ती सभी आचार्यों ने इसी क्रम का अपने ग्रन्थों में आश्रयण किया है।

यह क्रम क्यों रक्खा गया। इस क्रम की आधार शिला क्या है। इस प्रश्न का उत्तर नितान्त आवश्यक था। अतएव हमने आरम्भ में पहले पहल इस क्रम के स्वरूप के बारे में निर्देश किया। प्रकृतमनुसरामः।

"रस"

"सुखार्था सर्वभूतानां प्रवृत्तिः"। समस्त चेतन प्राणी, कीट पतंग से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त, सुख आनन्द रस को प्राप्त करना चाहता है। सुख को प्राप्त करने के लिए सभी भूतों की प्रवृत्ति चेष्टा होती है। सुख में प्रवृत्ति का 'प्राणी का स्वभाव है, क्योंकि प्राणी सुख से पैदा हुआ है, सुख में पला और उसी में लीन होना चाहता है अतः प्राणी का सुखमय स्वभाव होना औचित्य प्राप्त है। सुख के सिवाय सभी वस्तु के विषय में यह प्रश्न होता है कि तुम अमुक वस्तु को क्यों चाहते हो, किन्तु सुख के विषय में यह प्रश्न नहीं होता कि सुख को तुम क्यों चाहते हो। क्योंकि सुख परमलक्ष्य है। अतः रस सुख का प्रथम निरूपण करते हैं। रस और सुख दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं।

"रस की परम्परा को बतलाने के पहले इस शब्द का प्रयोग किस-किस अर्थ में हुआ है। यह विचार करते हैं।"

"रस-शब्द-के-अर्थ"

आरम्भ में रस पद का जो भी अर्थ रहा हो, किन्तु इस समय रस पद का प्रयोग इन अट्ठारह अर्थों में होता है।

> रसः स्वादे, जले, वीर्ये, शृंगारादौ, विषे, द्रवे,
> बोले, रागे, गृहे, धातौ, तिक्तादौ, पारदेऽपि च.
> प्रेम्णि, नावे, ह्यात्मनि च सुपेये, स्वरसे, सुखे, इति हैमः।

ये १८ अर्थ हैं। यही क्यों ? अब तो महाकवियों के कोई भी प्रयोग रस [illegible] योजना के विना अधूरे मालूम होते हैं। अतएव वे लोग हर पदार्थ में "रस" को जोड़ देते हैं। = जैसे

"परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्तु पुरुषः" प्रीतिरस, तथा वाचिक रस, नेपथ्यरस, स्वाभाविक रस ।

"रसास्तु त्रिविधा वाचिक नेपथ्य स्वभावजाः ।
कालानुरूपैरालापैः श्लोकैर्वाक्यैः पदैस्तथा ।।
नानालंकारसंयुक्तैर्वाचिको रस उच्यते ।
कर्म रूप वयो जातिदेशकालानुवर्त्तिभिः ।।
माल्य भूषणवस्त्राद्यैर्नेपथ्य रस उच्यते ।
रूप यौवन लावण्य स्थैर्यधैर्यादिभिर्गुणैः ।।
रसः स्वाभाविको ज्ञेयः स च नाट्ये प्रशस्यते ।

यह लेख समय मातृ का में मिलता है। ऐसा कुट्टिनीमत के व्याख्या कार ने लिखा है।

शृंगारं द्विविधं विद्याद् वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम् ।

अग्नि पुराण ३४२ अ० में शृंगार के विषय में ऐसा लेख मिलता है।

निन्दारस, निद्रारस, क्रीडारस, विमर्दरस, रणरस, सूनुरस, हिंसारस मदनरस, सुखरस, सेवारस, लावण्यरस, कहाँ तक लिखें ऐसे प्रयोग विक्रमांक देव चरित, नैषधचरित, कादम्बरी वगैरह में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। किन्तु हमारा लक्ष्य रस शब्द से आनन्द ही है, उसी के विषय में हम निरूपण करेंगे यही काव्य की आत्मा माना गया है।

– रस परम्परा –

हम लोग सभी वस्तुओं को देश एवं समय की परिधि में परिच्छिन्न देखते हैं। तदनुसार ज्ञान की सीमा के लिए पहला समय वेद का आता है। क्योंकि विश्व का किन्तु सर्व मान्य प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद है। फिर और तीन वेद हैं। इन वेदों में रसपद का प्रयोग पानी, दूध एवं सोमरस के लिए तो आता ही है। विजेता इन्द्र के युद्ध में वीर रस, पराजित दैत्यों के विलाप में करुण रस, उषा के नायिका के रूप में वर्णन में शृंगार रस की अभिव्यक्ति पदे-पदे अनुभव में आती है। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर कथानकों में एवं यज्ञ की प्रक्रिया वतलाते समय अर्थ विश्लेषणों में रूपक, उपमा एवं अतिशयोक्ति प्रभृति अलंकारों का विन्यास कर के उस विशेष अद्भुत आनन्द को उपस्थित

करने में वेद सिद्धहस्त हैं, जिसको काव्य में और नाट्य में उसकी सुन्दर कलाओं से प्रभावित जगत् अनुभव करता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में रस शब्द का प्रयोग वास्तविक एवं नित्य सत्य अर्थात् परब्रह्म के लिए किया गया है, जिस की एकवार अनुभूति होने के वाद स्थायी सुख एव मोक्ष मिल जाता है। प्राय: प्राचीन साहित्यक आलोचकों ने रस का प्रयोग इसी अर्थ में किया है, जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में समझाया गया है। उस परम सुख को उद्वोधन करने वाला काव्य है और काव्य से नाट्य की उत्पत्ति हुई हैं। अतः नाट्य भी रसोद्वोधन में पूर्ण समर्थ है। इस वात को आगे चलकर समय पर वतलाया जायगा। काव्य से नाट्य पैदा हुआ है। रति को रस मानने वाले भी इसी परिखा में आ जाते हैं।

"वेदों के वाद रामायण"

प्रथम साहित्यिक वाल्मीकि जो वैदिक काल के वाद रस सम्प्रदाय के प्रथम मनस्वी एवं संस्कृत कविता के आदि निर्माता माने जाते हैं। उनका प्रथम वाक्य जो कि कारुणिक घटना को देखने से उनके वरवदन से निकला। उनमें रस सम्प्रदाय के गर्भधारण करने के कीटाणु स्पष्ट हैं। जव उनका हृदय क्रौंची के लिए, जव कि वह अपने प्रिय साथी से हमेशा के लिए अलग कर दी गई जो उसका साथी उसके सामने मार डाला गया, शोक के गहरे आघात से विचलित हुआ तव उनके मुख से एकाएक दु:ख के शब्द श्लोक रूप में निकल पड़े। क्योंकि वाल्मीकि जी ने क्रौंच पक्षी के दु:ख का स्वयं अनुभव किया जो कि उनके शब्दों से प्रकट है।

वाल्मीकि रामायण के उस स्थल के विवरण से यह प्रकट है कि स्वयं वाल्मीकि जी ने भी अपनी कविता का कारण उस दया की अनुभूति को ही स्वीकार किया है, जिसे उन्होंने अनुभव किया जैसा इस स्थान पर हुआ। यह कहना ठीक है कि अनुभूति ही कविता में परिवर्तित हो गई। अतः कविता का सार या निष्कर्ष यही है। वह कवि के हृदय में किसी भाव विशेष की अनुभूति जो कि विषय के अनुभूत होने पर ठीक उसी प्रकार की अनुभूति सहृदय के मस्तिष्क में करा देती है—। यहां करुण रस का स्थायी भाव होने से करुणरस की प्रतीति करा देती है।

महर्षि वाल्मीकि के अनुसार कवि की उक्तियाँ आन्तरिक भावनाओं से प्रेरित होकर निकलती हैं। वही उत्तम कोटि की कविता है। ऐसी कविता जब अच्छी प्रकार से समझी जाती है, तब ठीक उसी प्रकार का भाव दूसरे के मस्तिष्क में भी पैदा कर देती है। इसी आधार पर ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आनन्द वर्द्धन ने वाल्मीकि को उस सिद्धान्त का आश्रयदाता कहा है, कालिदास ने भी यही विचार वाल्मीकि की कविता के विषय में लिखा है, जिसे हम रघुवंश में देख सकते हैं।

वेदों के उपनिषदों के काल से वाल्मीकि के काल तक और वाल्मीकि के काल से भरत के काल तक में रस, गुण, अलंकारों के उदाहरण ही हमें प्राप्त होते हैं। वेद की संहिता ब्राह्मण एवं उपनिषद् से वाल्मीकि रामायण के बीच के काल में तथा वाल्मीकि रामायण तथा भरत नाट्य शास्त्र के बीच के काल में रसादि के सिद्धान्त के बारे में कहीं कोई ग्रन्थ या कोई संकेत नहीं मिलता।

"रामायण के बाद नाट्य शास्त्र"

यद्यपि हम देखते हैं कि रस का अपनी विभिन्न शाखाओं में पूर्ण प्रकाश है। तथापि रस और भाव का नियम बद्ध प्रतिपादन जहाँ मिलता है, वह है भरत मुनि का नाट्य शास्त्र। इस पुस्तक में रस की उत्पत्ति एवं उसकी प्रकृति का निरूपण किया है तथा रसों भावों का विश्लेषण भी किया है। जो नाटक के अच्छे कलाकार द्वारा प्रदर्शित करने पर जनता पर ठीक वैसा हीं प्रभाव और अनुभूति पैदा कर देते हैं। विषय प्रवेश के पहले भरत मुनि अपने विषय का संक्षिप्त वर्णन छठे अध्याय के एक श्लोक में करते हैं।

> रसा भावा ह्यभिनया धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः।
> सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः॥

भरत जी के अनुसार ११ नियमों के मिलने से नाट्य शास्त्र का फल सिद्ध होता है। जिस में प्रधान रस है। भाव से लेकर रंग तक के पदार्थ उस प्रधान रस की उत्पत्ति के हेतु हैं। इसका वर्णन भरत जी ने छठे ७ वें अध्यायों में भाव आदि अन्य विषयों के वर्णन के पहले रस के विश्लेषण के स्थल पर किया है। रसों की उत्पत्ति एवं उसके प्रकारों का निरूपण उन्होंने प्रसिद्ध रस सूत्र से किया है।

रस के आश्रय दशरूपकों को जब चतुर कलाकार गायन के साथ प्रदर्शित करता है तथा चतुर अभिनेता जब अपनी कलापूर्ण विशेपता के द्वारा दर्शकों की ऐसी स्थिति या अवस्था कर दे कि दर्शकों को समय, स्थान एवं अपना तथा परायेपन का कुछ भी परिज्ञान न रहे और एक विशेष आनन्द का अनुभव करने लगे वही रस है।

भरत ने दश रूपकों का पूर्णरूप से निरूपण किया है, जिनका कार्य प्रयोजनीय विभावादिकों को उपस्थित कर रस को पुष्ट करना है। उनके मत में रस ६ प्रकार का हैं।

"पुराण तथा उपपुराणों में रस का स्वरूप"

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के वाद पुराण एवं उपपुराणों का काल आता है। पुराणों में अग्निपुराण में रस का निरूपण किया है, किन्तु आरम्भिकी अवस्था में इस के निरूपण में कुछ विलक्षणता उस से पहले नाट्यशास्त्र में नहीं है और न उसके वादके आचार्यों के ग्रंथों में मिलती है। महाराज भोज के ग्रन्थ में थोड़ा संकेत है।

"अग्निपुराण की रस के विषय में विलक्षणता"

वह पर ब्रह्म अक्षर, अज, सनातन एवं विभु है। वेदान्त शास्त्र उत्तर मीमांसा में ऋषि उसको एक चैतन्य ज्योति, ईश्वर कहते हैं। उसका आनन्द स्वरूप सहज है। वह आनन्द कभी व्यक्त होता है। उसकी उस व्यक्ति का नाम है (आनन्दमयी संवित है) चेतन अर्थात् सहृदय को चमत्कार में विभोर करने वाला रस। उसका पहला विकार अहंकार है और उससे अभिमान पैदा हुआ। अभिमान से रति पैदा हुई। वह रति व्यभिचारी वगैरह से पुष्ट हुई शृंगार कहलाती है।

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसाह्वया।

यहां पर चैतन को चेतन्य कहा गया है। स्वार्थ ष्यञ् प्रत्यय हुआ। चेतन तो निधर्म है उसमें कोई धर्म नहीं रहता है। चेतन को चमत्कार याने अनु-

भूति जिससे हो वह रस। ऐसा इस वाक्य का अर्थ होता है। इसीलिए लिखा "आनन्दमयी संवित्।

> आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
> ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥
> अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
> व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते॥

इस तरह पहले ब्रह्म, उससे अहंकार, उससे अभिमान, उससे रति उत्पन्न होती है। वह रति व्यभिचारी वगैरह के सम्बन्ध से पुष्ट होकर शृंगार कहलाती है।

उपपुराणों में विष्णुधर्मोत्तर में रसों की ९ नव संख्या मात्र का निर्देश किया है। लक्षण वगैरह कुछ भी नहीं दिया है। इतना जरूर लिखा है कि शान्तरस स्वतन्त्र है। उसके बाद शृंगार रौद्र वीर एवं वीभत्स ये चार रस हैं। इन चारों से क्रमशः हास्य करुण अद्भुत तथा भयानक रस पैदा होते हैं। और शान्त सर्वत्र समान रूप से रहता है।

शान्तो रसः स्वतन्त्रोऽथ पृथगेव व्यवस्थितः। यह अंश अग्नि पुराण में नहीं है। बाकी अंश नाट्यशास्त्र एवं अग्निपुराण के समान है।

अग्निपुराण में रसों के वर्ण और देवताओं का निर्देश नहीं है, किन्तु विष्णुधर्मोत्तर में नाट्य शास्त्र की तरह उनका निर्देश है।

"नव चित्ररसाः स्मृताः" शृंगारादि नौ रस चित्रों में लिखकर भी प्रदर्शनीय हैं। परन्तु इन में नियम है।

> शृंगार हास्य शान्ताख्या लेखनीया गृहेषु ते।
> परं शेषा न कर्त्तव्याः कदाचिदपि कस्यचित्॥
> युद्ध श्मशान करुण मृतदुःखार्त कुत्सितान्।
> अमंगल्यांश्च न लिखेत्कदाचिदपि वेश्मसु॥

शृंगार हास्य एवं शान्त रसों के चित्र घरों पर लिखे जा सकते हैं किन्तु अवशिष्ट रसों के चित्र कभी किसी के घरों पर नहीं लिखने चाहिए।

युद्ध, श्मशान, करुण रस, मृत, दुःखार्त्त के तथा गन्दे (चित्रों को) एवं अमंगल विषयों को कभी भी घरों पर नहीं लिखना चाहिए।

२

देववेश्मनि कर्त्तव्या रसाः सर्वे नृपालये ।
राजवेश्मनि नो_कार्या राज्ञां वासगृहेषु ते ।

देव मन्दिरों में तथा शासकों के स्थानों कचहरी में सब रसों के चित्र प्रदर्शित कर सकते हैं । किन्तु राजाओं के जहाँ वे वसते हों स्थानों में सब रसों को नहीं लिखना चाहिए।

यह विषय पूर्व ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें नवीन है । इस तरह सामाजिकों को रस की प्रतीति कराने के साधारणतया साधन आठ है ।

रस की प्रतीति विभाव अनुभाव एवं संचारी भावों के द्वारा ही होती है । उन विभावादि का निरूपण शब्द प्रतिपाद्य अर्थ रूप अभिनय से नाट्यों में, सार्थक शब्द रूप राग रागिनियों से गीत काव्यों में, शब्द सहकृत वर्ण्यमान अर्थों से गद्य, पद्य, उभयात्मक काव्यों में, या फ़िर शब्द शून्य केवल विलक्षण रेखाओं से चित्रों एवं उत्कीर्णन, टंकण, धातु को गला कर साँचे में ढालकर या गिली मिट्टी में ठप्पा मारने से बनी हुई मूर्तियों में किया जाता है । जिनमें प्रथम तीन काव्य की परिधि में आ जाते हैं । अन्य प्रकार काव्य की सीमा में नहीं आते है ।

प्रथम में शब्द से प्रतिपाद्य अर्थ अभिनय के योग्य है । अतः ये दृश्य काव्य कहलाते है । द्वितीय में अर्थ का कोई खास उपयोग नही है, किन्तु निरर्थकता को दूर करना मात्र ध्येय है । अतः वे सार्थक शब्द गीतगोविन्दादि गीत काव्य कहलाते हैं । तीसरे में वह शब्द रहने पर ही वह अर्थ प्राप्त होगा अन्यथा नहीं । अतः शब्द सहकारी रूप में अवश्य ही अपेक्षित है । और अर्थ वहाँ वर्ण्यमान रहता है। फ़लतः ये शब्दार्थोभय प्रधान महाकाव्य कहलाते हैं । अन्यों में भित्ति पर या कागज पर या अन्य किसी आधार लकड़ी, पाषाण, लोहादि धातु एवं मिट्टी पर विलक्षण रेखाओं के द्वारा विविध भावों का चित्रण जैसे चिन्तादि में मग्न, या आनन्दादि में विभोर व्यक्ति का आकर्षक चित्र एवं मूर्तियाँ तैयार की जाती हैं । अतः वे काव्य के क्षेत्र के अन्तर्भुक्त नहीं हो सकते हैं । परन्तु विभाव अनुभाव एवं संचारी का चित्रण होने से रस की प्रतीति निर्बाध रूप से उनमें होती है ।

"रस के अनुगामी एवं प्रतिगामी आचार्य एवं उनके मत"

रसके स्वरूप का निरूपण करने के पहले कौन रसका विरोधी है और उसका क्या मत है तथा कौन रसका अनुयायी है और उसका क्या मत है यह बतलाना जरूरी है । तदनुसार हम बतलाते हैं ।

भामह

भरत मुनि के सिद्धान्तों को बाद के आलोचकों ने नाटकों के सिवाय अन्य स्थलों को रस के लिये आधार नहीं माना। इस विरोध तथा उदासीनता का प्रधान कारण बाद के लोगों की नाट्य सूत्रों की तरफ अधिक रुचि होना ही था। इसके अनुयायी कोहल, मातृगुप्त, हर्ष एवं अन्य लोग भी थे।

उनके लेख अब धीरे-धीरे उपलब्ध हो रहे हैं। भरत के बाद का सबसे पहला लेखक जिसका साहित्यिक क्षेत्र में स्थान है वह है भामह। यथापि उसने आदिम अन्य लेखकों का उल्लेख किया है जो उसी के मत के आधार थे, तथापि वर्तमान काल में उनका साहित्य उपलब्ध नहीं हैं। भामह रस सम्प्रदाय के सिद्धान्त से असहमत ही नहीं, परन्तु खुल्लम-खुल्ला विरोधी था। वह रसके विपक्षी सम्प्रदाय का लेखक था, उसके अनुसार अलंकार ही उत्तम कविता के लिये प्रधान एवं आवश्यकीय वस्तु है। उसने दृश्य एवं श्रव्य को छोड़कर पाठ्व काव्य में रस को गौण स्थान दिया है, ताकि वे सब केवल रसवत् प्रेय तथा ऊर्जस्वी नाम वाले अलंकार समझे जावें।

दंडी

दूसरा प्रधान समालोचक जो भामह के बाद हुआ वह दंडी है। उसका प्रधान वक्तव्य यह था कि दश गुण ही मिलकर रीति प्रणाली को बनाते हैं। वह भामह के तरह अलंकारों को कविता का प्रधान विपय मानता था। रस भाव के तरफ इसकी भी वैसी ही प्रवृत्ति थी जैसी कि भामह की। इसने भी रसों का भेद अलंकारों के अन्तर्गत ही किया है। परन्तु इसने कविता में रसों की स्थिति को स्वीकार किया है, और आगे रसों का वर्णन बहुत ही अच्छे प्रकार से अच्छे छन्दों में किया है। यथापि उसने गुणों पर बहुत विशेष प्रकाश डाला है और उनको कविता का सार अथवा प्राण कहा है। तथापि उसने कविता में रसों की आवश्यकता को भी क्या स्थान नहीं दिया है। उसने इनको भी उतना ही आवश्यक माना है, जितना गुणों को। इसलिए दंडी का भाव रसों के पक्ष में उतना विरोध पूर्ण नहीं जितना की भामह का है।

वामन

वामन, दंडी के बाद का दूसरा कवि है, जिसने रीति को अथवा शैली को कविता का प्राण माना है। उसके अनुसार ये शैलियाँ तीन प्रकार की है।

वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली । इन तीनों में से वैदर्भी को दसों गुणों सहित कविता का सबसे उत्तम साधन माना है । दंडी के अनुसार अलंकार केवल कविता के सौन्दर्य को चमका देता है। वामन ने दंडी और भामह का अनुशीलन किया है किन्तु कुछ भेदों के साथ इसने अपने पूर्वाधिकारियों से भिन्न तीसरी शैली पांचाली को स्वीकार किया है। इसने गुणों एवं अलंकारों की एक खास सीमा बाँध दी है । यह ही सबसे प्रथम आलोचक हुआ है जिसने कि कविता के सार का प्रसार प्रत्येक प्रकार की कविता के लिये आवश्यक--जिसकी तुलना उससे जाती है, जिसमें वह निहित रहती है--माना है । रस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में इसकी भी धारणा अपने पूर्ववर्ती आलोचक के समान रही है। परन्तु दंडी एवं भामह के विपरीत उसका मत था कि रस गुणों को एक विशेष आवश्यकीय रूप दे देता है जो कि कान्ति कहलाता है । यथापि इसने रस को कोई महत्व पूर्ण स्थान नहीं दिया है तथापि उसने नाटकों को काव्य का सबसे श्रेष्ठ अंग माना है । वामन की इस धारणा से यह पुष्ट होता है कि उसने कला पूर्ण निबन्धों के लिये रस की महिमा को स्वीकार किया परन्तु रसों का पूर्ण प्रकाश नाटकों में ही हो सकता है ।

उद्भट

रस सम्प्रदाय ने उद्भट के समय में फिर जोर पकड़ा । यथापि उद्भट के समय में भी यह कविता की आत्मा नहीं समझा जाता था। यह उद्भट के कथन से स्पष्ट है । यह दूसरा प्रसिद्ध लेखक जो साहित्यिक आलोचना क्षेत्र में हुआ वह रस सम्प्रदाय का उतना ही प्रतिनिधित्व करना है, जितना कि भामह के अलंकार सम्प्रदाय का । संगीत रत्नाकर की सूची के अनुसार तथा इस विषय में उद्भट के अन्तिम ग्रन्थों के अनुसार यह मालूम होता है कि अपने विस्तृत काव्यालंकार संग्रह ग्रन्थ के अलावा उसने नाट्य शास्त्र पर एक स्वतंत्र टीका भी की थी। इन निबन्धों में अलंकारों का निरूपण भामह की पद्धति के मतानुसार किया है और रसों को वही स्थान दिया है, जो भामह और दंडी ने दिया । परन्तु इनका वर्णन उसने विस्तृत रूप से किया एवं रसों को अनुभव करने के लिए भाव का बहुत ही स्पष्ट चित्रण किया है । उसने भामह के द्वारा घोषित तीन अलंकारों, प्रेयः रसवत ऊर्जस्वी के अलावा एक चौथा अलंकार और जोड़ दिया और उसे समाहित के नाम से सम्बोधित किया । यह रस सम्प्रदाय के इतिहास में पहला लेखक है, जिसने बतलाया कि शान्तरस का नाटकों में भी में अनुभव किया जा सकता है । अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि

उद्‌भट के समय में अलंकार एवं रीति सम्प्रदायो के सर्व मान्य होने पर भी रस सम्प्रदाय ने काफी प्रसिद्धि पा ली थी।

रुद्रट

भामह और उद्‌भट के वीच के काल में वाल्मीकि एवं भरत का परिचालित रस सिद्धांत का उपयोग केवल नाटकों में ही किया जाता रहा है, परन्तु नाटकों के अलावा अन्य पत्र्य काव्य में केवल अलंकारों अथवा गुणों के अन्तर में ही इसका प्रयोग होता था। जव इन तीनों सम्प्रदायों, अलंकार, गुण, रीति आदि का पूर्ण विकाश हो गया तव रुद्रट एवं रुद्रभट्ट ने एक नया परिवर्तन किया। उसने कहा कि रसों का विकाश नाटकों के अलावा अन्य साहित्य में भी हो सकता है तथा अलंकार एवं गुण उसकी सुन्दरता को और वढ़ा सकते हैं। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में स्पष्ट कहा है कि रस से रहित कोई भी काव्य शास्त्र के सामन है। अतएव कवियों को रस निरूपण में वहुत सतर्क रहना चाहिये। वह व्यमिचारी एवं सात्विक भावों के निरूपण में इतना आगे वढ़ गया कि उसने उसको भी रस का एक, खास अंग मान लिया। वह रसों को अलंकारों के अन्तरगत मानने के विपक्ष में था। और उसने कहा कि रस निरूपण का प्रधान स्थान काव्य है।

रुद्रभट्ट

रुद्रभट्ट भी रुद्रट के समान ही विचार रखता था। इसने शृंगार तिलक में कहा है कि (इसने इस काव्य का निर्माण अपने पूर्ववर्ती लोगों के मत का खण्डन करने एवं) रस का निरूपण नाटकों के अलावा काव्यों में किया जा सकता है इसे सावित करने के लिए ही किया है। इसने नवों रसों का वर्णन अपने-अपने सभी विभावादि के सहयोग की परिभापा के साथ सुन्दर पद्यों में किया है। इसका रस निरूण उद्‌भट एवं वामन के समकक्ष में विशेप विस्तृत है। अतः इस अनुमान को पुष्ट करता है कि कालान्तर में उन सभी समानान्तर सम्प्रदायों से जो कि उस समय के पूर्व साहित्यक क्षेत्र में प्रचलित थे, रस सम्प्रदाय विशेप लोक प्रियता को प्राप्त कर चुका था।

ध्वनिकार

उस काल के अन्त में--जिसमें कविता का रूप अलंकार, गुण, रीति आदि तीन प्रधान सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित किया जाता था एवं रस का भी पर्याप्त स्थान था—एक वहुत ही विवादास्पद सम्प्रदाय का आविर्भाव

हुआ जिसे—ध्वनि कविता का मुख्य सिद्धांत है अर्थात् ध्वनि काव्य का आत्मा है--कहते हैं। इसके अनुसार रस, अलंकारादि के बीच एक विशिष्ट स्थान रखता है और कविता का सार है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। जिसके अनुसार अलंकार आदि सब रस की सुन्दरता बढ़ाते हैं। इसलिए कवि को अलंकार गुण, रीति आदि इसप्रकार से चुनने चाहिये जो रस के विकास में सहायक होवें। इस ध्वनि की व्याख्या करने वाला प्रसिद्ध पण्डित जो इस काल में हुआ वह कश्मीर का आनन्द वर्द्धन है। यथापि उसने स्वयं स्वीकार किया है कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रादुर्भाव उसके कई शताब्दियों पहले से था।

इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त वैयाकरणों के स्फोट वाद से लिया गया है, जिनका मत है कि स्फोट ही शब्द का स्थायी स्वरूप है, जिससे उसका अर्थ निकलता है। (स्फुटत्यर्थो यस्मात्) प्रतीत पदार्थ को लोके ध्वनिः शब्दः यह भाष्य इसमें प्रमाण है। शब्द का व्यञ्जनात्मक व्यापार जो कि अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न है। यह सम्प्रदाय ध्वनि के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अनुसार जो शब्द एवं उनके अर्थ अपने व्यंजनात्मक व्यापार से कई प्रकार के भिन्न-भिन्न भावों का प्रकाश करते हैं, वे ध्वनि कहलाते हैं। तथा वे निबन्ध जिनके शब्दों का अर्थ व्यंग्यात्मक निकलता हैं। ध्वनि कहलाते हैं। साहित्यिक क्षेत्र के इस सिद्धान्त के अनुसार व्यंजक शब्द एवं अर्थ और व्यंग्य अर्थ तथा व्यंजना शक्ति को ध्वनि कहते हैं। आनन्दवर्धन का ध्वनि सिद्धान्त, भरत मुनि के नाटयशास्त्र में वर्णित मूल रस सिद्धान्त से दो स्थानों पर भिन्न है। पहले के अनुसार ध्वनि, शब्दों या अर्थों से व्यंजित होने पर ही आस्वादनीय होता है और दूसरे के अनुसार, विभाव, अनुभाव आदि चाहे शब्दों से अर्थ रूप में वर्णित हो अथवा शब्दों से व्यंजित हो दोनों ही हालत में जनता के मन में आनन्द का उद्‌बोधन करेंगे।

विशेष कर आनन्द के अनुसार कविता का कार्य रसों, अलंकारों और कथानक या वस्तुओं को व्यंजित करना है जो कि कविता एवं नाटकों में होता ही है। परन्तु भरत के अनुसार उत्तम कविता वही हैं, जो कि विभाव अनुभाव आदि के प्रदर्शन से जनता में असीम आनन्द उत्पन्न कर दे। इन भिन्नताओं के साथ आनन्द ने रस ध्वनि को कविता का जीवन कहके प्रतिपादन किया है। और इसके जरिये ध्वनि सिद्धान्त को साबित किया है। ध्वनि कार के हाथ से शान्तरस का पर्याप्त विकास ही हुआ है जिससे यह दिखलाया है

कि शान्तरस ही प्रधान रस है, जो कि रामायण एवं महाभारत में प्रकाशित किया गया है।

ध्वनी ध्वंस संप्रदाय

यह ध्वनि सम्प्रदाय यथापि ध्वनिकार द्वारा अच्छी तरह से स्थापित किया जा चुका था, और आनन्द के बाद के समालोचकों की विशेष रुचि का विषय हो गया था। तथापि जिन्होंने इसका खण्डन अपनी प्रतिभा के बल पर बड़ी विद्वत्ता के साथ किया है उनके नाम हैं प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, धनञ्जय एवं धनिक।

प्रतिहारेन्दुराज

प्रतिहार, भामह एवं उद्भट के अलंकार मत का प्रसिद्ध पोषक था। यह ध्वनिकार का खण्डन करते हुए कहता है कि तीन प्रकार की ध्वनि को अलंकारों के अन्तर्गत ही माना जा सकता है, जैसे पर्यायोक्त, श्लेप, रसवत् आदि में। एवमेतद् व्यंजकत्वं पर्यायोक्तादिष्वन्तर्भाक्तिम्। उदाहरण के लिये वे ही पंक्तियाँ उद्धृत करता है जो कि आनन्द ने की है तथा ध्वनि कविता की आत्मा है इस मत का खण्डन करता है। तथापि वह स्वीकार करता है कि रस कविता का प्राण है परन्तु वह रसवत् अलंकार है। इस तरह भामह के मत का समर्थन करता है।

भट्टनायक

ध्वनि मत का दूसरा विरोधी भट्टनायक है। यह नाट्यशास्त्र के रस मत का समर्थक था। भरत के रससूत्र के अनुसार ही उसने रस की अनुभूति को समझाया है, किन्तु नवीनता से। इसके इस नये मत का आधार भावकत्व और भोज कत्व के रूप में भरत के सूत्रका अर्थ है। इसने अनुभव किया कि शब्द तीन व्यापारों से सम्पन्न रहते हैं। जैसे अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व। जब कि अन्य शास्त्रों एवं वेदों के शब्द सिर्फ एक ही अभिधा व्यापार से अर्थ का बोधन करते हैं। काव्य इन तीन व्यापारों द्वारा सहृदयों के हृदय में आनन्द का अनुभव कराता है। उसके अनुसार श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिए केवल रस की ही कवियों को आवश्यकता रहती है और इसके लिये कविता में विभाव आदि को स्थान देते हैं। इसलिये केवल रस ही कविता की आत्मा है।

धनञ्जय एवं धनिक

दशरूपक और अवलोक के लेखक धनंजय और धनिक भी रस मत के समर्थक हैं किन्तु ध्वनि मत के विरोधी है। धनिक तो ध्वनि की सत्ता मानने को विलकुल तैयार नहीं हैं, इसके अनुसार तात्पर्य शक्ति ही ध्वनि को व्यक्त कर देती है। इस सम्वन्ध में वह भट्टनायक का समर्थन करता है और तात्पर्य को ध्वनि का स्थान देता है। ध्वनि-वादियों ने भट्टनायक की कड़ी आलोचनाएं की है कि उसके भावकत्व और भोग, ध्वनन और व्यंजकत्व से से भिन्न नहीं है और जब तक कि ध्वनि व्यापार स्वीकृत न किया जबतक काव्य में भावकत्व सम्भव नहीं। इसका उत्तर धनिक तात्पर्य को ध्वनि का स्थान देकर देते हैं। तात्पर्य को श्रोतागण न केवल वक्ता का मन्तव्य समझते हैं, परन्तु उसका अनुसरण भी करते हैं। उसी तरह से कवि का तात्पर्य श्रोताओं और दर्शकों को न केवल कविता में विभाव आदि का बोध कराता है, बल्कि उसके अनुसार आचरण करने को प्रेरित करता है। यह आचरणात्मक बुद्धि और कुछ नहीं यह अत्यधिक आनन्दानुभूति का लक्षण है। इस तरह से कविता तात्पर्य शक्ति के द्वारा रस का भोग करानेवाली वन जाती है और इसलिए ध्वनि या व्यंजनावृत्ति आदि कविता के प्रधान व्यापार की कोई आवश्यकता नहीं रहती। धनिक के अनुसार काव्य और रस का सम्वन्ध "भाव्यभावकभाव" है न कि "व्यंग्यव्यंजकभाव" जैसा कि ध्वनि मतानुयायियों ने कहा है। धनिक के अनुसार इसतरह का सम्वन्ध "जन्यजनक भाव" से भिन्न है जैसा कि नैयायिकों ने कहा है। क्योंकि रस, दर्शक के हृदय में स्थायी रूप से रहता है, और सांख्य के "सत्कार्यवाद" के अनुसार कविता अपना प्रकाश रस के जरिये कराती है। इस तरह के "रसभावना" के मत का समर्थन भरत ने कारिका में भाव शब्द का अर्थ करते हुए किया है।

> भावाभिनयसंवद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
> यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥

यद्यपि ध्वनिकार ने शान्त रस को स्वीकार किया है परन्तु धनंजय पठ्य काव्य में भी शान्त रस के स्थान को स्वीकार नहीं करता है।

अभिनवगुप्त

उस समय जब कि ध्वनिवाद की सब निन्दा करते थे और रसवाद की लोग इज्जत करते थे। उसी समय अभिनव गुप्त का प्रादुर्भाव हुआ जो कि

ध्वनि मत का पक्का अनुयायी और रस मत का समर्थक था। आनन्द वर्धन द्वारा संस्थापित ध्वनि मत जिसकी जड़ करीब-करीब हिल चुकी थी। उसको अभिनवगुप्त ने ऐसा जमाया कि उसके बाद के आलंकारिकों ने उसकी बहुत इज्जत की। उसने ध्वनि विराधियों की कड़ी आलोचना की और खासकर भट्टनायक और उसके रसानुभूति के तरीकों की अपने लोचन और अभिनव भारती में बड़ी आलोचना की और उनको व्यर्थ साबित किया। उसके अनुसार रस ध्वनि कविता के प्राण हैं एवं और अन्य कविता के अलंकार हैं।

अभिनव भारती में हमें इस मत के सम सामयिक लेखकों के उदाहरण मिलते हैं और गायन कला, नाट्य कला एवं नाटक के सभी विषयों पर अच्छा प्रकाश मिलता है। "भट्टलोल्लट" "श्रीशंकुक" और "भट्ट नायक" के रसानुभूति के सम्बन्ध में तीन प्रधान विचरों पर, जो भरत के रससूत्र के आधार पर है, अच्छा प्रकाश डाला है। रसानुभूति के मनोविज्ञान के ऊपर उसने भट्ट नायक के सिद्धान्तों को सुधार करके एक नया मत चलाया जिसको बाद के सब आलंकारिकों ने स्वीकार किया। इसने अपने विषय के ऊपर अद्भुत अधिकार एवं प्रतिभा के द्वारा यह स्थिर कर दिखाया कि ध्वनि कविता की आत्मा हैं और कविता के अन्य तत्वोंसे उनका सम्बन्ध पूर्ण है। ध्वनि मत के समर्थकों ने भरत द्वारा परिचालित रस सिद्धांत में सबसे बड़ा दोष यह देखा कि उसके अनुसार कविता में "भम धम्मिम्र" आदि पद्यों के समावेश के लिए कोई स्थान नहीं। रस भगी के अनुसार सिर्फ वे ही पद्य या कविता अच्छी कविता समझी जा सकती है जो रसानुभूति को बढ़ाती है न कि वे जहां सिर्फ सुन्दर वस्तु एवं अलंकार दिखाया गया हो।

इस दोष को दूर करने के लिए इन्होंने ध्वनि मत का आदर किया जिसमें रस को भी बहुत बड़ा स्थान दिया है इसके विषय में शान्त रस को अभिनव ने सिर्फ यही नही साबित किया कि यह कविता में पुष्ट एवं स्पष्ट हो सकता है, बल्कि अन्य रसों में इसको अच्छा स्थान दिया। इस तरह से नाटयशास्त्र में एक अलग प्रकरण ही हम लोगों को मिलता है जो कि शान्त रस पर है और मूल तत्त्व के रूपमें जिसकी प्रथम टीका अभिनव ने की है।

कुन्तक

यथापि अभिनव ने ध्वनि एवं रस सिद्धान्तों को काफी पुष्ट कर दिया था, तथापि इनको दो विरोधी मतों का "वक्रोक्ति" और "अनुमान" का आक्रमण

सहना पड़ा, जिसका समर्थन क्रमशः कुन्तक और महिमभट्ट करते थे। कुन्तक का कहना था कि वक्रोक्ति, या सुन्दर भावों को व्यक्त करने का विचित्र प्रकार जो कि साधारण तरीकों से भिन्न है, कविता का सार है। यह एक कविता का विशेष आभूषण है जो कि शब्दों के विशेष समन्वय से बनता है। उसने रस और व्यंग्यार्थ को भी अलंकार के अन्तर्गत माना है। इससे यह साफ है कि वह रस और ध्वनि का शत्रु नहीं था। भामह आदि के रसवत् का उसने विरोध किया और उसको अपने ढंग से वर्णन कर कविता का सार स्वीकार किया।

महिमा

महिमा ने रसों को कविता का प्राण माना है और रस का अनुसरण किया। इसने रसानुभूति में ध्वनि की सत्ता का विरोध किया है, और उसके स्थान पर अनुमान को स्थान दिया है, जिसको "काव्यानुमिति" यह नाम दिया है। इसका प्रधान मन्तव्य "व्यंजना" का खण्डन करना था, जिसे कि ध्वनिकार ने स्वीकार किया था।

भोज

इसके बाद भोज का काल आया जो इन दो विरोधियों का समकालीन था एवं जो राजा भोज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्रृंगार प्रकाश रूप विस्तृत कार्य में रस सम्बन्ध में उसने अपना नया मत स्थिर किया, है और तत्कालीन लेखकों द्वारा समर्थित कई एक रसों को उसने स्वीकार नहीं किया। उसने बताया कि श्रृंगार ही केवल एक मात्र रस है जो कि महान् आत्मा या अहंकार है। सर्व प्रथम इसने ही कहा कि रति आदि भाव श्रृंगार से ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि आकृष्ट दर्शक जो कि श्रृंगार से सम्पन्न है केवल इन भावों को अनुभव के द्वारा भोगता है।

स्थायी भाव विशेष स्थलों पर रस में परिवर्तित हो जाते हैं। इस विचार का भोज खण्डन करता है और कहता है कि यदि स्थायी भाव अपने को रसों में परिवर्तित कर सकते हैं तो कोई बाधक नहीं हो सकता कि अन्य भाव भी अपने को रसों में परिवर्तित न कर सके, और इसलिए रसों को आठ या नौ मानना भी गलत हो जाता है। नाट्यशास्त्र में वर्णित भावों के, "स्थायी" "सात्विक" और, "व्यभिचारी" आदि तीन विभागों का एवं रससूत्र में वर्णित रस की

उत्पत्ति का भोजने खण्डन किया है। उसके अनुसार सभी भावों को भाव कहना चाहिए, विभाग एवं नामकरण हटा देना चाहिए और केवल रस ही से इन भावों की उत्पत्ति होती है। उसने भरत के इस मत का भी खण्डन किया है कि चार रसों का एक गिरोह दूसरे चार रसों के उत्पत्ति का कारण है और उसने समझाया कि किस तरह एक अहंकार रस को रूप दे सकता है और फिर वही रसों से सम्बन्धित भावों को अनुभूत करा सकता है।

क्षेमेन्द्रः-

भोज के वाद साहित्यक आलोचना का दूसरा अध्याय प्रारम्भ होता है।

इस दूसरी नयी साहित्यक आलोचना के प्रस्थान में कविता के जीवन के समान औचित्य आगे रखा गया जो कविता के तत्वों (गुण, अलंकार, रस) से वना है। यह प्रस्थान क्षेमेन्द्र के साथ प्रारम्भ हुआ जिसने एक आर्या में अपने विचार प्रदर्शित किये। वह औचित्य को सकल कविता के निर्माण में जीवन के समान सोचता है क्योंकि गुण, अलंकार, रस, समुचित प्रयोग नहीं किये गये तो वे कविता को सुन्दर नहीं वना सकते हैं। वल्कि वे अपनी स्वयं सुन्दरता नष्ट कर डालते हैं। तो भी औचित्य की आवश्यकता सर्व प्रथम आनन्द वर्द्धन के द्वारा देखी गई और रस की उन्नति के लिये औचित्य को स्वीकार करना कवि को आवश्यक किया गया था। परन्तु क्षेमेन्द्र ने उस विचार को वदल दिया और वतलाया कि रस की उपस्थिति औचित्य की सहायता करती है। और औचित्य पर जोर दिया न कि सिर्फ रस के विषय में वल्कि शब्द, वाक्य, क्रिया, विषय, लिग, संख्या जो कविता में होते हैं। जैसे प्राण सारे शरीर को सुन्दर बनाता है और जीवन के अभाव में शरीर की सुन्दरता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार केवल औचित्य की उपस्थिति कविता के दूसरे तत्वों को सुन्दर वनाती है। क्षेमेन्द्र ने शांत को मिलाकर नौ रस स्वीकार किये। और इसतरह वह ध्वनिकार का अनुगामी था।

प्रस्थान एवं उनका क्रम

साहित्य आलोचना के भिन्न-भिन्न आठ प्रस्थान है, इन आठों प्रस्थानों का क्रमशः परिचय देने के पहिले यह वतलाना भी जरूरी है कि ये प्रस्थान कोई नवीन रूप से इन आचार्यो के द्वारा आविर्भूत नहीं है, किन्तु इनके प्राचीन

रूप को प्रांजल एवं पल्लवन मात्र इन्होंने कर दिया है। दण्डी एवं वामन ने जिस को वैदर्भी गौडी एवं पाञ्चाली रीति के रूप में कहा उसी को कुन्तक ने सुकुमार, विचित्र मध्यम मार्ग नाम से लिखा है और काव्य-प्रकाशकार ने उसी को उद्भट के अनुसार उपनागरिका परुषा एवं कोमला वृत्ति के नाम से लिखा है। और भी एक बात है यह जो रीति या मार्ग या वृत्ति नाम करण है वह गुणों को ही एक शब्द से सुभीते के लिए कहना है और कुछ नहीं है।

१—रस प्रस्थान (प्राचीन से भी प्राचीन है किन्तु पल्लवन, स्वरूप निर्धारण, एवं प्रांजलन कर्ता भरत।

२—अलंकार प्रस्थान—(प्राचीन किन्तु विकाशक भामह वगैरह)।

३—रीति या मार्ग या वृत्ति प्रस्थान—(दण्डी, वामन, कुन्तक, उद्भटानुयायी मम्मट,)।

४—ध्वनि प्रस्थान—(आनन्दवर्द्धन)।

५—ध्वनि ध्वंसक प्रस्थान—अर्थात् व्यंग्य व्यंजक भाव के विरोध में भाव्यभावक-भाव का स्वीकार करने वाला प्रस्थान—(प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक एवं धनंजय)।

६—ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भावक प्रस्थान (श्रीशंकुक एवं महिमा आदि नैयायिक वर्ग)।

७—वक्रोक्ति प्रस्थान—(कुन्तक)।

८—औचित्य प्रस्थान—(आनन्दवर्द्धन (का संकेत मात्र) प्रधान क्षेमेन्द्र)।

इनमें पांच रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य काव्य के आत्मा या प्राण या जीवित कहे गये हैं और ध्वनि का ध्वंसन एवं अनुमान में अन्तर्भावन सहृदयों के भावनालोक में प्रकाशन है तथा अलंकार जो शब्द और अर्थ, लोक एवं शास्त्र में सभी जगह कहे, सुने या समझे जाते हैं अथवा व्यवहृत होते हैं उनको "काव्य" यह नाम देने का या काव्य काव्य यह कहने का आधार माना है। जैसा कि कहा है काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्"।

मम्मट का इस मत को मानते हुए भी अनलंकृती शब्दार्थौ काव्यं लिखना विचारणीय है।

आज तक की परम्परा में रस प्रस्थान का कोई भी विरोधी तो नहीं हुआ परन्तु प्राचीन काल में जो रस को प्रधानता दे रखी थी उसको न मान कर भामह वगैरह ने अलंकारों के अन्तर्गत उसको मान लिया। अलंकार भी रस की तरह अत्यन्त प्राचीन है। दूसरों ने रसको अनुमेय कहकर स्वीकार किया। उसका अभाव किसी ने नहीं कहा। किन्तु ध्वनि को तो उड़ाने की पूरी चेष्टा की। रीति प्रस्थान वक्रोक्ति प्रस्थान एवं औचित्य प्रस्थान का न कोई विरोधी हुआ न कोई अनुरोधी हुआ। अतः उसका विकास नहीं हुआ। अलंकार प्रस्थान के ऊपर ध्वनिकार एवं मम्मट ने जरूर थोड़ा सा कटाक्ष डाला।

ध्वनिकार ने अलंकारों के विन्यास को रसानुसारी करने की चेतावनी दी और विन्यास करने का मार्ग भी बतलाया। मम्मट ने अलंकार के विना भी काव्य हो सकता है कहा जब कि काव्य व्यवहार अलंकार के हीं ऊपर निर्भर है तब ऐसा कहना असंगत सा है।

इन प्रस्थानों के सिद्धान्त भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र विद्वानों द्वारा निश्चित किये गए, बाद में रस सिद्धान्त केवल धीरे-धीरे प्रसिद्ध हुआ। सर्वश्रेष्ठ आलोचक रस के बड़े वकील थे और शक्तियुक्त तर्क द्वारा उस रस सिद्धान्त की रक्षा और उसे शानदार सहयोग दिया। साहित्यिक आलोचना के विज्ञान की उन्नति के साथ २ मौलिक कल्पना समाप्त हुई और कविता सम्बन्धी भाषा की विशेषताओं का अन्वेषण करना भी हमेशा के लिये बन्द हो गया। कविता पर वाद के जो कार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश द्वारा प्रधान रूप से किये थे वह सब प्राचीन सिद्धान्तों का पद्धति रूप में संकलन था। जंगल जो था उसको सुहावने बगीचे का रूप दिया और पण्डितराज ने उसको परिष्कार करके ऐसा सजाया कि जो आज भी अपने रूप में सुस्थित है काव्य प्रकाश एक प्रसिद्ध योग्यता का कार्य है और इस कार्य ने एक आदर्श उपस्थित किया।

नवीन प्रस्थान

हमने अपने साहित्य मधुसूदन ग्रन्थ में एक नया प्रस्थान जो संख्या में नौवां होगा लिखा है। वह है उत्कर्ष। रस को आत्मा कहते हैं, परन्तु तब यह आत्मा है जब वह उत्कृष्ट है। वस्तुस्थिति तो यह है कि रस यह व्यवहार ही तब होगा जब वह औरों से उत्कृष्ट होगा अन्यथा रसवत् अलंकार

कहलायेगा। रस नहीं कहेलायेगा। यही हालत ध्वनि की भी है। अन्यथा गुणीभूत व्यंग हो जाता है।

वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्, कहने वालों का भी यही हाल है। जितने भी कहने के तरीके प्रसिद्ध हैं उनसे उत्कृष्ट तरीका ही वक्रोक्ति है और कुछ नहीं है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य', मानने वालों की भी यही दशा है। साधारणतः लोक एवं दूसरे शास्त्रों में जो रचना शैली है उससे उत्कृण्ट शैली को ही वैदर्भी गौडी एवं पांचाली रीति या वृत्ति या मार्ग कहते हैं।

रस या ध्वनि के रहते हुए यहाँ शब्दालंकार है यह कथन भी नहीं वन सकता। क्योंकि। (प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति) व्यवहार का हेतु प्रधानता ही है और वह प्रधानता रस एवं ध्वनि में ही है। रस एवं ध्वनि नाम ही वतलाता है कि वह प्रधान है। तव भी जो शब्दालंकार है अर्थालंकार है ऐसा व्यवहार होता है। उसका कोई कारण है, कहना होगा वह कारण 'उत्कर्ष'। वह शब्द या अर्थ के सौन्दर्य में ही उत्कर्ष है। अतः ऐसा व्यवहार होता है।

और भी कारण है। (आत्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवति) भगवती श्रुति कहती है कि दुनियाँ में जो कोई भी वस्तु प्रिय है वह आत्मा के लिए होने से ही प्रिय है। परन्तु योद्धा लोग उस सवसे प्रिय आत्मा का उत्सर्ग कर देते हैं। किस लिए? कहना होगा कि उत्कर्ष के लिये। विजय उत्कर्ष दोनों पर्याय हे।

औचित्य का विचार भी उत्कर्ष के ऊपर निर्भर है। अव प्रश्न होता है सव ठीक है किन्तु उत्कर्ष तो एक धर्म है रस एवं ध्वनि की तरह धर्मी नहीं है। उत्तर-गुण, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति एवं औचित्य कौन धर्मी है वे भी तो धर्म ही है। तस्मात् उत्कर्ष ही वस्तुतः प्रस्थान है सम्प्रदाय है। प्रकृतमनुसरामः।

रसों की संख्या के सम्वन्ध में विचार

शास्त्रों में भगवान् परमात्मा शिवजी का पशुपति नाम है। उसका निरूपण करते समय वतलाया गया है कि जीव नामधारी मात्र पशु है भगवान् शिव उनके पति अर्थात् पालक हैं। जीव को पशु क्यों कहा। उत्तर में कहते हैं कि (पशुः पाशाष्टवेष्टितः) जो आठ पाशों से वेष्टित अर्थात् वंधा रहता है वह पशु है। वृणा (करुणा) जुगुप्सा, भय, शोक, रति (प्रेम) द्वेष, उत्साह एवं

विस्मय ये आठ जीव के पाश हैं, इनसे आत्मा के बंधने पर जीव नाम होता है। ये जीव की वृत्तियाँ है। (जीवो ब्रह्मैव नापरः ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः) जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न जीव नहीं है। संसार में जिसका नाम जीव है वह मेरा ही अंश हैं। वह सनातन है इसके अनुसार ब्रह्म रूप जीव, आनन्द रूप हैं—जैसे चीनी ही वस्तुतः मीठी है वेशन वगैरह कतई बिलकुल मीठे नहीं हैं तथापि चीनी के सम्पर्क से वे भी मीठे हो जाते हैं। इसीतरह है आठों वृत्तियाँ भी आनन्द रूप जीव से संयुक्त होने पर आनन्द रूप हो जाती है।

अतएव कहा जाता है (व्यक्ता रतिरेव रसः) अभिव्यक्त हुई रति ही रस है। किन्तु शुद्ध रति कभी नहीं हो सकती है। नितान्त असंभव है। क्योंकि (रसो वै सः) इस श्रुति के अनुसार रस तो वह ब्रह्म है। जब ब्रह्म ही रस है आस्वादनीय है। उससे संयुक्त हो तभी वह आनन्द रूप है। तब रति कैसे रस आस्वाद्य हो सकती है। कैसे आनन्दात्मिका हो सकती है। अतः कहना चाहिए इन आठ उपाधियों से अवच्छिन्न जीव ही रस है। जीव रसिक है यह व्यवहार "राहु का सिर" जैसा भेद बुद्धि से समझना चाहिए। अथवा चीनी के ही मीठ होते हुए भी वेशन के लड्डु को भी मीठा जैसे कहते हैं। उसीतरह आनन्द रूप जीव से प्रतिबिम्बित प्रकाशित रत्यादि भी रस आस्वाद्य कहलाते हैं।

इसतरह आठ ही रस हैं। इन आठों का स्रोत उद्‌गम स्थल शान्त है। क्यों ? सुनिये।

रसों में क्रम

"शान्तं शास्वतमप्रमेयमनघम्" भगवान् परमशिव शान्त है शाश्वत नित्य है, प्रमाके बाहर हैं अनघ निष्कलंक हैं शान्ताकारं भुजयशयनम् इत्यादि सभी जगहों में प्रभु परमात्मा को ही शान्त शब्द से, कहा है उसी को रस शब्द से भी कहा है। अतः शान्त रस का अर्थ है परम शिव और अपने ग्रंथ का रसगंगाधर नाम रखने का भी पंडितराज का यही आशय है।

"ममैवांशो जीवलोके" इस गीतोक्ति के अनुसार (आठ पाशों से बंधा) जीव, शान्तरूप परमात्मा का अंश है। अतः सिद्ध हुआ कि शान्त ही सबका उद्‌गमस्थल है। भरत ने इसी भाव को मध्ये नजर रखकर लिखा है कि—

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भावेषु स शान्तः कथितो रसः ।।
भावाः विकाराः रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ।।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्त्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ।
एवं नव रसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः ।

अर्थात् जहाँ न दुःख है न सुख है, न द्वेष (दुश्मनों का अपकार करने इच्छा-) है और न मत्सर है । अर्थात् दूसरों की अच्छाई में बुराई निका की या देखने की भावना है । और जो सब भावों में समान है वह प्र शान्त रस है ।

इसी कारिका को थोड़े शब्दान्तर से साहित्य दर्पण कार ने उद किया है ।

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ।

यहाँ भी सब भावों में समान प्रमाण से रहने वाला ही लिखा है ।

रत्यादि भाव विकार है । शान्त इनका प्रकृति है । विकार प्रकृति से होते हैं और फिर उसी में लीन हो जाते हैं अर्थात् अपने-अपने कारण को करके शान्त से भाव पैदा होते हैं और कारण के विलीन होने पर स्वयं में विलीन हो जाते हैं । इस तरह नो रस नाट्याचार्यों ने देखें हैं ।

पहले-पहल शान्त एवं आनन्द से सृष्टि होती है । अतः जीव अपने का आनन्द में मिलना चाहता है । स्त्री से पुत्र से धन से सभी से प्रेम कर बतलाता है कि मूलतत्व आनन्द है । प्रेम का नाम रति है । जब दूसरा सम्मिलित होता है उसके साथ हँसता है तब वह हास होता है । जब दूस नहीं सम्मिलित होता है तब वह क्रोध करता है । क्रोध जब अधिक मात्रा होता है तब वह उसको मार देता है तब दूसरा शोक मग्न होता है । अ यह प्रतिद्वन्द्विता करने लगे तो उसको पराभूत करने की उत्साह करता है और उसको जीत लेता है ।

मैंने अपने प्रतिद्वन्द्वी को जीत लिया इसतरह उस को विस्मय होता है। विजय करने के लिए दूसरे को दवाना पड़ता है खून खच्चर भी होता है अतः खून खच्चर वगैरव वीभत्स पदार्थों को देखकर उसकी भावना वीभत्स हो जाती है। और दुर्वल पराजित व्यक्ति भयभीत हो जाता है उसको भय होता है।

इसतरह ये आठ भाव हैं और इन्हीं को लेकर आठ रस हैं। शान्त रस को लेकर नव रस हैं अथर्ववेद से इनको लेने के भाव को हम पहले बतला चुके हैं।

रस के भेद उपभेद का मूल

तैत्तिरीय उपनिषद् में रस आत्म रूप है आनन्द रूप हैं, किन्तु रस आठ हैं या नो हैं या कम हैं या अधिक हैं इस बात का निरूपण नहीं किया है, इसका मूल क्या है अथ च रसाभासादि का क्या मूल हैं, इसका विवेचन करना अत्यावश्यक है। अतः सहृदयों के मनन के लिए विवेचन किया जाता है।

भरत मुनि ने नाट्य के प्रादुर्भाव का आधार वेद बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि "रसानाथर्वणादपि" रसों को अथर्ववेद से लिया है। क्योंकि शान्तिक, पौष्टिक, मारण, मोहन एवं उच्चाटन कर्मो का निर्देश याने पद्धति का निरूपण अथर्व वेद में है। कर्म जितने भी हैं वे सब कामना के प्रतीक हैं। मनु ने लिखा है कि "यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्" यही सिद्धान्त है सांसारिक विभिन्नताओं का, वासनाओं का। क्योंकि यह काम मन ही है। भगवती श्रुति ने प्रतिपादित किया है। "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा घृतिरघृतिर्ह्रीर्धीभीरित्येतत्सर्वं मन एव" काम संकल्प विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा घृति अघृति ही धी भी इत्यादि सब मन ही है अर्थात् मन के ही धर्म हैं, मन के ही परिणाम वृत्तियां है। फलतः रति, हास, शोक प्रभृति आठ स्थायिभाव, निर्वेद, ग्लानि आदि ३३ व्यभिचारिभाव, एवं स्तम्भ स्वेद वगैरह ८ सात्विक भाव ये सब ४९ भाव मनोमूलक हैं और इन्हीं निर्वेद तथा रत्यादि आठ के पुष्ट एवं व्यक्त स्वरूप शान्त शृंगारादि रस है। पूर्व कथित कर्मो में शान्तिक कर्म शान्त रस के अभिनय, पौष्टिक कर्म शृंगार एवं हास्य रस के अभिनय, मारण कर्म करुण एवं रौद्र रस के अभिनय, मोहन कर्म वीर एवं अद्भुत रस के अभिनय, उच्चाटन कर्म वीभत्स एवं भयानक रस के अभिनय, से साम्य रखता है।

सर्व विध विपत्तियों के शमन के लिए त्यागने के लिए ही शान्तिक कर्म किया जाता है। सर्व विषयों को वन्धन स्वरूप समझकर तुच्छत्व बुद्धि या हेयत्व के ज्ञान से त्यागना ही निर्वेद है और यह निर्वेद ही शान्त रस है। विवाह एवं पुत्र जननादि मंगल के समय किये जाने वाले कर्मों का नाम पौष्टिक है। शृंगार एवं हास्य भी मंगल के समय ही अच्छे मालूम पड़ते हैं। जब प्राणों के ऊपर आ पड़ती है और कोई भी मार्ग बचने का नहीं रहता है तभी घोर संकट के समय दुःखमयी स्थिति में मारण प्रयोग किया जाता है। करुण एवं रौद्र का भी यही हाल है। नायक की बड़ी ही नाजुक हालत का अतीव दयनीय दशा का ही, दुःख बहुल भाव का ही वर्णन या अभिनय इन रसों में किया जाता है। आकर्षण करने के लिए ही या अपने वश में करने के लिए ही मोहन कर्म का अनुष्ठान किया जता है। वीरता भी युद्ध में, दान में, दया में, सबको वश में करने के लिए अर्थात् युद्धादि द्वारा सर्वातिशायी होने के लिए ही की जाती है और अद्‌भुत तो आकर्षण का सर्वाधिक साधन है। अवांछनीय तत्व को दूर भगाने के लिए उच्चाटन किया जाता है। वीभत्स एवं भयानक का स्वरूप ही अवांछनीय है दूर हटने लायक है।

इन उपरि निर्दिष्ट ४९ भावों का ही क्या संसार का मूल तत्व आनन्द है। इस की प्राप्ति के लिए कर्म किये जाते हैं। इसी के सम्बन्ध से सुख दुःख मोह स्वभावा त्रिगुणात्मिका सृष्टि भी आनन्दमयी प्रतीत होती है। महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है।

त्रैगुण्योद्‌भवमत्र लोकचरितं नानारसं वर्त्तते।

सत्व रज एवं तम तीन गुणों से पैदा होने वाला यह लोक चरित नाना रस वाला है। लोकचरित का ही तो वर्णन एवं अभिनय कवि और नट करता है। अतः कवि की श्रव्य, पठ्य एवं दृश्य रूप काव्य सृष्टि भी माधुर्य ओज प्रसाद त्रिगुणात्मिका है और उनके द्वारा रसात्मिका है।

रसों की संख्या और क्रम में कारण

१—नाट्य के प्रवर्त्तक भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र ग्रन्थ एवं जिसकी व्याख्या अभिनव भारती है जिसके लेखक साहित्य के प्रधान स्तम्भ अभिनवगुप्तपादाचार्य हैं। दोनों में स्पष्ट सिद्धान्त रूप से प्रतिपादन किया है कि मूलभूत रस शान्त है। और भिन्न भिन्न हेतुओं के आश्रयण से उस शान्त से नाना भावों का उद्‌गम होता है। जैसा कि उनका लेख है।

शान्ताद् भावाः प्रवर्त्तन्ते भिन्नहेतुसमाश्रयात् ।
भावो विकारो रत्यादिः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ॥
पुनर्निमित्तापाये तु तत्रैव परिलीयते ।

२—साहित्य दर्पणकार ने नारायणाचार्य के मत का उल्लेख किया है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥

रस में सार भूत वस्तु है चमत्कार। यह सभी जगह अनुभव में आता है। अतः जब चमत्कार ही सार है तब सभी जगह अद्भुत रस है, ऐसा मानना चाहिए। फलतः मूल में रस अद्भुत ही है। अन्य रसों में उसकी ही भावना है जिससे उनमें भी चमत्कार का अनुभव होता है।

३—भवभूति ने 'एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद् भिन्नः' करुण ही एक रस माना है अन्य रसों के लिए कहते हैं कि निमित्त के भेद से भिन्न-भिन्न रस होते हैं। इस तरह से अन्य रसों को मानते हुए मूल में करुण रस को ही माना है।

४—महाराजा भोज ने लिखा है कि हम तो श्रृंगार को ही रस कहते हैं क्योंकि रस का मुख्य हेतु रसन व्यापार आस्वादन प्रक्रिया है, वह व्यापार श्रृंगार ही में है। अतः श्रृंगार ही एक रस है। श्रृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः ऐसा कहकर भी अन्य रसों का भी प्रतिपादन किया है। फलतः अन्य रसों में रस शब्द का प्रयोग अप्रधान है।

५—भक्त आचार्यों में मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरस एवं साहित्य दर्पणकार ने वत्सल रस, रूपगोस्वामी जीवगोस्वापी प्रभृति आचार्यों ने मधुर रस तथा नवीनों ने लौल्य कार्पण्य स्नेह आदि रसों को लिखा है। इस तरह रसों की संख्या में ह्रास एवं वृद्धि ग्रन्थों में दिखाई पड़ती है। परन्तु सिद्धान्ततः वे रस की परिधि में आने की योग्यता उनमें नहीं है। वे भाव ही हैं।

यहाँ का भाव यह है कि चिद्विषयता विशिष्ट स्थायी भाव रस है या स्थाय्यवच्छिन्न चित् रस है ये दो मत हैं। यहाँ पर चित एक है, किन्तु उपाधि के नानात्व से नानात्व उसमें होता है। अतः जितनी उपाधियाँ होंगी उतने ही रस मानना औचित्य प्राप्त है। वे उपाधियां हैं स्थायी भाव, यह तो स्पष्ट

ही है। अब विचार यह करना है कि वे उपाधियां स्थायिभाव कितने हैं। उपाधिशब्द का अर्थ है, जो उप माने समीपस्थित वस्तु में अपने धर्म का आधान करे आरोप करे उस स्वधर्मारोपक को उपाधि कहते हैं। आचार्य ने ऊनचास भावों का निरूपण किया हैं। उनमें आठ रत्यादिकों को स्थायीभाव नाम से कहा है। इसकी व्याख्या में अभिनव गुप्त एवं महिम भट्ट ने लिखा कि सभी ४९ भाव व्यचिभारी है। किन्तु जिनमें स्थायी होने की योग्यता है वे ही स्थायी होते हैं। अतः प्रतिनियत रूप की अपेक्षा से ही इनको स्थायी या व्यभिचारी एवं सात्विक कहा जाता है। यहाँ का भाव यह है कि खाया पिया हुआ पदार्थ आँख कान नाक वगैरह अवयवों को पोषक या अपोषक तत्वों का प्रदान कर सम्पूर्ण शरीर को लाभ या हानि पहुँचाता है, यह सिद्धान्त है, किन्तु ज्वर नाशक औषध वगैरह खाया पिया हुआ भी केवल ज्वर वगैरह को ही शमन करता हे और कुछ कार्य नहीं करता। अत: उनको प्रतिनियत कार्य-कारी औषध कहा है, उसी तरह इन भावों को भी प्रतिनियत रूप कहा है। सारांश चिन्ता ग्लानि प्रभृति मन के प्रतिकूल पदार्थों से उत्पन्न हो जाती हैं और अनुकूल पदार्थों से हट जाती है। अतः इनके रूप व्यभिचारिता में प्रतिनियत होने से ये व्यभिचारी कहलाते हैं। और रत्यादि भावों का रूप स्थिरता में प्रतिनियत है। अर्थात् ये ही भाव हैं, जिनके कारण ब्रह्म जीव संज्ञा को प्राप्त करता है। मुक्त होने के पहले संसार में कोई भी जीव इन उपाधियों से रहित होकर नहीं रह सकता हैं। (इस विषय में विशेष व्याख्या आगे करेंगे) इसीलिए इन रत्यादि भावों को स्थायी कहा है और जो इनको रसान्तर में व्यभिचारी भाव कहा गया है, वह शास्त्रीय नियमों का स्वरूप प्रदर्शन है कि पुष्ट नहीं हाने पर केवल अनुद्‌बुद्धावस्था में ये भाव व्यभिचारी होते हैं। अत: इनकी दो स्थिति है।

ये रस लौकिक और अलौकिक होते हैं

रसतरंगिणी एवं साहित्यसार में इन उपरि निर्दिष्ट रसों के विषय में लिखा है कि ये रस लौकिक ? और अलौकिक हैं। लौकिक संनिकर्ष विषयों के साथ छ प्रकार का सम्बन्ध जैसा कि नैयायिकों द्वारा बतलाया जाता है, उस संनिकर्ष से जनित रस लौकिक है। और अलौकिक सन्निकर्ष से पैदा होने वाला रस अलौकिक है। वह रस तीन प्रकार का है। स्वाप्न, मानोरथ और औपनायिक यहाँ ज्ञान रूप अलौकिकसन्निकर्ष वस्तुओं में है। इस जन्म में साक्षात् अनुभूत भी संस्कार द्वारा ज्ञान ही संनिकर्ष है प्रत्यासत्ति है। महाकाव्यों में पद एवं

पदार्थ से, नाट्य में अभिनय से; गीत काव्य में गीत से चमत्कार होता है। यहाँ उपनायक उपस्थापक महाकाव्य में वे पदार्थ बुद्धिस्थत्वेन और उपनायक उपदर्शक नाट्य में निकटवर्ती नट में अपने को अभिन्नत्वेन भावना करने से रस प्राप्त होता है अतः उनको औपनायिक कहा जाता है। स्वप्न जगत् के पदार्थो से मिलने वाले सुख को स्वाप्न रस कहा है और मनोराज्य से प्राप्त सुख को मानोरथ रस कहा है। इस तरह तीन प्रकार मानने में उपपत्ति देते हैं कि शास्त्रों में सुख को वैषयिक, पारमार्थिक एवं शास्त्रीय पदार्थज्ञानजनित रूप से त्रिविध कहा है। और रस सुख रूप है।

रसों की संख्या नो है। अधिक भी नहीं और कम भी नहीं है। इसका क्या कारण है। अवश्य ही कोई कारण होगा। इनमें भी पहलें शृंगार पीछे हास्य वगैरह इसका क्या कारण है। क्योंकि शास्त्रकारों का लेख कोई भी निर्मूल नहीं होता और न व्यर्थ ही होता है (नामूलं लिख्यते किंचिन्ना पेक्षितमुच्यते) और यह भी सिद्धान्त है कि रसों का मूल शान्त रस है। यह सब पहले बतलाया जा चुका है।

"रस निष्पत्ति"

यहाँ रस और निष्पत्ति दो पद मिल कर रस निष्पत्ति शब्द बना है। इसमें निष्पत्ति के गर्भ में निष्पादक १ निष्पद्यमान २ एवं निष्पत्ति की प्रक्रिया शैली ये विषय निहित है। इनमें निष्पत्ति की शैली में विद्वानों का महान् प्रयास है। कहना चाहिए कि "नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः" इस भावोद्रेक या गर्व के उल्लास के अनुसार पण्डित्यवीरता के प्रकटन का यह एक उत्तम अखाड़ा बन गयी है। यहाँ भरत के "विभावानुभावव्यभि चारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इस सूत्र में उपात्त संयोग पद की व्याख्या में "व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा सा नोपेक्ष्या सुखोन्मुखैः" इस सूक्ति को पूर्ण चरितार्थता प्राप्त हुई है। विद्वानों को अपनी-अपनी बुद्धि को व्यायाम कराने का अच्छा अवसर उपलब्ध हुआ है। जिसके फल स्वरूप रस की निष्पत्ति की शैली में कई मत मिलते हैं। अस्तु।

अब हम क्रमशः रसो के निष्पादक। रस रूप में निष्पद्यमान पदार्थ अर्थात् वह कौन सा तत्त्व है।

पदार्थ है। जो निष्पन्न हुआ सिद्ध हुआ रस कहलाता है और निष्पत्ति की विविध शैलियाँ इन तीनों को बतलाने का उपक्रम करते है।

"रसों के निष्पादक"

रसों के निष्पादक विभाव अनुभाव एवं व्याभिचारी भाव हैं। वस्तुनस्तु इनको स्थायी भावों के निष्पादक कहना चाहिये। क्यों कि ये पारिभाषिक शब्द है जिनको लोक में कारण कार्य एवं सहकारी कहते है है। उन्हीं के रस के निरूपण के सामञ्जस्य के हेतु ये नाम रक्खे गये है। जैसे ओदन सिद्ध करना है तो उसके लिए कारण कलाप का प्रयोग या उपयोग चावलों के ऊपर किया जाता है। वटलो ही में चावलो को ही भरा जाता हैं। अग्नि में पकाया उन्हीं को जाता है। पानी उन्हीं में छोड़ा जाता है। सिद्ध चावल का ही नाम ओदन है। भात है। किन्तु कहा जाता है (ओदनं पचति) ओदन को पकता है। यह तो पनिया (पानी दार) भात है। सिद्ध के विषय में ही मुख्यता का व्यवहार होता है। अतः रसों की प्रतीतियाँ विभाओं अनुभावों एवं व्यभिचारियों के द्वारा ही होती है यह कहा जाता है। लिखा जाता है। समझाया भी जाता है। अस्तु।

इन रसों की प्रतीति के साधन विभावादि के उपस्थापकों की शैलियां १० है। उनका उपस्थापन वाचिक अभिनय में शब्द प्रति पाद्य अर्थ एवं शुद्ध अर्थ रूप आङ्गिक, सात्विक तथा आहार्यिक अभिनयों से नाट्य में १ सार्थक वर्णात्मक शब्द, निरर्थक अभिलापात्मक शब्द राग रागिनियों से गीतों में २ शब्द सहकृत वर्ण्यमान अर्थो से पद्यात्मक रघुवंशादिको में ३ तादृश गद्यात्मक कादम्बरी प्रभृति में ४ तादृश, गद्यपद्योभयात्मक चम्पू में ५ या फिर कलाकार की शब्द शून्य केवल भावमय विलक्षणरेखाओं से चित्रों में ६ उत्कीर्णन ७ एवं टंकण या गलाने या ठप्पा करने १० से लकड़ी या पाषाण या लोहादि धातु या मिट्टी में किया जाता है। जिनमें प्रथम ५ पांच प्रकार काव्य की परिधि में आ जाते हैं। वाकी के ५ प्रकार काव्य की सीमा से बाहर हैं।

प्रथम नाटय में शब्द प्रतिपाद्य अर्थ भी (अन्य अर्थ तो है ही) अभिनय के योग्य है अतः ये दृश्य काव्य कहलाते है। द्वितीय में रागात्मक शब्दों की प्रधानता होने से अर्थ का कोई उपयोग नहीं है। किन्तु निरर्थकता को दूर करना मात्र ध्येय है। जैसे गो आदि शब्दों में प्रकृति और प्रत्ययों का साधुत्वाख्यान मात्र ही प्रयोजन है अर्थ उनका विवक्षित नहीं है। अतः वे सार्थक शब्द गीत गोविन्दादि गीत काव्य हैं। उक्त तीसरे, चौथे एवं पाचवें में उसके रहने पर वह अर्थ प्राप्त होगा। अन्यथा नहीं अतः शब्द सहकारी के रूप में अवश्य अपेक्षित है। और अर्थ अपने स्पन्दन वर्णन से सहृदयों के हृदयों

में आह्लाद का आविर्भावक है अतः वह वर्ण्यमान रूप से अवश्य अपेक्षित है। फलतः शब्दार्थोभय प्रधान पद्य, गद्य तथा पद्यगद्योभयात्मा महाकाव्य, एवं खण्डकाव्य कहलाते है। षष्ठ में भित्ति दिवाल पर या कागज पर या अन्य किसी आधार पर विलक्षण रेखाओं के द्वारा चतुर चितेरे के विविध भावमय चित्रण से जैसे चिन्तादि में मग्न या आनन्द में विभोर नायक या नायिका के आर्कषण चित्र तैयार किये जाते है। सप्तम में बढ़ई की निपुणता के द्वारा लकड़ी पर या कसेरे की प्रवीणता के द्वारा ताँबा, पीतल, काँस्य, पर सुनार की सोने चाँदी पर लोहार की लौहा पर उत्कीर्णन से विविध भावमयी मूर्ति का प्राकट्य हो जाता है। अष्टम में मिस्त्री की टाँकी से पाषाण या स्फटिक पर अन्य किसी ठोस आश्रय पर ९ नवम में कसेरे, सुनार या लुहार के द्वारा गला कर १० म में कुह्मार के द्वारा गिली मिट्टी पर ठप्पा मारने से विविध भावमयी मूर्तियां प्रकट की जाती है। वे विविध भाव ही विभाव अनुभाव एवं संचारी हैं।

"रस रूप में निष्पद्यमान पदार्थ"

ललित एवं उचित सन्निवेश से चारु काव्यों के द्वारा जिस का सहृदय जन अनुभव करते है। उस रस के विषय में जिज्ञासा होती है कि वह रस पदार्थ क्या है। किस वस्तु को किस पदार्थ को हम रस कहें। जैसे आटा या वेशन या मैदा या खोवा या छेना ही, घी, चीनी, पानी एवं विलक्षण ताप के संयोग से हलुआ या मोतीचूर के लड्डू या वालूशाही गुलाव जामुन, या पेड़ा या रस गुल्ला आदि के रूप में मिठाई वन जाता है। उस तरह वह कौन वस्तु पदार्थ है। जो रस रूप में वन जाता है।

इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए हम विश्व के सर्व प्रथम आचार्य वेदों के शरण में जाते हैं। वहाँ तैत्तिरीयोपनिषद में एक दो वचन मिलते है ("रसो वै सः" "रसं लब्धा आनन्दीभवति") कि वह आत्मा रस है रस को प्राप्तकर आनन्दी होता है। यहा भी स्पष्टीकरण नही हुआ। क्यों कि वह पर ब्रह्म परमात्मा रस है। यही वात इससे प्राप्त हुई। रस के रूप में किसकी निष्पत्ति हुई यह रहस्य नहीं खुला और वह रस तो घट घट में है परमाणु परमाणु में व्याप्त है काव्य में ही क्यों। हमें तो जिज्ञासा है केवल उस रस की, जिसका सहृदय जन काव्य के द्वारा अनुभव करते है।

पुनः इसके लिए रस के सर्व प्रथम प्रतिपादक आचार्य भरत के चरणों में जाते है। वहा हमें सूत्ररूप में उपदेश मिलता है कि (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः) विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। किन्तु यहां भी वह जिज्ञासा बनी ही रह गई। उत्तर नहीं मिला। क्योंकि आचार्य कहते है कि विभावादि के संयोग से रस बनता है। यहाँ संयोग एक सम्बन्ध विशेष है। वह सम्बन्धियों से भिन्न है और एक है किन्तु सम्बन्धियों में रहता है। उन सम्बन्धियों के स्वरूप की व्याख्या दार्शनिकों ने यह की है जिसमें या जिसके साथ सम्बन्ध होता है वह अनुयोगी कहाता है। और जिसका सम्बन्ध होता है वह प्रतियोगी कहाता है। प्रकृत सूत्र में अनुयोगी कौन है। एवं प्रतियोगी कौन है। यह स्पष्ट नहीं हुआ। यदि विभाव के साथ अनुभाव एवं व्यभिचारी का संयोग होता है। तब उससे रस बनता है कहें तो उक्त नियम के अनुसार अनुयोगी विभाव ही रस हुआ। यदि अनुभाव के साथ विभाव एवं व्यभिचारी का संयोग होता है तब उससे रस बनता है कहें तो उक्त नियम के अनुसार अनुयोगी अनुभाव ही रस हुआ। और यदि व्यभिचारी के साथ विभाव एवं अनुभाव का संयोग होता है तब उससे रस बनता है कहें तो उक्त नियम के अनुसार अनुयोगी व्यभिचारी ही रस हुआ। हाँ जब संयोग का कोई विनिगमक नहीं है और अनुयोगी उपात्त नहीं है तब तीनों ही परस्पर संयोग को पाकर मिलकर रस बनते है तीनों रस हुए यह भी कह सकते हैं। या फिर परस्पर संयुक्त तीनों में जिसमें सहृदय के हृदय की प्रवणता हो झुकाव हो वही रस हुआ। परन्तु सिद्धान्त निखरा नही। संदेह बना रहा। अत: रस का लक्षण स्पष्ट नही हुआ। प्रत्युत कहना चाहिए कि अलक्षण ही यह हुआ। इस पर कहते हैं कि (सामान्यं च विशेषश्च लक्षणस्य द्वयी गतिः) लक्षण की दो दशाएँ होती हैं एक सामान्य दूसरी विशेष। जब सामान्य लक्षण से सन्देह दूर नही हुआ तब विशेष का आश्रयण करो। विशेष की जान कारी आचार्यों के व्याख्यान से होती है। (व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति र्नहि सन्देहादलक्षणम्) नकि सन्देह से उसको अलक्षण मान लेना चाहिए।

इसी आचार्य ने आगे लिखा है कि।

शृंगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानकाः।
वीभत्साद्भुत शान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः।
एते नवरसा दृष्टा द्रुहिणेन महात्मना।
पुनश्च भावान् वक्ष्यामि स्थायिसंचारिसत्वजान्।

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चैव निर्वेदः स्थायिनो मताः।

श्रृंगार आदि नो रस होते हैं। और रति प्रभृति नो स्थायि भाव होते हैं। यथापि रसों एवं स्थायिभावों का निर्देश यहाँ किया है किन्तु इनकी परस्पर में क्या स्थिति है इनका क्या सम्बन्ध है यह स्पष्ट नहीं होता है। अतः फिर इसके बाद स्पष्ट लिखते है कि

यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। इति। स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः इत्यादि।

जैसे गुडादि अर्थात् गुड या चीनी मिश्री या शहद आदि द्रव्य, व्यंजन अन्न का उपकरण (दाल, तर्कारी, मत्स्य, माँस आदि) औषधि हरिद्रा, मरिच, धनियाँ एवं जीरा आदि के संयोग से षाडवादि रस बनते है उसी तरह नाना भावों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुए स्थायिभाव रस बन जाते हैं। स्थायि भावों को रस रूप में प्राप्त करेंगे। इत्यादि।

इस से अब यह स्पष्ट हो गया कि विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारियों के संयोग से स्थायिभाव रस रूप में निष्पन्न होते हैं।

अब प्रश्न होता है कि संयोग पद का क्या अर्थ है। शंका का कारण है कि नैयायिकों ने २४ गुणों के अन्तर्गत संयोग को गुण माना है। और स्थायि भाव रत्यादि भी गुण हैं। क्यों कि रति का लक्षण है।

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।

मन के अनुकूल अर्थ में मन का झुकाव अर्थात् यह मेरी है मैं इसका हूँ (ऐसा पुरुष का) और यह मेरा है मैं इसकी हूँ (ऐसा स्त्री का) ज्ञान। या यह मेरी हो जाय मैं इसका हो जाऊँ (ऐसी पुरुष की) और यह मेरा हो जाय मैं इसकी हो जाऊँ (ऐसी स्त्री की) इच्छा का ज्ञान रति है। इसी तरह अन्य आठ स्थायी भाव भी ज्ञान रूप है या इच्छा रूप हैं। हास भी मेरी चेष्टा आदि से यह प्रसन्न हो जाय या रहे ऐसी इच्छा या ज्ञान रूप है। शोक भी मैं इसकी ऐसी थी ऐसी हो जाती, यह मेरा ऐसा था ऐसा हो जाता ऐसा ज्ञान या इच्छा रूप है। अतः रत्यादि गुणों में संयोग गुण नहीं रह सकता है। तब संयोग के अभाव में रस की निष्पत्ति कैसे होगी।

उत्तर देते हैं कि संयोग पद का अर्थ है सम्बन्ध। फलत उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार प्रतियोगी विभावादि के साथ संयुज्यमान अनुयोगी स्थायी भाव रस बनता है। अस्तु। किन्तु ऐसा मानने पर एक विरोध और एक शंका होती है।

विरोध और उसका परिहार

इस व्याख्या के अनुसार स्थायी भाव को रस मानने पर श्रुति विरोध होता है। क्यों कि श्रुति कहती है कि (रसो वै सः) आनन्द मयी संवित् रस है। तब कैसे उक्त व्याख्यानुसार स्थायी रस है। उत्तर देते है कि कोई विरोध नहीं है। आपाततः विरोध मालूम पड़ता है। क्यों कि रस सत् चित् आनन्द ब्रह्म रूप है। यह सिद्धान्त है।

जैसे आटा, बेशन वगैरह मिष्ट नहीं है मधुर नहीं है। मधुर मिष्ट तो गुड़ चीनी शहद आदि है। गुड़ादि के सम्बन्ध के बिना आटा मधुर नहीं है। सम्बन्ध होने पर ही मधुर होते हैं। इसी तरह विभावादि और रत्यादि भी अनानन्दन है। जड़ पदार्थ है। और रस को, माना जाता है आनन्दमय चित्स्वरूप। तब विरोध कैसा चिदानन्द के साथ सम्बन्ध हुए बिना रत्यादि आनन्द रूप नहीं हो सकते हैं। सम्बन्ध होने पर ही आनन्दरूप है। हाँ विशेष्य विशेषण भाव दोनों में है। चिद्विषयता विशिष्ट अर्थात् चिद्विषय स्थायी रस है। इस में चिद् विशेषण है स्थायी विशेष्य है। कभी रत्यादि स्थाय्यवच्छिन्न चित् रस है इसमें रत्यादि विशेषण हैं चित् विशेष्य है। विशेषण विशेष्य भाव में कामचार है। अतः दो प्रकार का व्याख्यान मालूम होता है। वस्तुतः वह एक ही प्रक्रिया है।

शंका और उसका शमन

शंका यह होती है संयोग पद का एक अर्थ सम्बन्ध है सम्बन्ध बहुत होते है। सैकड़ों होते है (एकशतं षड्यर्थाः) यह प्रसिद्धि है। और दूसरा अर्थ है सं सम्यक् अच्छी प्रकार से योग समाधि एकतान वृत्ति जिससे हो जाय। यह तभी संभव है जब वह पदार्थ अद्भुत हो आकर्षक हो। ऐसा पदार्थ चमत्कार ही है। क्यों कि चमत्कारी वस्तु को देखकर या सुनकर सभी की स्थिति स्तब्धसी हो जाती है। सभी व्यापारों से चित्तवृत्ति हट जाती है। तत्क्षण के लिए वृत्तियाँ एकतान हो जाती हैं। फलतः संयोग का अर्थ चमत्कार भी हो सकता है।

इसक सिवाय संयोग का अर्थ समुदाय भी होता है। क्योंकि समुदितत वस्तुओं में ही संयोग होता ै उसी का नाम समुदाय है। यदि वे समुदित न हो एकत्रित नहीं हो तो संयोग नहीं हो सकता है। अब प्रश्न होता है कि प्रकृत में संयोग पदार्थ क्या है। कोई नियामक है नहीं कि यही अर्थ लिया जाय यह अर्थ नहीं लिया जाय। और न कोई विनिगमक ही है।

उत्तर में कहते हैं। कि जब कोई नियामक या विनिगमक नहीं है तब अपनी रुचि के अनुसार कोई भी अर्थ ले सकते है। व्याख्या बुद्धि बल की अपेक्षा रखती है रुचि होनी चाहिए। अत एव रुचि वैचित्य से रस सूत्र की विभिन्न व्याख्याएँ उपलब्ध होती है। यथापि व्याख्याकारों के स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते है तथापि नाट्य शास्त्र की टीका अभिनवभारती में, ध्वन्या लोक के व्याख्यान लोचन में, मम्मट के काव्य प्रकाश में और पण्डित राज जगन्नाथ के रस गंगाधर में रस सूत्र की विभिन्न व्याख्याएँ उपलब्ध होती है। उनका निष्कर्ष यह है।

(१) आचार्य अभिरवगुप्तपाद के मत में संयोग पद का अर्थ है व्यंग्यव्यञ्जक भाव। चिद्विशिष्ट स्थायी भाव व्यंग्य है। और चर्व्यमाण रस है। क्यों कि व्यक्त हुआ ही चर्वणीय होता है यह सिद्धान्त है। व्यक्त हुए ही स्थायी भाव सामाजिको के आनन्द संवलन से उपादेय होकर रस बनते हैं। अथवा विभावादि व्यंजक हैं। रत्याद्यवच्छिन्न भग्नावरण चित् व्यंग्य है। और चर्व्यमाण रस हैं। चर्वण आस्वादन व्यंजन व्यापार है।

इस मत में साधारणीकरण स्वरूप भावकत्व व्यापार पृथक नहीं है। किन्तु विभावन अनुभावन एवं विलक्षण रूप से रस के अभिमुख स्थायी के चरण से स्वभावत: विभावादि साधारण हो जाते है। और विभावादि जीवितावधि, पानक रसन्यायेन चर्व्यमाण तथा पुर इव परिष्फुरन् रस है। अत: विभावादि प्रतीति समकाल प्रतीयमान है। तथा समूहालम्बनविधया प्रतीत नहीं होता है। अर्थात् घट पटौ इस समूहालम्बन प्रतीति में जैसे घट पट अलग-अलग प्रतीत होते है वैसे चर्वणा के समय विभाव अनुभाव व्यभिचारी एवं स्थायी पृथक् पृथक् नहीं प्रतीत होते हैं। तथा यह प्रतीति प्रत्यक्ष है परोक्ष नहीं है और रस सिद्ध नहीं है किन्तु साध्य है।

रस कार्य नहीं है। इसका अर्थ है रसत्व कार्यतावच्छेदक नहीं है। क्यों कि आर्थसमाजग्रस्तधर्म कार्यतावच्छेदक नहीं होता है। जैसे नीलघटत्व कार्य

तावच्छेदक नहीं होता है। नील जनक सामग्री से नील पैदा हुआ। घट जनक सामग्री से घट पैदा हुआ है। अतः नीलविशिष्ट घट कार्य नहीं होता है फलतः विशिष्टत्व कार्यतावच्छेदक नहीं है। तदनुसार स्व स्व सामग्री से विभावादि एवं स्थायी समुपस्थित हुए व्यक्त हुए और उसके बाद एक लोलीभाव को प्राप्त विभावादि सम्बलित स्थायी प्रपाणकन्याय से चर्व्यमाण हुआ रस बनता है अतः कार्य नहीं है। और भी है कि रस यदि कार्य होगा तो विभावादि का ही कार्य होगा कारणान्तर के कार्य होने की संभावना नहीं है। उसमें विभावादि यदि निमित्त कारण होगें तो ऐसी स्थिति में विभावादि के नाश होने पर भी रस की सत्ता माननी पड़ेगी।

क्योंकि समवायी कारण के ही नाश होने पर कार्य का नाश होता है निमित्त कारण के नाश होने पर नहीं। असमंजस (युक्ति संगत नहीं) मालूम पड़ता है कि यह तभी समंजस होता जब विभावादि निमित्त कारण होते। किन्तु विभाव ललनोद्यान चन्द्रादि द्रव्य है। अतः समवायी कारण है। अनुभाव क्रिया रूप होने से कर्म है। तथा व्यभिचारी चित्तवृत्ति रूप है अतः गुण है। अतः दोनों असमवायी कारण हैं। निमित्त कारण नहीं है। अत एव समवायी कारण होने से ही विभावादि जीवितावधि भी रस को कहना संगत होता है।

रस नरसिंहाकार निर्विकल्पसविकल्पकोभयाकार ज्ञान का विषय है अतः ज्ञेय भी है। एक निर्विकल्पक या सविकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है। अतः ज्ञेय नहीं भी है।

रस पूर्व सिद्ध नहीं है अतः ज्ञाप्य नहीं है। पूर्व सिद्ध ही पदार्थ ज्ञाप्य होता है। यह तो सभी के अनुभव की बात है। और भी एक बात है। जो ज्ञाप्य होता है वह ज्ञान से भिन्न होता है। वह ज्ञान स्वरूप नहीं होता है। जैसे घट ज्ञाप्य है। वह घट, प्रदीप (ज्ञापक) से जन्य ज्ञान से भिन्न है प्रदीप जन्य ज्ञान रूप नहीं है।

किन्तु विभावादि जन्य ज्ञान का विषय रस विभावादि जन्य ज्ञान से भिन्न नहीं है। क्यों कि रस ज्ञान स्वरूप है। सिद्धान्त है स्व (ज्ञान) से भिन्न और तत् (ज्ञापक) जन्य ज्ञान का जो विषय हो वही ज्ञाप्य होता है। रस में उस सिद्धान्त का समन्वय नहीं होता है। अतः ज्ञाप्य या ज्ञेय नही है।

(२) सांख्याचार्य भट्टनायक के मत में संयोग शब्द का अर्थ भोज्य भोजक भाव सम्बन्ध है। अतः भुज्यमान रत्यादि स्थायी भाव या रत्यादि स्थायी भाव का भोग रस है। यहाँ तीन व्यापार हैं। अभिधा, भावना और भोग। जैसा कि कहा है।

> अभिधा, भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
> अभिधाधामतां याते शब्दार्थलिंकृती ततः
> भावना भाव्य एषोऽपि विभावादिगणो हि यत्
> तद्भोगीकृत रूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः।

इनमें अभिधा के विषय होते हैं शब्द और अर्थ में रहने वाले दोष, गुण और अलंकार या जो भी वाच्य वर्ग हैं वे सब। भावना के विषय होते हैं विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, सात्विक भाव एवं स्थायी भाव। भोग कृत्व या भोग का आश्रय है सिद्धिमान् सहृदय सामाजिक।

इनमें अभिनवभारतीकार ने लिखा है कि (नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपे निवडमोहसंकटवारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातोऽद्वितीयेनांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रत्यादिः) चतुर्विधि अभिनयरूप नाट्य में चित्त के निविड गाढ, मोह अज्ञानरूपी संकट को वारण करने वाले और विभावादिको को साधारण बना देना अर्थात् सबके साथ विना प्रतिबन्ध के समन्वित कर देना ही जिन का स्वरूप है ऐसे तथा अभिधा के समान शील किन्तु अद्वितीय अर्थात् शास्त्रान्तर संकक्षाओं में व्यवहृत नहीं होने से अपूर्व अंश भावकत्व नामक व्यापार से साधारणी क्रियामाण रत्यादि स्थायी भावों की भोग के द्वारा भुक्ति होती हैं।

यहां अभिधातो द्वितीयेन अंशेन इस वाक्यांश का "अभिधा की अपेक्षा द्वितीय दूसरा अंश" यहीं अर्थ प्रतीत होता है किन्तु यह अर्थ यहां विचारणीय है। क्योंकि आंगिक, सात्विक, वाचिक एवं आहार्यिक स्वरूप अभिनय प्रधान नाट्य अशब्द रूप है और अभिधा शब्द निष्ठ व्यापार है। अतः अशब्द रूप अभिनय नाट्य में शब्द का व्यापार अभिधा नहीं रह सकती है।

जब अभिनय में अभिधा रह ही नहीं सकती तब उस में प्रथमत्व भी नहीं है। हां अभिधा की अभिनय में स्थिति हो तब विचार हो सकता है कि वह व्यापार प्रथम है और भावना दूसरा है। क्यों कि प्रथमत्व के कारण ही द्वितीयत्व रह सकता है। फलतः अभिधातो द्वितीयेन उक्त अर्थ विचारणीय

हीं है। अतः हमारा लिखा हुआ ही अर्थ शुद्ध है संगत है। वाचिक अभिनय भी तो अभिनय है शुद्ध शब्द नही है फिर उन तीनों की प्रधानता है और वाहुल्य भी है वह एक है अमुख्य भी है।

"अभिधातः" इस पद में जो अभिधा के वाद तसि लगा हुआ है उसका अर्थ है एकदिक् अर्थात् समान शील। क्योंकि पाणिनि महर्षि की अष्टाध्यायी के "तेनैकदिक्" सूत्र के अधिकार में पठित "तसिश्च" इस सूत्र से अभिधा के एकदिक् समानपन्था अर्थात् समानशील इस अर्थ में तसि प्रत्यय होने पर अभिधातः पद वना है। "तसेश्च" इस स्वरादि पाठ के अनुसार वह पद अव्यय है। तथा अभिधातोऽद्वितीयेन इस प्रकार से लगा हुआ अकार एङ पदान्तादति के द्वारा संधिकार्य से श्लिष्ट हो गया है।

अभिधा और भावकत्व में एकदिक्त्व अर्थात् समानशीलत्व है तुल्यव्यापृतिकर्तृत्व। अभिधा जैसे शब्दस्थल में अर्थो के उपस्थान में व्यापृत होती है वैसे ही भावकत्व भी अर्थो के साधारणीकरण में व्यापृत होता है। भोजकत्व अर्थात् भोजक सहृदय सामाजिक में रहने वाले भोग का स्वरूप है सत्व के उद्रेक माने रज एवं तम को अभिभूत करके उत्थित हुए सत्व से प्रकाश अर्थात् प्रकट हुई आनन्द भयी संवित् में (ज्ञाने परिसमाप्यते के अनुसार) विश्रान्ति। यह ब्रह्मास्वाद सहोदर संवित् है।

(३) नव्य अर्थात् अनिर्वचनीय ख्यातिवादी वेदान्तियों के मत में आरम्भ में काव्य या नाट्य से विभावादि की उपस्थिति होने पर व्यंजना के द्वारा सामाजिकों को यह प्रतीत हो जाता है कि दुष्यंन्त की शकुन्तला में शकुन्तला की दुःष्यन्त में रति है प्रेम है उसके वाद भावना विशेप रूप दोप से अज्ञान अविद्या के आश्रय शुक्तिकाशकलावच्छिन्न चैतन्य के अवच्छेदक शुक्ति का शकल में जैसे अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति होती है वैसे ही दुष्यन्तत्वावच्छादित सामाजिक के हृदय में अनिर्वचनीय साक्षिभास्य शकुन्तलादि विपयक रत्यादि की उत्पत्ति होती है वे उत्पद्यमान रत्यादि ही रस है।

यहाँ दोपविशेप एवं रत्यादि में उत्पाद्योत्पादक भाव सम्बन्ध है। इस उत्पत्ति में विभावादि का साक्षात्सम्बन्ध नहीं है अपितु परम्परा सम्बन्ध है। है। अत एव दोप के नष्ट हो जाने पर वह रति भी गायव हो जाती है। और उस रति के वाद होने वाले लोकोत्तर आह्लाद से रति का भेद नहीं रह जाता

है अतः उस रति को सुख रूप मान लेते हैं। दोप विशेष से उत्पन्न अनिवर्चनीय रति का अपने से पूर्व काल में व्यंजना द्वारा गृहीत रति से कोई भेद नहीं मालूम पड़ता। अथवा दोनों रतियों को रतित्वेन एकरूप में समझते हैं फलत:जब पूर्वकाल में व्यंजनया गृहीत रति व्यंग्य एवं वर्णनीय है तब अनिर्वचनीय रति भी व्यंग्य एवं वर्णनीय स्वतः सिद्ध है।

रस्सी को सांप, सीपी को चांदी जो समझा जाता है उसमें दोष ही हेतु है अविवेक ही कारण है। इसी तरह व्यक्तिगत वस्तु को भी सर्वसाधारण की समझना भी तो दोप ही अविवेक ही है। फलत:सर्वविध काव्य में विभावादि का साधारणीकरण आवश्यक है। अतः अपने को दुष्यन्त समझने तथा शकुन्तला की रति को भी अपने में मानने में कोई रुकावट नही है। क्योंकि भ्रम या आहार्य ज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है। वह किसी से रुकता नहीं है। वह उत्पन्न हो ही जाता है।

(४) परे तु के नाम से भी एक मत का उल्लेख है। उनका कहना है कि व्यंजना एवं अनिर्वचनीय ख्याति के मानने की कोई आवश्यकता नही है। सर्वविध काव्य में कवि एवं नट के कौशल से सहृदय सामाजिक को एक ऐसा भावावेश हो जाता है जो कि एक प्रकार का दोष ही है। उससे सहृदय अपने को दुष्यन्त मानकर शकुन्तला मुझमें प्रेम करती है। ऐसा समझता है या समझता है कि मैं शकुन्तला में प्रेम करने वाला दुष्यन्त हूँ। या समझता है कि मै दुष्यन्त हूं और शकुन्तला में प्रेम करता हूँ। अर्थात् केवल दुष्यन्त अपने को नहीं समझता है। वह समझता है मैं दुष्यन्त तो हूँ ही शकुन्तला का प्रेमी भी हूँ।

यह तीन तरह ही न कि चौथे तरह से समझना रस है। चौथा तरीका है शकुन्तला का प्रेमी मैं दुष्यन्त हूँ। किन्तु अपने दुःष्यन्त बने बिना यह संभव नही है। यह सब विभावादि के द्वारा होता है। अतः विभावादि ज्ञापक हैं रस ज्ञाप्य है। और उनका सम्बन्ध ज्ञाप्य ज्ञापकभाव है।

इसमें प्रश्न होता है कि मैं दुःष्यन्त हूँ मुझ में शकुन्तला प्रेम करती है। मैं शकुन्तला में प्रेम करता हूँ यह भावना सहृदय अपने में कैसे कर सकता है जब तक उसको दुःष्यन्त एवं शकुन्तला का परस्पर के प्रति परस्पर का प्रेम किसी प्रकार से अवगत नही होगा। हां उसके जानने का एक प्रकार व्यंजना है उसको आप मानते नही। इसके उत्तर में कहते हैं कि लोक में जनता की

परस्पर चेष्टाओं से यह अनुमान हो जाता है कि अमुक का अमुक के साथ प्रेम है या द्वेष है। अतः यहाँ भी अनुमान के द्वारा समझ लिया जाता है।

यहाँ अनुमान का स्वरूप यह है। यह दुःष्यन्त शकुन्तला के प्रति प्रेम करता है क्यों कि उसके तरफ कटाक्ष से देख रहा है और उसका आलिंगन कर रहा है। जो ऐसा नही होगा वह ऐसा नही करेगा यह व्यतिरेकी अनुमान है। ये दो मत यथापि अभिनव गुप्ताचार्य ने न ध्वन्यालोक लोक के लोचन में और न नाट्यशास्त्र की अभिनव भारती में ही दिखाये हैं। तथापि पंडित राज ने रसगंगाधर में इनका उल्लेख किया है। अतः यहाँ प्रकृत में संकेत करना आवश्यकथा अतः कर दिया है।

(५) भट्टलोल्लट का मत है कि विभावादि के साथ स्थायी का संयोग होता है तव रस की निष्पत्ति होती है। विभाव उसे कहते हैं जो स्थायी रूप चित्तावृत्ति के उत्पत्ति में कारण हो। अनुभाव कार्य हैं किन्तु ये रस के कार्य नहीं है। रस के कार्य के रूप में इन की गणना करना युक्ति युक्त नहीं है। ये अनुभाव स्थायी भावों के ही कार्य होते हैं। व्यभिचारी भी वृत्तियाँ है और स्थायी भाव भी। अतः चित्तवृत्ति रूप होने से व्यभिचारी और स्थायी दोनों का सहभाव नहीं ही सकता है। क्यों कि प्रथम वृत्तियाँ उत्तरवर्ती वृत्तियों से कट जाती हैं। जैसे हजार रुपये की चिन्ता किसी को हो रही है। रुपये मिलगये चिन्ता मिटी। उसके स्थान में हर्ष आ गया। कहा भी जाता है कि चाह गई चिन्ता मिटी मनवा वे परवाह। अतः पोष्य पोपक भाव नहीं वन सकता हैं तथापि वासनारूप से दोनों का सहभाव हो सकता है। वही सहभाव यहाँ विवक्षित है।

अतः अनुभाव और व्यभिचारियों से पुष्ट हुआ ही स्थायी रस है। अनुपचित हुआ तो स्थायी, भाव ही है रस नहीं हैं। वह स्थायी दोनों में है। अनुकार्य में तो है ही अनुकर्त्ता नट में भी अनुसन्धान के बल से चिन्तन का सहायता से वह है। यहाँ भट्ट लोल्लट यह नाम मीमांसक भट्ट कुमारिल या भट्ट प्रभाकर के सदृश नाम है। अतः केवल मीमांसक नाम साम्य से मीमांसक मतानुसारी रस व्याख्या है ऐसा प्रवाद है।

दूसरा कारण है मीमांसक के मत में कर्म से तात्कालिक पाप और पुण्य नामक अपूर्व, कालान्तर में सुख और दुःख रूप में अनुभूय मान होता है। तदनुसार विभाव से उत्पन्न रति, अनुभाव एवं व्यभिचारियों से पुष्ट हुई रस रूप

में अनुभूयमान होती है। यह युक्ति भी भट्टलोल्लट की व्याख्या को मीमांसक-मतानुसारी कहने में सहायक हो जाती है।

यहाँ के काव्य प्रकाश में "मुख्यया वृत्या रामादौ" यह पाठ मम्मटाचार्य ने बढ़ाया है। मूल अभिनव भारती में यह पाठ नहीं है।

(६) श्री शंकुक के मत में रस का स्वरूप यह है। रस सूत्र में स्थायी का निर्देश नहीं है अतः विभावादि के साथ स्थायी का योग नहीं हो सकता है। विना संयोग हुए विभावादि में लिङ्गत्व नहीं बनेगा। फलत अवगति (अनुमिति) नहीं होगी। यदि उन स्थायी भावों को किसी प्रकार से ज्ञात मान लेगे तो इस प्रसंग से वे पहिले से स्थित हैं। यह मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में विभावादि से रस निष्पन्न होता है यह लक्षण व्यर्थ हो जायगा। क्यों कि जो पहिले से ही सिद्ध है उस सिद्ध की निष्पत्ति क्या। और इसके अलावा पूर्व सिद्ध भाव को अनुरक्त, द्विष्ट एवं मध्यस्थ की परिस्थिति के अनुसार मन्द, मन्दतर एवं मन्दतम भेद से अनन्त मानना पड़ेगा। हास्य छः ही प्रकार का क्यों होगा। काम की दश अवस्थाएें भी आश्रय की परिस्थितियों से अनन्त हो जायेंगी। तथा रूप वाहुल्य के योग से रति शृंगार हो गयी यह कथन कथंचित् समीचीन हो भी सकता है क्यों कि युवको में वह परिवर्द्धमान अवस्था में पुष्ट हो सकती है। वृद्धों में भी वह स्नेह के रूप में परिणत हो सकती ही है। कालेनावरणात्ययात्परिणतं यत्स्नेहसारे स्थितम्। किन्तु—

> **अधिरुह्य परां कोटिं शोकः कारुण्यमाश्रितः**
> **अधिरुह्य परां कोटिं क्रोधः रौद्रात्मतां गतः**

इत्यादि कथन कथमपि समीचीन नहीं हो सकते हैं। क्यों कि आरम्भ में शोक, क्रोध उत्साह प्रभृति तीव्र होते हैं किन्तु समय के अनुसार धीरे-धीरे वे मन्द होते होते क्षीण हो जाते है! अतः पुष्ट होने की स्थिति में नहीं आते हैं तव रस निष्पत्ति कैसे होगी।

इस लिए कारण विभाव, कार्य अनुभाव, सहकारी कारण व्यभिचारी जो कि काव्य, आचार्य एवं निजानुभव रूप प्रयत्नों से अर्जित होने से कृत्रिम किन्तु अभिनेता अनुकर्त्ता के द्वारा उपस्थापित हैं अतः लिंग माने गये हैं। उन से प्रतीयमान अनुमीयमान स्थायी भाव रस है। मुख्यतः यह स्थायी रामादि में है किन्तु नट में वह अनुकरण रूप है। अनुकरण रूप होने से ही रस इस भिन्न नाम से कहा गया हैं।

इनमें विभावों का अनुसन्धान चिन्तन काव्य के सहारे किया जाता है। अनुभावों की प्राप्ति नाट्याचार्य की शिक्षा से होती है। और व्यभिचारियों का अर्जन संचय अपने अनुभव के द्वारा होता है। किन्तु स्थायी का अनुसन्धान उक्त कारणों में से किसी से भी नहीं होता है।

वाचिक अभिनय में भी वाक्य के द्वारा स्थायी का अभिनय ही होता है। अभिधान कथन नहीं होता है। क्योंकि अभिनय का अर्थ है अवगमन अर्थात् प्रतिपत्ति। वह वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध रूप अभिधा से भिन्न ही है।

यह अभिनयन यह अवगमन अर्थात् प्रतिपत्ति "नट सुखी है ऐसी भी नहीं है। यही राम है या राम ही यह है ऐसी भी नहीं है। यह नट सुखी नहीं है ऐसी भी नहीं है। यह राम है कि नहीं है ऐसी भी नहीं है। राम के सदृश है यह भी प्रतीति नहीं है किन्तु जो सुखी राम है वह यह है ऐसी प्रतीति होती है।

यहाँ काव्य प्रकाशधृत "सम्यङ् मिथ्या संशय सादृश्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन" यह पाठ मूल अभिनव भारती में नहीं है। किन्तु मम्मटाचार्य ने अभिनव भारती के आधार पर एकीकरण करके लिखा है।

५ मत पहिले बतलाये जा चुके है। एक मत है स्थायी ही रस है। विभावादि का संयोग उपकरण है। जैसे आटे का हलुवा। दाल का हलुवा। बादाम का हलुवा कहाता है। इनमें गेहूँ का आटा, मूँग की दाल और बादाम ही हलुआ बनता है। घी, चीनी, अग्नि एवं जल का संयोग उपकरण है।

एक मत है कि अभिनयों के द्वारा अनुकर्त्ता नट में जो स्थायी का आभास होता है जैसे हरतालिका आदि से दिवाल आदि आधार पर अश्वादि का आभा होता है। वही आभास विषय स्थायी लोकातीत आस्वाद से रस्यमान हुआ रस है। इस तरह मूल नाट्य से रस मिलता है अतः नाट्य रस हैं।

एक मत है ललितोचित सन्निवेश चारु काव्य से समर्प्यमाण और विभावनीय अनुभावनीय एव व्यभिचारणीय स्थायी रूप चित्तवृत्ति से अनुपक्त विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी ही चर्वणा के विषय हुए आनन्दात्मक रस हैं इसलिए नाट्य ही रस है।

एक मत है विभावादि का संयोग ही रस है। जैसे पृथिवी, जल, तेज एवं वायु इन चारों का संयोग ही चैतन्यापादक है। चतुर्भ्यो ह्यपि भूतेभ्य

श्चैतन्यं मदशक्तिवत् यह बौद्धों का सिद्धान्त है। जैसे यव, गुड महुआ आदि का संयोग ही मद शक्ति मादकता को पैदा कर देता है।

एक मत है कि अनुकार्य ही रस है। उसी का वैलक्षण्य आनन्द प्रद है। विचार की आवश्यकता है। भट्टतौत एवं अभिनव गुप्त इन गुरु एवं शिष्य ने लिखा है कि

नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।

नायक, कवि और श्रोता द्रष्टा सामाजिक इन सब का अनुभव समान है। इसका भाव यह है कि नायक जिस अवस्था में है, जैसा है, जो भी है उस अवस्था में वैसा, वही जब तक कवि नहीं बन जायगा तब तक वह उन भावों को अपने ग्रन्थ में नहीं लिख सकता है। नैषधीय चरित में नल हंस को संदेश देता है। या दमयन्ती चन्द्र को उपालम्भ देती है। वहाँ कवि श्री हर्ष नहीं बोल रहा है। नल बोल रहा है दमयन्ती बोल रही है। श्रोता, द्रष्टा, या पाठक भी उस समय वही बन जाते हैं। तभी आनन्द विह्वल होते हैं। इस तरह मूल में नायक अनुकार्य ही रसमय हैं। वही अनुभव कवि का है वही अनुभव श्रोता आदि का है अतः कहना होगा के अनुकार्य ही रस है।

एक मत है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी स्थायी एवं संयोग सभी रस है। जैसे—क्षिति जल पावक गगन समीरा। पाँच तत्त्व यह रचा शरीरा का सिद्धान्त है। वैसा ही सिद्धान्त इन का भी है।

इस तरह रसके विषय में नाना मत हैं इन सबके मूल में आनन्दोद्रेक है। आनन्दानुभूति ही मुख्य है। वह अनुभूति जिस अंश में जिसको हुई उसने उसी को रस माना। किन्तु सूत्र का समन्वय उनकी व्याख्या के अनुसार बुद्धि के कौशल से प्रतीत हो जाता है। अतएव सर्व मान्य सिद्धान्त न हो कर एक एक मत ही के रूप में दिखाये गये हैं।

रस निष्पत्ति के आश्रय

इस निष्पत्ति के आश्रय अर्थात् रस की अनुभूति कहाँ होती है। किसको होती है। कौन रस का आस्वादन करता है। इस विषय में तीन मत है१ अति प्राचीन मत है कि

"नायकस्य, कवेः, श्रोतुः समानोऽनुभवस्तः"

यह भट्टतौत का मत है। इनको भट्ट तोताराम नाम से भी हमने उल्लेख किया है। ये आचार्य प्रवर साहित्य शास्त्र के मूर्धन्य आचार्य अभिनव गुप्त के गुरु हैं। आपका कहना है कि नायक के अनुभव को ही कवि, नट, एवं कलाकार अपनी २ कृतियों में दिखाते हैं। उसमें भी वे स्वयं उस रूप में या कहना चाहिए कि वे वही बन जाते हैं। तभी वह कृति उत्कृष्ट हो सकती है और श्रोता, दर्शक एवं पाठक भी उस रूप में या वही बन जाते हैं। तभी उनको रसास्वाद होता है। जब तक उस रूप में या वही नहीं बनेगे तब तक कवि लिख नहीं सकता है। नट अभिनय नहीं कर सकता है। कलाकार की कला स्फुट नहीं होगी, विकसित नहीं होगी। सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट नहीं होगी। तथा कवि, नट एवं कलाकार भी सहृदयों के हृदय में प्रवेश पाने की दशा में उन भावों को समर्पण नहीं कर पायेंगे। अतः नायक, कवि, नट एवं कलाकार का अनुभव समान है यह सिद्धान्त, है। यही तथ्य भूत वस्तु है।

अभिनवगुप्ताचार्य ने उद्भट के मत का उल्लेख किया है जो उक्त सिद्धान्त के विरुद्ध है। वहाँ कहा गया है कि

यदि नट में रस भाव आदि का सम्बन्ध माना जायगा। अर्थात् रस की अनुभूति नट को होती है यह मानेंगे तो मरण आदि में उसका आवेश भी मानना पड़ेगा उसका परिणाम होगा कि अभिनय में लय आदि का भंग हो जायगा। इसका उत्तर लोल्लट ने यह दिया है कि वासना के कारण नट में भी रस भाव का होना संभव है। अर्थात् नट में भी उनकी स्थिति है। जब स्थिति मान लेते हैं। तब लयादि का अनुसरण भी हो सकता है।

हमारे मत में तो नाटकीय नियमों के अनुसार अभिनय में वध बन्धादि का प्रयोग विषया प्रदर्शन नहीं होता है। अतः तत्वावेश का प्रसंग ही नहीं उपस्थि हो सकता है। हां रामायण आदि महाकाव्यों में उनका वर्णन होता है अवश्य किन्तु वहा लयादि के अनुसरण का प्रसंग ही क्या, लय आदि तो गाने में होते हैं। जब प्रसंग ही नहीं है तब भंग की भी क्या चर्चा की जाय।

अपने गुरु भट्टतौत के अनुसार आचार्य अभिनव ने लिखा है कि

कविगत साधारणसंविन्मूलश्च काव्यपुरःसरो नटव्यापारः सैव च संविन् परमार्थतो रसः। सामाजिकस्य तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति। तदेव मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः।

नट जो अभिनय करता है वह काव्य के अनुसंधान के बलपर करता है। और काव्य का मूल है कारण है कविगत साधारण संवित्। परमार्थत: देखा जाय तो वह संवित् ही रस है। फलत: इस संवित् के वशीभूत सामाजिक को पीछे व्यवहार दशा में अपोद्धार अर्थात् विश्लेषण की बुद्धि से भिावादि की प्रतीति होती है।

इसके आगे कवि के अनुभव के समान सामाजिक के अनुभव का उल्लेख करते हैं।

कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत: एवोक्तं
शृंगारी चेत् कवि: काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्।

इत्यादि आनन्दवर्द्धनार्येण। ततो वृक्षस्थनीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादि स्थानीयोऽभिनयादि व्यापार:। तत्र फलस्थानीय: सामाजिकरसास्वाद:। तेन रसमयमेव विश्वम्।

कवि सामाजिक तुल्य ही है इसी लिए आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कहा है कि कवि यदि शृंगारी है अर्थात् सरस है [यहाँ शृंगार शब्द रस मात्र क उपलक्षण है इसीलिये इसीके उत्तरार्द्ध में "जातं रसमयं जगत्" लिखा है यदि यहाँ शृंगार ही में तात्पर्य होता तो उत्तरार्द्ध में "शृंगाराढ्यं जगत् भवेत्" शृंगारमय जगत् होता ऐसा लिखते] तब तो जगत् रसमय है। और वही नीरस है तो जगत् भी नीरस है। अत: काव्य वृक्ष है। अभिनय उसके पुष्प हैं [पुष्प ही फल के रूप में परिणत होता है तदनुसार] सामाजिक का रसास्वाद फल है। इससे सिद्ध है कि विश्व रसमय है।

इस तरह नट में भी रसानुभव होता है ऐसा भट्ट लोल्लट मानते है। इसी लिए मुख्य रूप में रामादि में रस है अमुख्य रूप में उसके अनुकरण करने वाले नट में भी रस है। ऐसा इसके मतका उल्लेख करते हुए मम्मटाचार्य ने लिखा है।

किन्तु भट्टनायक इस सिद्धान्त को नहीं मानते। वे कहते है कि न तो राम अनुकार्य में रस है और न अनुकर्ता नट में रस है। फलत: आदि एवं अन्त के व्यक्ति में जो नहीं है वह मध्य पाती कवि में कहाँ से आयेगा। क्योंकि रस का सिद्धान्त है कि विभावादि से संयुज्यमान स्थायी रस है। और विभावादि का व्यवहार काव्यादि में ही होता है लोक में नहीं होता है।

फलतः विभावादि के अभाव में नायक, कवि एवं नट में रस नहीं है। एक बात और भी है कि मिट्टी, पीतल, चाँदी या सोने के पात्र अपने में रखे हुए दूध का अनुभव नहीं कर सकते है उस का अनुभव तो पीने वाला ही कर सकता है। इसी बात को संगीत रत्नार ने लिखा है कि

तदचोद्यं, यतः कंचिन्न रसं स्वदते नटः।
सामाजिकास्तु लिहते रसान्, पात्रं नटो मतः।
साहित्य दर्पण कारने भी इसकी पुष्टि की है
शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम्।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्।

अर्थात् नट किसी रस का आस्वादन नहीं करता है क्यों कि वह पात्र है। सामाजिक ही रस का आस्वादन करते हैं।

शिक्षा एवं अभ्यास से राघवादि के सरूप को दिखाने वाला नर्त्तक नट रस का आस्वादक नहीं हो सकता है।

अगर वह काव्यार्थ की भावना करता है और उसके जरिये रस का आस्वादन करता है तो वह सभ्य ही है सामाजिक ही है। नट नहीं है।

अभिनेता पात्र अवश्य है किन्तु दूध के प्याले का दृष्टान्त विपम है। क्योंकि प्याला जड़ है अतः उसमें आस्वादन की योग्यता ही नहीं है नट तो चेतन है। विना भावाविष्ट हुए वह अभिनय ही नही कर सकता है। अतः वह भी आस्वादयिता वन सकना है। किन्तु उस अवस्था में सभ्य कहलायेगा। नट नहीं।

और जो तो लौकिक अलौकिक द्विविध रस कहते हैं वह भी अंड वंड है। क्यों कि विभावादि से रस होता है। और विभावादि का लोक में व्यवहार नहीं होता है। तब लौकिक रस कैसा।

अतः सिद्धान्त है कि विभाव अनुभाव एवं संचारी से संयुज्यमान रति रस है इस भरत सूत्र के अनुसार सामाजिक, पाठक द्रष्टा एवं श्रोता में ही रस है। नायक, कवि एवं नट में रस नहीं है।

हाँ उनमें उन-उन रसों के प्रयोजक भावों का अनुभव एवं आवेश समान रूप में अवश्य रहता है जैसा कि नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः कहा है। कवि की परिस्थिति ही वतलाती है कि वह रस, भाव, गुण,

अलंकार एवं रीति के चमत्कारी रूप में उपस्थापक शब्द और अर्थों के ललित एवं उचित सन्निवेशन में व्यग्र रहता है और इसी तरह नट की भी परिस्थिति ऐसी है कि वह अपने अभिनय के द्वारा सामाजिकों को प्रसन्न करने में ही विभोर रहता है। अतः उन को आस्वादन करने का अवसर ही कहाँ है। जो उन को रस के आस्वादयिता कहें। तथ्य यही है कि कवि, नट, गायक एवं कलाकार के द्वारा अपने-अपने कौशल से प्रमाताओं की प्रतीति के विषय बनाये गये विभावादि से जब वासनात्मक स्थायी व्यक्त होते हैं तब वे उन की सहृदयता से आस्वाद्य होकर रस होते हैं। इसी लिए "व्यक्तश्चर्वणीयः" लिखा है।

भाव

भाव पद का अर्थ क्या है। भाव किसे कहते हैं या किसे कहना चाहिए। उसका क्या कार्य है। रस के निरूपण प्रसंग में उसकी क्या आवश्यकता है अर्थात् उसके माने बिना क्या, कैसा, और कहाँ अवरोध होता है। इन तीन बातों को भाव पद का अर्थ, उसका कार्य एवं उसकी आवश्यकता का, विवेचन यहाँ कर्त्तव्य है। इनके विषय में तीन मान्यताएँ है। अर्थात् तीन तरह से इनका विश्लेषण आचार्यों ने किया है। उन तीनों को हम क्रमशः बतलाते है।

आचार्य अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत के ग्रन्थ काव्य कौतुक में कारिकाये हैं। जिनका उद्धरण आचार्य ने अभिनव भारती के रस प्रकरण में किया है। वह एक यह है।

> **वर्णनोत्कलिताभोग प्रौढ़ोक्त्या सम्यगर्पिता :**
> **उद्यानचन्द्रकान्ताद्या भावाः प्रत्यक्षवत्स्फुटाः ।**

वर्णन के विषय में अर्थात् वर्णन करने में जिनका आभोग विस्तर उत्कलित है उत्कर्ष को प्राप्त है उन प्रौढ़ उक्तियों से अर्थात् काव्यो से सम्यक् अच्छी प्रकार से अर्पित अवगत कराये गये उद्यान, चन्द्र एवं कान्तादि का नाम भाव है। यहाँ काव्य में वर्णनीय उद्यानादि एवं कान्तादि को भाव कहा है। और

> **एक है—शरीरेन्द्रिय वर्गस्य विकाराणां विधायकाः ।**
> **भावा, विकारा श्चैषां ये चित्तवृत्तय ईरिता :**

द्रष्टा, श्रोता, पाठक एवं स्पर्ष्टा के शरीर एवं इन्द्रियवर्ग के विकारों के उत्पादक अर्थात जिनसे देखने सुनने पढ़ने एवं स्पर्श करने वाले के शरीर और इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होते हैं जैसे उद्यान चन्द्रादि एवं कान्तादि तथा कान्तादि की चेष्टाओं क्रियाओं से शरीर एवं मन में विकार उत्पन्न होते हैं। अतः इन उद्यान चन्द्रादि एवं कान्तादि को तथा कान्तादि को चेष्टाओं क्रियाओं को भाव कहते हैं। यह पहली मान्यता हे। रस प्रसंग में उद्यान चन्द्रादि का उद्दीपन विभाव, कान्तादि को आलम्बन विभाव और कान्तादि की चेष्टाओं क्रियाओं को अनुभाव कहते हैं।

विकाराश्चैषां ये चित्तवृत्तय ईरिता :

इन शरीर एवं इन्द्रिय वर्ग के विकार भी भाव है जिन भावों को चित्त-वृत्तियाँ कहते हैं।

इनमें शरीर एवं इन्द्रिय इन दोनों के सम्मिलित प्रभाव से उत्पन्न होने वाले विकारों को रस प्रसंग में सात्विक भाव कहते हैं। और इन्द्रियों में केवल मन रूपी इन्द्रिय के विकारों की दो स्थितियाँ है। एक स्थिति तो यह है कि जो मन के विकार माने चित्त वृत्तियाँ स्थायी होने की योग्यता रखती हैं जो रसा वस्था को पहुँच जाती है रस वन जाती है अतएव आप्रवन्ध स्थिर रहती है। वे स्थायी भाव कहलाती हैं। जो तो रसावस्था को नहीं प्राप्त करती हैं, केवल विजली की चमक की तरह उद्‌वुद्ध होती है पुष्ट नहीं होती है किन्तु रस स्वरूप को प्राप्त हो रहे स्थायी को पुष्ट करती हैं वे मन के धर्म अर्थात् मन की वृत्तियाँ व्यभिचारी कहलाती हैं। इस तरह ये भाव विभाव, अनुभाव, सात्विक, स्थायी एवं व्यभिचारी पांच है। इन्हीं के वर्णना का नाम काव्य है इन्हीं के संयोग से रस है यह दूसरी मान्यता है।

इनके सिवाय एक तीसरी मान्यता है वह यह है। प्रायः देखा जाता है लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति वड़ा भावुक है सहृदय है। अमुक व्यक्ति वड़ा रसिक है। पहले वाक्य में उसकी प्रतिष्ठा आदर झलकता है। दूसरे वाक्य से जरा दूसरी श्रेणी मालूम पड़ती है। अतः स्वभावतः यह प्रश्न उठ जाता है कि रसों की प्रधानता है या भावों की प्रधानता है। यहीं भारतीय नाट्य शास्त्र के शब्दों में यों है। रसों से भावों की अभिनिर्वृति है या भावों से रसों की अभिनिर्वृति है (प्रश्न) अगर कहें कि भावों से रस की अभिनिर्वृति होती है, तो ठीक नहीं है। क्यों कि देखते हैं जब कि ये रसों के

निष्पादक होते हैं तभी इनको भाव कहते हैं। अर्थात् रसों से भाव बनते हैं। और ये रस तभी कहलायेंगे जब ये इन भावों से निष्पन्न होंगे। अर्थात् भावों से रस की निस्पत्ति होती है। इस तरह रसों से भावों की और भावों से रसों की परस्पर से सिद्धि होती है। जैसे बहुत प्रकार से अनेक द्रव्यों का संयोग अन्न को स्वादु बना देता है। इसमें यदि अन्न संयुज्यमान न हो तो स्वादु कौन बने। अनेक द्रव्यों का संयोग न हो तो स्वादु कैसे बने फलतः एक के सहारे दूसरा है। यहाँ काल भेद एवं क्रिया भेद है अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। क्योंकि संयोजन क्रिया पहले है और आस्वादन क्रिया पीछे है।

फलतः बीजांकुरकी तरह भावहीन रस नहीं है। और रसरहित भाव नहीं है। यही सिद्धान्त है।

दोषहान या दोषत्याग

शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार पुरुष के चाहने की वस्तुएँ हैं। इनमें मोक्ष परम पुरुषार्थ है। अर्थात् मुख्य है। इसका स्वरूप है दुःखों का अत्यन्त अभाव। क्योंकि मोक्ष अर्थात् चिज्जड ग्रन्थि के छूटने पर ही जीव स्वस्वरुप ब्रह्म का अनुभव करता है।

फलतः दुःखों का समूलोन्मूलन किये बिना प्राप्य लक्ष्यभूत आनन्दको प्राणी प्राप्त नहीं कर सकता है। यथापि सृष्टि का मूल तत्व आनन्द है। अतः कार्य मात्र का आनन्द स्वरूप होना उचित है, दुःख स्वस्तप होना सम्भव नहीं है तथापि वह आनन्द रूप ब्रह्म स्वयं सृष्टि नहीं करता है, किन्तु माया के द्वारा वह सर्जन बनता है। माया, सुख दुःख मोहजनक सत्व रज एवं तम रूप तीन गुणों की साम्या अवस्था का नाम है। अतः कारणभूत माया के स्वभाव के अनुकूल सृष्टि भी सुख दुःख मोह स्वभाव वाली है। अथवा नित्य परमात्मा से उत्पन्न होने वाली सृष्टि जैसे अनित्य है, वैसे ही आनन्द रूप से भी दुःखमयी सृष्टि होसकती है। जैसे दूध से खट्टा दधि। दूध तो प्रकृत्या मधुर ही होता है (यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः) फिर दधि खट्टा क्यों। अतः सृष्टि का दुःख बहुल होना और विनष्ट होना भी स्वाभाविक है। इसलिए प्रकृत में प्राप्य लक्ष्य के प्रतिकूल तत्वों का हान किये विना और अनुकूल तत्वों के आधान किये विना लक्ष्य को प्राप्त करना असम्भव है।

"अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते"

जैसा कि देखा जाता है रात्रि के अन्धकार को अपनी प्रभा के द्वारा जबतक सूर्य दूर नहीं करेगा तब तक उसका उदय नहीं होता है।

इन दुःखों को हटाने का उपाय है दुःखजनक कारणों दोषों को हटाना। फलतः प्राप्य रस के विरोधी या उसको विकृत करने वाले या रस की प्रतीति में विलम्ब कर देने वाले या उसको हनन करने वाले अर्थात् उसकी अनुभूति न होने देने वाले या उसको दवा देने वाले दोषों का त्याग सुतरां अपेक्षित है।

दोष का स्वरूप

दोष उसे कहते हैं "जो आनन्द रूप रस के भंग का कारण हो" रस भंग का अर्थ है रस के विरोधी अर्थात् सभ्यों के उद्वेजक तत्वों का होना (उद्वेगजनको दोपः सभ्यानां "अग्नि पुराण) या रस की प्रतीति में विलम्ब होना, या रस का हनन अर्थात् रस की अनुभूति न होने देना या उस अनुभूति में विकृति अर्थात् अर्थ ज्ञान न होने से अस्पष्टता होना, या उस अनुभूति को दवा देना अर्थात् प्रकृत को छोड़कर अप्रकृत अंश की तरफ झुकाव होजाना। इन सव का कारण है रस के अभिव्यंज को में अनौचित्य। दोषों का रस के साथ सम्बन्ध होने से ही उनमें नित्यत्वानित्यत्व की व्यवस्था होती है। वह अनौचित्य शास्त्रों के नियमों एवं लोकप्रसिद्धि का उलंघन करने से होता है। तथा देश, काल, पात्र एवं अवस्था का अपने स्वरूप में न होने तथा प्रतिरूप में होने से होता है।

क्योंकि दोप शब्द का वाच्य अर्थ है दूपयतीति दोपः अर्थात् जो किसी वस्तु की उपादेयता या आकर्पकता या रमणीयता को ठेस पहुँचावे, वह दोप है जगत् में सर्वत्र आनन्द ही उपादेय है और आनन्द प्राप्ति के उपाय होने से, आनन्दजनक सामग्री भी उपादेय है। किसी न किसी कार्य में उपयुक्त होने से सभी वस्तु सामान्यतः उपादेय होती है तथापि आकर्षक नहीं हुई प्रत्युत दुष्ट हो गई तो वह उपादेय नहीं हो सकती। वस्तु के आकर्पक न होने एवं वस्तु के दुष्ट होने का कारण दोप है, जिस का नाम है अनौचित्य।

> अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
> औचित्योपनिवन्धस्तु रसस्योपनिपत्परा।

अनौचित्य के सिवाय रसभंग का और कोई कारण नहीं है। औचित्य का उपनिवन्ध रसोपलब्धि का परम रहस्य है। औचित्यनिवन्धन का ही फल है कि वस्तुतः दोप है किन्तु औचित्य से गुण हो जाता है। कहीं पर दोष होता हुआ भी औचित्य से दोप रूप को छोड़ देता है, किन्तु गुण नहीं होता। कहीं पर वह स्पष्ट दोप है, किन्तु औचित्य का निर्वाहक होने से आवश्यक होकर

अत्याज्य हो जाता है। किसी दूसरे की उक्ति का भाव का अनुवाद करने के समय अनुकरण स्थल में कोई भी दोष, दोषरूप नहीं होता है। ऐसी भी स्थिति है, जिस में न दोष है और न गुण ही है। क्योंकि अनौचित्य से सभ्यों को उद्वेग होता है। अगर किसी वस्तु से उद्वेग नहीं हुआ तो दोष नहीं हुआ। उत्कर्षक नही होने से गुण भी नहीं हुआ।

दोषों का भेद उपभेद

दोष दो प्रकार के होते हैं। एक अन्तरंग दूसरे वहिरंग। अन्तरंग दोष वे हैं, जो रस को साक्षात् हनन करें या अपकृष्ट करें। यह दोष एक प्रकार का है। वहिरंग दोप वहुत प्रकार के है। जैसे रस के अभिव्यंजक अर्थ में रहने वाले दोष वहुत प्रकार के हैं। उस अर्थ के प्रतिपादक पद, पदैकदेश समास स्थल में पद, समासेतर स्थल में वर्ण, रचना प्रकृति, प्रत्यय, आगम, आदेश, में रहने वाले और वाक्य में, रहने वाले तथा खण्ड वाक्य में, समास में, महाकाव्य में एवं प्रवन्ध में रहने वाले दोष।

जैसे प्राप्य या लक्ष्य के विरोधी तत्व अथवा प्रतिकूल परिस्थिति के हटाये विना लक्ष्य पर पहुँचना प्राप्य का प्राप्त होना असम्भव है। वैसे ही अनुकूल तत्व अथवा परिस्थितियों के आधान या उपादान किये विना लक्ष्य का प्राप्त करना भी कठिन है। वे अनुकूल तत्व हैं गुण। अतः गुणों का आधान करना परमावश्यक है।

गुणों का स्वरूप

गुण धातु से क करने पर गुणयति उत्कृष्टो भवति अनेन, इस अर्थ में गुण वनता है। जिस से उत्कृष्ट हो जाय बढ़ जाय वह गुण है। जैसे किसी भी संख्या को अगर वढ़ाना हो तो उसको गुणा कर दीजिए वह वढ़ जायगी, जिस तरह संख्या को वढ़ाने के लिए गुणन का आश्रय लिया जाता है। ऐसे ही द्रव्य को या व्यक्ति को भी वढ़ाने के लिए उत्कृष्ट करने के लिए गुणों का आश्रय लिया जाता है, जिस का गुणगान करते हैं। वह अपने गौरव का अनुभव करता है। प्रकृत में काव्य में रचना के द्वारा रस को उत्कृष्ट करने वाले धर्मविशेष को गुण कहते हैं। लोकव्यवहार में भी गुण की ही पूजा है। गुणाः पूजास्थानम्, गुणैर्हि सर्वत्र पदं निधीयते। गुणों के द्वारा ही कोई भी सर्वत्र अपनी स्थिति जमा सकता है। गुणश्चात्र काव्ये सहृदय

हृदयावर्जको धर्मविमेष: (रुद्रट की टीका)। वह धर्म गुण कहलाने के योग्य है, जो आत्मा को उत्कृष्ट करे, सहृदय के हृदय को आवर्जित करे। अर्थात् आकृष्ट करे उस धर्म को काव्य में गुण कहते हैं। पाणिनि के धातुपाठ में गुण आमन्त्रणे लिखा है। जो श्रेष्ठता की तरफ आमन्त्रित करे बुलाये अर्थात् उच्चत्व का श्रेष्ठता का आधान करे वह गुण है।

गुणों को सव ने माना है

सभी शास्त्रों में गुणों को माना है। किन्तु गुण पद का अर्थ भिन्न-भिन्न किया है। सांख्य ने सत्व, रज एवं तम को जो कि द्रव्य हैं, गुण शब्द से कहा है। मीमांसा में गुण अप्रधान को कहा है। नैयायिकों ने द्रव्यधर्म को गुण कहा है। व्याकरण में अकार एवं एङ् प्रत्याहार को गुण कहा है। लोक में मानव की श्रेष्ठता को वतलाने वाले धर्मों को गुण कहा है। रस के उत्कर्षक को गुण नाम से काव्यशास्त्र में कहा है।

गुण समीक्षा

साहित्य शास्त्र के प्रथम मान्य आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में दोषों का निरूपण किया और लिखा कि "एते दोषास्तु विज्ञेया:" ये दोष है, ऐसा समझना चाहिए फिर उसके वाद की कारिका में लिखते हैं कि "एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः" ये दोष ही विपर्यस्त हुए काव्य में गुण कहे जाते हैं। अर्थात् दोषों के विपर्यस्त ही गुण कहलाते हैं।

नाट्यशास्त्र में जैसे दोषों के विपर्यस्त गुण कहे हैं। ठीक उसके विपरीत उसी तरह वामनाचार्य ने अपने काव्यलंकार सूत्र में "गुणविपर्ययात्मानो दोषा:" कहा है कि गुणों के विपर्यय स्वरूप दोष होते हैं। अर्थात् गुणों का विपर्यय दोष हैं।

अव यह शंका होती है कि इन आचार्यों ने जो गुण एवं दोष को एक दूसरे से विपरीत स्वभाव वाला वतलाया है। तव उस का क्या "दोषाभाव रूप गुण है" या "गुणाभाव रूप दोष है" यह अर्थ है अथवा और कुछ। अर्थात विपर्यस्त एवं विपर्यय पद का अर्थ क्या अभाव रूप है अतः इन शब्दों के अर्थों के जानने के लिए इन्हीं आचार्यों की उपासना करनी चाहिए। इनमें सर्व प्रथम मान्य आचार्य वैयाकरण हैं। उसके वाद साहित्यशास्त्र के आचार्य हैं। अत: पहले व्याकरण से विपर्यस्त एवं विपर्यय शब्दों के अर्थ की गवेषणा करते हैं।

विपर्यस्त

यहां इस शब्द में विपरि उपसंसृष्ट अस् धातु है। इसके अर्थ हैं गति कान्ति और आदान। इस से कर्म में क्त प्रत्यय हुआ है। विपरि उपसर्गों का अर्थ है वर्जन निग्रह। इसतरह दोष विपर्यस्त का अर्थ हुआ दोषों के कार्य का वर्जन या निग्रह करके चलने वाले गुण हैं। अन्यथात्व इसका पर्याय है।

विपर्यय

यहां विपरि उपसृष्ट अय धातु है। इस से अच् करने पर विपर्यय बनता है। अतः गुण विपर्यय का अर्थ हुआ गुणों के कार्य का वर्जन या निग्रह करके चलने वाले दोष हैं। निग्रह या वर्जन विपरि उपसर्गों के अर्थ हैं। यह शब्दस्तोममहानिधि वगैरह कोषों से ज्ञात है। इसतरह विपर्यस्त व विपर्यय के अर्थ व्याकरण के नियम के अनुसार यही है कि दोषों का जो कार्य है, अपकर्ष करना, उसका विपर्यय उत्कर्ष करना गुणों में हैं। इसी तरह गुणों का जो कार्य उत्कर्ष करना है उस का विपर्यास अपकर्षकरना दोषों में हैं। यह कार्यगत भेद तो है ही इसके सिवाय स्वरूप, संख्या एवं उन दोनों की मान्यता में भी भेद हैं।

विपर्यस्त या विपर्यय पदों का अर्थ अभाव नहीं है। यह सिद्ध हुआ। इसके सिवाय गुण दोषाभाव नहीं है। जैसे सुख का अभाव दुःख, दुःख का अभाव सुख, धर्म का अभाव अधर्म और अधर्म का अभाव धर्म नहीं है, किन्तु इनकी अपने आप में स्वतन्त्र सत्ता है। वैसे ही दोषाभाव रूप गुण या गुणाभाव रूप दोष नहीं है, किन्तु दोष अपने रूप में और गुण अपने रूप में स्वतन्त्र हैं पृथक् हैं।

न च वाच्यं गुणो दोषाभाव एव भविष्यति।
गुणाः श्लेषादयो, दोषा गूढार्थाद्याः पृथक् कृताः॥

गुण श्लेषादि हैं, दोष गूढार्थादि हैं ये दोनों पृथक् पृथक हैं। यह कभी नहीं कहना चाहिए कि दोषाभाव ही गुण हैं। यहां का भाव यह है कि जैसे श्रुति कटुत्वादि श्रृंगार, शान्त एवं करुण रस में दोष है किन्तु वीर वीभत्स एवं रौद्र में वही गुण है! इसी तरह पद, वाक्य, अर्थ में रहने वाले दोष भी गुण हो जाते हैं जैसा कि कहा है—वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः। वक्ता, श्रोता,

वाच्यार्थार्थ, प्रबन्धादिगत औचित्य से दोष भी गुण हो जाता है, किन्तु वह गुण, यहाँ गुण पद से गृहीत नहीं है और गो से दूध निकालते समय थनों को दबाने से गो के केश भी दुग्ध में गिर जाते हैं और वेग से वायु के चल से कुछ तृणादि भी दूध में गिर सकते हैं। इन सबको निकाल देने के लिए दूध को वस्त्र से छान देते हैं। इस तरह केशादि दुष्ट पदार्थों का अभाव शुद्धि भी जैसे गुण होता है। वैसे ही च्युत संस्कृतत्वादि दोषों का अभाव भी गुण होता है, किन्तु वह भी यहाँ गुण पद ग्राह्य नहीं है यहां गुण शब्द लाक्षणिक है। वास्तविक नहीं है। लक्षणों के द्वारा, वस्तु का स्वरूप स्पष्ठ प्रतीत हो जाता है। अतः आचार्यों के लक्षणों का विचार करते हैं।

भरत, भामह, एवं दण्डी वगैरह ने गुणों और दोषों की संख्या एवं नामों का निर्देश किया। कुन्तक ने दोषों की संख्या एवं नामों का निर्देश नहीं किया, किन्तु गुणों का निर्देश किया है किन्तु उनके सामान्य लक्षण का निर्देश नहीं किया। वामन ने जो गुणों का लक्षण किया है काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। वह अग्निपुराण एवं दण्डी के अलंकार लक्षण काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते से टकरा जाता है। क्योंकि गुण भी काव्य की शोभा करने वाले धर्म और अलंकार भी काव्य की शोभा करने वाले धर्म हुए तब किसको गुण कहा जाय और किस को अलंकार कहा जाय। अथच दो नामों की क्या आवश्यकता है। अतः फिर समस्या जटिल हो गई। उद्भटाचार्य एवं आनन्दवर्द्धन इस विषय में बिलकुल मौन हैं। अग्निपुराण में गुण और अलंकार का सामान्यलक्षण लिखा है। उसके बाद सम्मट विश्वनाथ प्रभृति ने उनका स्वरूप निर्धारित किया। यह स्वरूप निर्धारण साहित्य शास्त्र के महान् प्रतिष्ठापक मान्य आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के संकेतों के अनुसार होने पर ही ग्राह्य कोटी में आता है अन्यथा नहीं। इसका निरूपण आगे हम करेंगे।

अग्निपुराण में दोष एवं गुण का लक्षण

"उद्वेगजनको दोषः सभ्यानाम्।" जिससे सभ्य उद्विग्न विचलित हो जाय वह सभ्यों के उद्वेग का जनक दोष कहलाता है और "यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णाति असौ गुणः" जिससे काव्य में महती छाया हो जाय वह गुण है। यहाँ छाया का अर्थ शोभा लेते हैं तो वामन से मेल हुआ किन्तु दण्डी से मेल नहीं हुआ। और भी बात है अलंकार तथा गुण का भेदक बीज इनके

मत को भी नहीं प्राप्त हुआ । क्योंकि इनके मत में भी अलंकारों से शोभा ही होती है । जैसा कि अग्निपुराण ३४२ अध्याय में अलंकार लक्षण लिखा है । "काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकरान् प्रचक्षते" । काव्य की शोभा करने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं ।

इस ऊपर निर्दिष्ट आचार्यो के लेख से यह तो सिद्ध हुआ कि गुण काव्य के धर्म हैं, किन्तु इसके साथ साथ एक जटिल समस्या यह आ गई कि अलंकार भी वही शोभारूप कार्य करते हैं, जो गुण करते हैं और वे भी गुण की तरह धर्म ही है, तव गुण एवं अलंकारों के बीच में भेद न होकर एकता आ जाती है । इसी समस्या को हल करने के लिए आचार्य मम्मट ने प्रयत्न किया ।

आचार्य मम्मट का प्रयत्न

आचार्य मम्मट ने गुण एवं अलंकार दोनों का सामान्य लक्षण लिखा और उसका उदाहरण द्वारा समन्पय करके स्थिर किया कि यही गुण एवं अलंकार प्रविभाग अर्थात् भेद है और लौकिक गुणालंकार की तरह समवाय एवं संयोग सम्वन्ध से काव्य में इनकी स्थिति नहीं है । किन्तु उत्कर्षकत्व सम्बन्ध से इनकी स्थिति है । उनका लक्षण है—

ये रसस्यॉगिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्ष हेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

शरीर में आत्मा की तरह प्रधानतया काव्य में स्थित अंगी रस के उत्कर्षक धर्म गुण हैं, जो कि अचल स्थिति हैं अर्थात् जो कि रस के विना रहते नहीं और अगर रहते हैं तो रस का अवश्य उत्कर्ष करते हैं । यह लक्षण भी अंगीभूत रस के उत्कर्षक गुण हैं यहाँ तक तो ठीक है किन्तु रस के धर्म हैं ? तथा अचलस्थिति हैं । ये दो अंश लक्षण के विचारणीय हैं ।

विचारणीय अंश

"सर्व वाक्यं सावधारणं भवति" सभी वाक्य अपने आप में अपने अर्थ को निश्चय करने वाले होते हैं । इस न्याय के अनुसार माधुर्यादि गुण रस के ही धर्म हैं अन्य के नहीं । तव जहां वस्तु ध्वनि एवं अअंकार ध्वनि रहेगी गुण वहां नहीं रहेंगे । किन्तु उचित तो यह हैं कि रस, वस्तु, अलंकार इन तीनों व्यंगों में गुणों को रहना चाहिए । आप के लक्षण के अनुसार नही रह सकते । परन्तु जहां वस्तु व्यंगय है, वहां भी गुण रहते हैं । जैसे—

अधाक्षीन्नो लंकामयमुदन्वन्तमतर
द्विशल्यां सौमित्रेरयमुपनिनायौषधिवनात्
इति स्मारं स्मारं त्वदरिवलभीचित्र लिखितं
हनूमन्तं दन्तैर्दशति कुपितो राक्षसगणः ।

हे राजन् ! आप के शत्रु आपके भय से अपने घरों को छोड़कर भाग गये । शून्य घरों में ही राक्षसों का निवास होसकता है और तभी यह राक्षसवृत्तान्त संगत होता है । यह वस्तु यहां व्यक्त होती है । यहां माधुर्य एवं प्रसाद गुण हैं । कुपित शब्द से कोप वाच्य है । अतः रस नहीं है । अगर कहें कि रस शब्द से भावों का भी ग्रहण करते हैं और यहां राजा के विषय में कवि के हृदय में रति रूप भाव हैं । तब यह उदाहरण है ।

स्वच्छन्दोच्छलदच्छ कच्छ कुहरच्छातेतराम्बुच्छटा
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानान्हिकान्हाय वः इत्यादि ।

इस पद्य में गंगा के विषय में कवि के हृदय में रति (भाव ध्वनि) है । यहां ओजो गुण है, जो कि कविगत गंगा विषयक भाव के प्रतिकूल है । क्योंकि

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः ।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण तु ॥

इस नियम के अनुसार ओज गुण की स्थिति वीर बीभत्स एवं रौद्र रस में ही हो सकती है, अन्यत्र नहीं ।

यदि कहें कि यह पद्य अवर (अधम) काव्य का उदाहरण है । इस में व्यंग्य का अनुसन्धान नहीं किया जाता । तब तो और बन गई । क्योंकि गुणों को अचलस्थिति जो कहा गया था, वह अंश व्यर्थ हो गया । और भी देखिये—

तरुण्यालिंगितः कण्ठे नितम्बस्थलमाश्रितः ।
गुरूणां सन्निधानेऽपि कः कूजति मुहुर्मुहुः ।

यहां घट रूप वस्तु व्यक्त है । कोई भी रस नहीं है, किन्तु माधुर्य गुण है तथा प्रसाद गुण है । अतः रस के धर्म गुण है यह कहना असंगत है । और अचल स्थिति कहना तो और भी विरुद्ध है । ध्वन्यालोककार ने स्पष्ट लिखा है और कुन्तक ने उसकी विशद व्याख्या की है ।

सोर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन । इति ।
वाच्योऽर्थो: वाचक: शब्द: प्रसिद्धिरिति यद्यपि ।
तथापि काव्य मार्गेऽस्मिन् परमार्थोयमेतयो: ।
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्न्येषु सत्स्वपि ।
अर्थ: सहृदयाल्हादकारिस्वस्पन्द सुन्दर: ।।

वाच्य अर्थ है वाचक शब्द है । यह यथापि प्रसिद्धि है किन्तु काव्यमार्ग में यह इनका परम अर्थ है कि उस अर्थ को कहने वाले हजारों शब्दों के रहते हुए भी प्रकृतोपयोगी विवक्षित अर्थ को कहने वाला ही शब्द शब्द है और सहृदयों को आल्हादित करने वाले अपने स्वस्पन्द से सुन्दर ही अर्थ है । इसलिए ध्वनिकार ने लिखा है कि वही कोई अर्थ है और उस अर्थ को व्यक्ति करने की सामथ्र्य रखने वाला कोई ही शब्द है ।

व्यंग्यव्यंजकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां न तु वाच्यवाचकरचनामात्रेण । (आलोक)

यो महाकविरित्यहं भूयासमाशास्ते । (लोचन)

जो यह चाहता है कि मैं महाकवि होऊं उस के लिए महाकवि पद को प्राप्त करने का हेतु है व्यंग्य और व्यंजक का ही सुन्दर प्रकार से से प्रयोग करना । इसीलिए कहा भी है । "काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावत:" काव्य तो किसी प्रतिभाशाली से कभी बन पाता है ।

अत: व्यंग्य में दोषों के द्वारा होने वाले अपकर्ष को निरस्त करने के लिए दोषाभाव की, उत्कर्ष को लाने के लिए गुणों की तथा शोभा सम्पादन के लिए अलंकारों की स्थिति शब्द और अर्थ में माननी नितान्त आवश्यक है । उचित भी है । व्रीहीन् प्रोक्षति, या व्रीहीन् अवहन्ति" इन श्रुतियों से विहित प्रोक्षण या अवघात धानों का ही हो सकता है आत्मा का नहीं, किन्तु प्रोक्षण या अवघात से जनित संस्कार अदृष्ट पुण्य विशेष आत्मा में ही होगा (संस्कार: पुंस एवेष्ट:)।

लोक में कहते हैं देवदत्त काना है चैत्र लंगड़ा है, यहां देवदत्त, चैत्र एवं मैत्र का अर्थ है शरीर विशिष्ट आत्मा । वह आत्मा काना, अन्धा एवं लंगड़ा नहीं प्रत्युत आंख में काणत्व है । आखों में अन्धत्व है । पैरों में पंगुत्व है, और देवदत्त, चैत्र तथा मैत्र आंख या पैर नहीं है, तव भी ऐसा प्रयोग क्यों है । उत्तर। आंख कानी है या आखें अंधी है या पैर लंगड़ा है यह कहना बनता ही नहीं । इसलिए देवदत्त काना है यही कहा जाता है । वह वात गुण में नहीं है । रस मधुर हैं । शब्द मधुर है । अर्थ मधुर है । शब्द में माधुर्य है अर्थ में

माधुर्य है दोनों तरह का प्रयोग होता है। कहने का आशय हैं कि जिस वस्तु का जो आश्रय होता हैं उसी से उसका सम्बन्ध होगा। अतः काव्य करने के लिए प्रतिभावान् कवि के लिए व्यंग्य को लक्ष्य करके उद्देश्य बनाकर शब्द एवं अर्थ को ही दोष रहित, गुण युक्त एवं अलंकृत करना चाहिए। हां उसका फल अनपकर्षणीय, उत्कर्षणीय, एवं अलंकरणीय व्यंग्य में ही होगा। अतः गुणों का निरूपण प्राचीनों की तरह शब्द एवं अर्थ में ही करना चाहिए। और भी बात हैं।

मम्मट ने (सगुणौ शब्दार्थौ काव्यम्) गुण विशिष्ट या गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ काव्य है। यह काव्य लक्षण लिखा है। इसमें भी वही आपत्ति है जो आप ने वामन के मत में उठायी हैं। जैसे समस्त गुणों को अभिव्यक्त करने वाले शब्दार्थों को काव्य कहेंगे तो "अनंगरंग प्रतिमं तदंगम्" इसमें केवल ओज गुण के नहीं होने से काव्य नहीं होगा। अगर कहेंगे कि एक या दो गुण के अभिव्यंजक शब्दार्थों को काव्य कहेंगे तब "स्वर्ग प्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी" इस में आप ही के लेख के अनुसार "अत्र विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रवर्त्तकौ "यहां कोई भी गुण नहीं है। केवल विशेषोक्ति एवं व्यतिरेक अलंकार ही काव्य व्यवहार के प्रयोजक हैं। प्रकृत में गुणाभाव काव्य व्यवहार का निषेधक हो रहा हैं और अलंकार उसका प्रयोजक। दुई कि इक संग होई भुआला। अतः प्रचीनोक्ति ही ठीक हैं क्योंकि—

> **यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः**
> **नैकः पर्यनुयोज्यः स्यात् तादृगर्थविचारणे।**

और भी हेतु हैं, शब्द और अर्थ में गुणों के मानने का मुख्य कारण है रसों के आस्वादन के लिए विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारियों की प्रतीति। ये विभावादि भी रसास्वाद के प्रति कारण तभी बन सकते हैं जब वे चमत्कारी रूप से सुनाई पड़ने वाले शब्दों से समर्पित किये जाय, और स्वयं भी ये अर्थ रूप विभावादि चमत्कारी रूप से उपस्थित हुए हों। अन्यथा रूप से अर्थात् विकृत रूप से सुनाई पड़ने वाले शब्दों से उपस्थापित किये गये और स्वयं भी विकृतरूप से उपस्थित हुए हों तो कथमपि रस की प्रतीति नहीं करा सकते। इन शब्दों के चमत्कारी रूप से सुनाई पड़ने में अर्थों के चमत्कारी रूप से उपस्थित होने में कारण दोषाभाव, गुण एवं अलंकार ही हैं। अतः दोष एवं अलंकारों की तरह गुणों को भी शब्द और अर्थ में ही मानना उचित है। लक्षणा करने की बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

गुणों की संख्या में मतभेद

गुणों की संख्या के विषय में भिन्न-भिन्न मत है। सांख्य में तीन गुण होते हैं। नैयायिकों ने २४ गुण माने हैं। लोक में अनन्त गुण हैं। काव्यशास्त्र के आचार्यो ने अपने-अपने ग्रन्थों में बड़ा मतभेद दिखाया है।

नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने १० गुणों का उल्लेख किया है। अग्निपुराण में अग्नि देव ने गुणों की संख्या का अलग क्रम दिया है वे कहते हैं कि ७ शब्द के गुण है, ६ अर्थ के पुन: ६ शब्दार्थोभय के हैं। शब्दार्थोभय के सम्मिलित गुणों का निर्देश एवं व्याख्या अग्निपुराण में ही मिलती है। इसतरह इनके मत में १९ गुण हैं। दंडी ने १० गुणों का निर्देश किया है, किन्तु भरत की अपेक्षा स्वरूप व्याख्या में विभिन्नता है। वामन ने १० गुण बतलाये हैं। भामह, आनन्दवर्द्धन, मम्पट, विश्वनाथ, जगन्नाथ प्रभृति ने माधुर्य ओज एवं प्रसाद तीन गुण माने हैं। किन्तु भोज ने २४ गुण माने हैं। श्लेप १ प्रसाद २ समत्व ३ माथुर्य ४ सौकुमार्य ५ अर्थव्यक्ति ६ कान्ति ७ उदारता ८ उदात्तत्व ९ ओज १० औजित्य १३ समाधि १४ सौक्ष्म्य १५ गाम्भीर्य १६ विकास १७ सम्वृति १८ सम्मितत्व १९ भाविकत्व २० गति मति २१ रीति २२ उक्ति २३ प्रौढि २४ ये नाम उनके हैं। चन्द्रलोककार जयदेव ने ८ गुण माने हैं। दोनों वाग्भटों ने भी १० माने हैं। कुन्तक ने औचित्य एवं सौभाग्य दो गुण सर्वसारण माने हैं। माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य ये चार गुण विशेष माने हैं। इन को आगे के प्रकरण में समझायेंगे। सरस्वती तीर्थ ने लिखा है कि —

राजा भोजो गुणानाह विंशतिश्चतुरश्च यान्।
वामनो दश तान् वाग्मी भट्टस्त्रीनेव भामहः ॥

राजा भोज ने जिन २४ गुणों का निरूपण किया है, वामन ने उन्हीं को १० गुण कहा है। और भट्ट भामह उन्हीं गुणों की सख्या ३ कहते हैं।

विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रयशोभूपण में भोज की तरह चौवीस २४ गुण माने हैं। हेमचन्द्र जैन के काव्यानुशासन में ३ तीन माने हैं। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में गुणों का निर्देश किया है परन्तु स्पष्ट रूप से नहीं किया है। उसके टीकाकार नमिसाधु ने जरूर लिखा है कि "रचनाचारुत्वे शब्दगुणः सन्निवेशचारुत्वम्"

रचना की चारुता से शब्दों के विन्यास में सुन्दरता का नाम शब्द गुण है। यह नवी कारिका है। इस के पहिले की ८ वीं कारिका की व्याख्या में वाक्यं प्रयुंजीत'' इस वाक्य को लेकर दोपाभाव गुण हैं। प्रसाद एवं गम्भीर्य का निर्देश किया है। गोस्वामी कर्णपूर ने अलंकार कौस्तुभ में तीन गुण माने हैं। इसतरह दश गुण मानने वालों की संख्या एवं ३ गुण मानने वालों की संख्या करीव-करीव वरावर ही है।

रीतियों की संख्यां एवं स्वरूप में मतभेद

गुणों की संख्या में जैसे आचार्यो का मतवेद है, उसीप्रकार रीतियों की संख्या एवं स्वरूप में भी मतभदे हैं। अग्निपुराण में वैदर्भी पांचाली गौडीया (गौडी) लाटीया (लाटी) ये रीतियाँ कहीं हैं। भामह ने गौडीय और वैदर्भ दो वर्त्म वतलाये हैं। दण्डी ने कवियों को काव्य के निर्माण के लिए अनेक मार्गो की तरफ संकेत करके भी दो ही वैदर्भ एवं गौडीय का निर्देश किया है। वामन ने वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली तीन रीतियाँ वतलाई हैं। रुद्रट एवं जयदेव ने ४ रीतियां कहीं हैं। वाग्भट्ट तीन रीतियां मानते हैं। लाटी को छोड़ देते हैं। महाराज भोज ने वैदर्भी, गौडीया, पांचाली, लाटी, आवंन्ती एवं मागधी ६ रीतियों का निरूपण किया। इन्होंने संभवतः भरत की दो प्रवृत्तियों को मिला लिया है।

कुन्तक ने इन्हीं को सुकुमार विचित्र एवं मध्यम मार्ग नाम से पुकारा है। अन्य आचार्यो के माने हुए ३।८।१०।२४ गुणों के स्थान में माधुर्य, प्रसाद, लावण्य, एवं अभिजात्य ४ गुण प्रत्येक मार्ग में माने हैं और इनसे भी सन्तुष्ट न होकर औचित्य और सौभाग्य नामक २ गुणों का तीनों मार्गो के लिए सामान्यतः निर्देश किया है। इन्हीं रीतियों या मार्गों के स्थान में उद्भट एवं मम्मट ने उपनागरिका परुषा एवं कोमला नाम की वृत्तियों का उल्लेख किया है। ग्राम्या वृत्ति को कोमला भी कहते हैं। ऐसा उद्भट का मत है।

इस तरह आचार्यों ने रीति, वर्त्म, मार्ग एवं वृत्ति नामों से एक ही वस्तु का निरूपण किया है। जैसा कि महाराज ने दिखाया है।

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इतिस्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते ॥

रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति करण साधनोऽयं रीतिशब्दो मार्ग पर्याय: ।

विदर्भादिदेशों के निवासी आचार्यो द्वारा काव्य की रचना के लिए जो पथ बतलाया गया है वह मार्ग माना गया है और उसी को रीङ् गतौ धातु से निष्पन्न होने से रीति कहते हैं।

यह रीति एवं मार्ग तो अवश्य यावत्काव्यों की रचना के लिए उपयुक्त होता भी है किन्तु अनुप्रासालंकारमात्र के उपयोगी उपनारिका परुषा एवं कोमला नाम की वृत्तियों का निरूपण करके लिखना ('केषांचिदेता वैदर्भी-प्रमुखा रीतयो मता:' ' कि यही वृत्तियां किन्हीं के मत में वेदर्भी प्रमुख रीतियां है। यह कुछ असंगत सा मालूम मड़ता है। स्वयं काव्य प्रकाश कार ने अर्थगत कष्टत्व दोष का उदाहरण देते हुए लिखा है कि

सदा मध्ये यासामियममृतनिष्यन्दसुरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम्
प्रसादं ता एता घनपरिचिता: केन महता
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यांतु रुचय: ॥

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति ता गम्भीरकाव्यपरिचिता: कथमितरकाव्यवत् प्रसन्ना भवन्तु ।

जिन कविरुचियों के मध्य में सुकुमार विचित्र एवं मध्यम नामक तीन मार्गो वाली भारती चमत्कार को धारण करती है "इति

यहाँ मूल श्लोक में बहुमार्गा लिखा हैं। इसी की व्याख्या सुकुमारादि तीन मार्ग किया हैं।

यहाँ असंगति यह हैं कि ये उपर्युक्त वृत्तियाँ केवल वृत्यनुप्रास के उपयोगी होती हैं, अत: जो केवल वृत्यनुप्रास के निर्माण में उपयुक्त हो सकती हैं। वे अन्यत्र कैसे उपयुक्त हो सकती हैं।

और भी हेतु हैं कि मम्मट ने लिखा है कि यही तीन वृत्तियाँ किसी के मत में तीन रीतियां हैं तो बहुमार्गा पद की व्याख्या में अपनी मानी हुई तीन वृत्तियाँ लिख देते क्यों सुकुमारादि मार्गों का निर्देश किया ? एव कि

इनके मत में दोनों एक हैं। अतः इस लेख से प्रतीत होता है स्वयं भी हृदय से दोनों को भिन्न मानते हैं। किन्तु प्रवाह में ऐसा लिख गये।

और भी हेतु है कि आपने अनुप्रास में नियत सामान वर्णों में रस को व्यक्त करने वाले व्यापार को वृत्ति कहा है वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः क्योंकि "वर्ण साम्यमनुप्रासः" वर्णों की समानता का नाम अनुप्रास है। फलतः जहाँ पद साम्य हो वहाँ पर दूसरी वृत्तियाँ चाहिए और जहाँ वर्णों में तथा पदों में साम्य न हो वहाँ तीसरी, क्योंकि असमान वर्ण एवं पद वगैरह के द्वारा भी काव्य का निर्माण होता है। वहाँ वृत्यनुप्रास न होकर यमक अथवा लाटानुप्रास श्लेषादि अलंकार होंगे। तथा अर्थों के निरूपण करने के लिए चौथी वृत्ति माननी पड़ेगी। अतः आप के द्वारा मानी हुई वृत्तियाँ भिन्न वस्तु है और वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ या सुकुमारादि मार्ग भिन्न हैं।

और भी कारण है कि मम्मट ने जिनके लिए तीन वृत्तियाँ बतलाई हैं, उसी कार्य के लिए अग्निपुराण एवं रुद्रट प्राचीनों ने तथा अर्वाचीन जयदेव ने मधुरा, पुरुषा, प्रौढ़ा, ललिता, एवं मद्रा ५ वृत्तियाँ मानी हैं। रुद्रट काव्यालंकार के व्याख्याता नमि साधु ने अपनी टीका में लिखा हैं कि हरि ने इन पांचों वृत्तियों के स्थान में ८ वृत्तियाँ मानी हैं। मधुरं पुरुषं कोमल भोजस्सि निठ्ठुरं च ललियं च। गम्भीरं सामण्णं च अट्ठमणिति उनायज्ञ "इन हेतुओं से मम्मट का उक्त वृत्तियों को रीति या मार्ग के स्थान में मानना कुछ क्या नितान्त असंगत है।

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में रस को गुण युक्त करने के लिए संघटना का निर्देश किया। और संघटना का और गुणों का परस्पर में आश्रयाश्रयिभाव के विषय में विचार किया। अभिनवगुप्ताचार्य ने लोचन में प संघटित वाक्य समुदाय प्रबन्ध है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में वैदर्भी गौडीया एवं पांचाली तीन रीति लिखी हैं। उसी ने कर्पूरमंजरी के मंगलाचरण में वच्छोयी, मागधी और पांचाली लिखी है। फिर बालरामायण में उसी ने मैथिली रीति तथा र रीति के तीन गुणों योगपरम्परा १ समास का ईषत्प्रयोग २ अर्थातिशय हं पर जगन्मर्यादा से अनतिक्रमण ३ का उल्लेख किया है रुद्रट ने जैसे—

वैदर्भी पांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्यात् यथौचित्यम्। लिखा है

शृंगार, करुण, भयानक और अद्भुत में वैदर्भी तथा पांचाली रीति है। और रौद्र तथा वीर में लाटीया तथा गौडीया रीति होनी चाहिए। शेष हास्य, वीभत्स एवं शान्त तीन रसों में औचित्यानुसार करना चाहिए। उसी-तरह सिंहदेव गणि ने भी लाटी=हास्य, पांचाली=करुण और भयानक, मागधी=शान्त, गौडी=वीर और रौद्र, वच्छोमी=वीभत्स और अद्भुत, वैदर्भी=शृंगार रस के लिए उपयुक्त वतलायी है। वच्छोमी का वत्सगुल्मी संस्कृत हैं। महाराज भोज ने अवन्तिका जिसका नाम दिया उसी का उसने वच्छोभी दिया हैं।

राजशेखर के वाद श्रीपाद पण्डित ने भी मैथिली और मागधी का निर्देश किया है। शिगंभूपाल ने कोमला कठिना एवं भिन्ना के नाम से तीन रीतियों का निर्देश किया हैं।

विश्वनाथ, विद्यानाथ, विद्याधर, कर्णपूर गोस्वामी, अलंकार कौस्तुभ *निर्माता तथा पण्डितराज जगन्नाथ सभी ने रीतियों का उल्लेख किया हैं।* अग्निपुराण से आज तक की आचार्य परम्पराओं में सभी ने रीतियों को माना हैं। इनकी संख्या में भेद है और स्वरूप में भी भेद है। ध्वन्यालोककार तथा कुन्तक ने दूसरे रूप में इनका उल्लेख किया है। रुद्रट ने भी अपने काव्यलंकार में लिखा है किन्तु रीति नाम नहीं दिया। इन सव का विवेचन "रीतिराद्धान्त" में दिखावेंगे।

नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्रः॥

नाम माने प्रतिपदिक की दो वृत्तियाँ होती है। एक समास वृत्ति दूसरी असमासवृत्ति। उनमें समासवती वृत्ति की तीन रीतियाँ हैं।

पांचाली गौडीया लाटीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र॥

उन रीतियों के पांचाली गौडी (गौडीया) लाटी (लाटीया) ये नाम हैं। उनमें से किसी में लघु किसी में मध्य और किसी में आयत अर्थात् लम्बायमान समास है। यही इनमें भेद है।

द्वित्रिपदा पांचाली, लाटीया पंच सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवन्ति यथाशक्ति गौडीया॥

अष्टभ्य आरम्य यथाशक्ति यावतः पदः कर्त्तु शक्नोति तावतः कुर्यादित्यर्थः। नमि साधु टीका।

पांचाली का लक्षण है जिसमें दो या तीन पदों का समास हो। और जिसमें पाँच या सात पदों का समास हो वह लाटी रीति कहाती है। गौडी रीति में तो यथाशक्ति समासवाले शब्द हो सकते हैं। यहाँ यथाशक्ति पद की टीका करते हुए नमि साधु लिखते हैं कि आठ पदों से आरम्भ करके जहाँ तक पदों में समास कर सकते हैं वहाँ तक करना चाहिए। अर्थात् जिसमें आठ, नौ, दश या इससे अधिक पदों का समास हो वह गौडी रीति है। कहा भी है कि गौडेष्वक्षर डम्बर:।

वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव।

एताश्च रीतयो नालंकारा:, किन्तर्हि शब्दाश्रया गुणा इति नमि साधुः।

असमासा वृत्ति की एक रीति है जिसका नाम वैदर्भी है। ये सब रीतियाँ अलंकार नही हैं। तव क्या हैं (प्रश्न) ये शब्दों में रहने वाले गुण है (उत्तर) यह मनिसाधु की टीका है।

द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे,
एका भूरिसमासा स्यादसमस्तपदापरा।
सान्तरे परस्पर भेदवती। वाग्भटालंकारः॥

वनभटलंकार के कर्त्ता कहते हैं कि दो ही रीतियाँ हैं एक गौडी दूसरी वैदर्भी। जो कि सान्तर हैं अर्थात् परस्पर भेदवाली हैं। जिनमें एक भूरि समासा है अधिक समासवाली है। दूसरी समास रहिता है। सरस्वती कण्ठाभरण में भोज राजा कहते हैं कि

गुणानां दृश्यते यत्र श्लेपादीनां विपर्ययः।
अरीतिमदिति प्राहुस्तत् त्रिधैव चक्षते॥

जहाँ श्लेप आदि गुणों का विपर्यय दिखाई देता हो इसे रीति रहित काव्य कहते हैं। वह तीन ही प्रकार का कहा है।

गुणों के विषय में विवेचनापुरःसर अपना मत

"नच किंचिद् गुणहीनं, दोषैः परिवर्जितं न वा किंचित्" कुछ भी वस्तु गुणों से हीन नहीं है और न कोई दोषों से वर्जित है। जब यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, तब यह कहना कि अमुक में गुण नहीं है यह बनता नहीं प्रत्युत असंगत है। फलतः माधुर्य ओज एवं प्रसाद गुण रस में ही है, शब्द में एवं

अर्थ में वे नहीं है। अथ च रस आत्मा निर्गुण है। अतः उसमें गुण नहीं है और रस की उपाधि रत्यादि स्थायि भाव-जो कि मैं इसका होऊँ, यह मेरी हो जाय या यह मेरा है, मैं इसकी हूँ "ऐसी इच्छा या ज्ञान स्वरूप है--में भी गुण नहीं रह सकते हैं, क्योंकि" नैयायिक लोग गुण में गुण नहीं मानते हैं। (गुणे गुणानंगीकारात्) ये दोनों सिद्धान्त अविचारित रमणीय है।

इन दोनों ही सिद्धान्तों में प्राचीन आचार्यो के साथ स्पष्ट विरोध है। यदि कहाजाय कि (युक्तियुक्तमुपादेयम्) जो युक्ति कषोटी से निखर आवे उसको ग्रहण करना चाहिए तब तो युक्ति, तर्क, संगति एवं व्यवहार सब से विरोध ही है यही कहेंगे।

युक्ति विरोध

रस को आत्मा आप मानते हैं। यदि न्यैयायिक के मत का अनुसरण करके रस को आत्मा कहते हैं तब भी ठीक नहीं है। नैयायिक आत्मा को द्रव्य मानते हैं। द्रव्य का लक्षण है स्वरूप है। जो गुण का आश्रय हो वह द्रव्य है। इस तरह माधुर्यादि गुण रस में रह सकते हैं। परन्तु नैयायिक के यहाँ माधुर्य गुण नहीं है किन्तु मधुर गुण है। गुणों के निरूपण में नैयायिक लिखता है (पृथिव्यां षड् विधः जलेतु मधुर एव) पृथिवी में मधुर, अम्ल, कटु; कषाय, तिक्त लवण ये छः ही गुण हैं किन्तु जल में मधुर ही है। अगर माधुर्य रस गुण होता तो 'जले माधुर्यम्" कहते। और ओज एवं प्रसाद तो नैयायिक परिगणित गुण ही नहीं है। उनके मत में इच्छा द्वेष सुख दुःखादि गुण आत्मा में माने हैं।

रस को नैयायिकाभिमत आत्मा के रूप में नहीं मान सकते हैं। क्योंकि रस की जहाँ व्याख्या है वहाँ प्रपाणक रस न्यायेन चर्व्यमाण होने से रत्यादि स्थायी भावों को रस कहा है। कहा है कि जैसे मधुरादि गुण युक्त पदार्थो के सम्मेलन से बनाए हुए प्रपाणक माने पेय को पीते हैं तब आस्वाद लेते हैं। अर्थात् उस पेय में मधुर, अम्ल, कषाय, कटु एवं गुणों का अनुभव करतेहैं। और हर्ष को प्राप्त करते हैं। वैसे ही प्रकृत में भी हर्ष को प्राप्त करते हैं।

उसी तरह काव्य में भी भावों अनुभावों से आनन्दांश से सम्वलित स्थायी भाव का आस्वादन करते हैं और नाट्य में भावों एवं अभिनयों से सम्वलित स्थायी का आनन्दांश के साथ आस्वादन करते हैं। इस आनन्द सहित आस्वादन रूप अनुभूति के कारण रत्यादि को रस कहा है।

यहाँ का भाव यह है कि सहृदय सामाजिक काव्य के श्रवण पठन या नाट्य दर्शन के वाद अनिर्वचनीय अन्तःकरण धर्म विभावानुभाव सात्विक भाव व्यभिचारी भावों के सम्बन्ध से अपने अन्तःकरण में वासना रूप में सूक्ष्म रूप में स्थित एवं साक्षि चैतन्य से भासित होने वाली रति की चर्वणा अर्थात् आस्वादन करता है। इसी समय आस्वादन में आनन्दांश में आवरण भंग होने पर चैतन्य आनन्द स्वरूप आत्मा भी भासित होता है। जैसे शुष्क तथा नितान्त माधुर्य रहित वेशन के वून्दियों का चीनी की चासनी से सम्पर्क करके आस्वादन करते हैं और आनन्द को प्राप्त करते हैं उसी तरह अनानन्दन रति आनन्दस्वरूप आत्मा के सम्पर्क से आनन्दमयी प्रतीत होती है। यहां अखण्ड आत्मा में आनन्दत्व एवं ज्ञानत्व ये धर्म कल्पित हैं। इस कल्पित आनन्दत्वांश में आवरण होता है। इस आवरण भंग का वीज निमित्त कारण जो काव्य स्वरूप शब्दार्थोभय के ज्ञान नाट्यप्रेक्षण, संगीत श्रवण एवं चित्र दर्शन से प्राप्त है। प्रसंग से अव विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी का स्वरूप शास्त्र और युक्ति के आधार पर लिखते हैं।

स्थायी भाव ही रस क्यों

स्थायी भाव के विषय में हम पहले लिख चुके हैं तथापि विशेष आगे लिखेंगे। उसके अनुसार कुछ संकेत अवश्य करते हैं। ये स्थायी भाव ही रस क्यों होते हैं इसके लिए यह सिद्धांत है कि जैसे लोक में देखा जाता है कि हाथ, पैर, आंख, कान वगैरह सभी के होते हैं और समान ही होते हैं किंतु इनका उपयोग करना जो जाने वही बुद्धिमान् कहलाता है। "आख, कान, मुख नासिका सव ही के इक ठौर, कहवो सुनिवो देखवो चतुरन को कछु और"। और जो उपयोग करना नहीं जानते वे उनके दास वने रहते हैं।

उसी तरह वासनास्वरूप होने से सूक्ष्म रूप से सहृदय के हृदय में रहने वाले तथा अन्य भावों से अवाध्य एवं अन्य भावों को अपने में मिलाने में समर्थ होने से स्थिर है, वे ही स्थायी भाव रस वनते हैं, अन्य उनके उपकरण हैं।

विभाव

लोक में जो रत्यादि स्थायी भावों के उद्वोधक हैं कारण है अर्थात् वासना रूपतया सहृदय के हृदय में सूक्ष्म रूप से अवस्थित रत्यादि भाव जिनसे आस्वाद के योग्य हो जाए वे विभाव है। वे ही काव्य नाट्य संगीत एवं

चित्रों से समर्पित हुए विभाव हैं। जैसे राम सीतादि इसके दो स्वरूप हैं एक आलम्बन दूसरा उद्दीपन। आलम्बन विभाव वह है जिनके सहारे से रत्यादि भाव उद्‌बुद्ध होते हैं। उद्दीपन वे हैं जो रत्यादि भावों को उद्दीपित उत्तेजित करते हैं।

अनुभाव

लोक में जो रत्यादि के कार्य हैं मुख प्रसाद प्रभृति, वे ही जब काव्यनाट्य से समर्पित होते हैं तब अनुभाव कहलाते हैं। क्योंकि अनुभाव वह है जो भावों के स्थिति की सूचना दे। किसी को देखकर कोई हँस पड़े तो मालूम होगा कि इनका प्रेम है। किसी को देखकर किसी का शिर दर्द करने लगे तो समझना होगा कि इनका द्वेष है।

रस रूपता को प्राप्त हो रहे स्थायिभाव के कार्य अनुभाव हैं जैसा कि इस कारिका से स्पष्ट है :—

रसतां गच्छति स्थायिनि यत्कार्यमुपलक्ष्यते
अनुभावः स विज्ञेयः भाव संस्थान सूचकः।

व्यभिचारीभाव या संचारिभाव

व्यभिचारी या संचारी ये दो नाम भावों के हैं। इन भावों के ये नाम सार्थक हैं। लोक में जो अवान्तर कारणों से पैदा होने वाली रत्यादि भावों की अवस्थाएँ जो कि बीच-बीच में आती हुई भी स्थिर नहीं रह सकती जैसे जल में तरंग। वे ही जब काव्यादि में अपने-अपने विभाव एवं अनुभावों के द्वारा व्यक्त की जाती हैं तब व्यभिचारी कहलाती हैं।

इनसे रस सिद्धि का प्रकार शब्दार्थो भय रूप रघुवंशादि महाकाव्यों में भाव विभाव एवं अनुभावों के वर्णनात्मक बहुत वाक्य रहते हैं उनसे रस सिद्धि होती है।

दृश्य नाट्य में वाक्य अल्प रहते हैं किन्तु अभिनयों से ही रस सिद्धि होती है। संगीत में राग रागिनियों से होती है। और चित्रों में वही कार्य रेखाओं से होता है।

वासना

पूर्वोक्त वासना या भावना या संस्कार एक ही वस्तु है। यह वासना दो प्रकार की है। पहली कवि, नट, चित्रकार कलाकार एवं गायक में रहती है। दूसरी सामाजिक में रहती है। कवि वर्णन करता है, नट अभिनय करता है,

गायक गाता है, चित्रकार रेखाएं बनाता है और कलाकार कला दिखाता है। सहृदय सामाजिक उसका आस्वादन करता है। पहली वासना द्वितीय वासना की कारण है।। इन दोनों के रहने पर ही रस की अनुभूति होती है।

काव्य में विभावादिकों की लोक की तरह वाह्यसत्ता अपेक्षित नहीं है। केवल शब्द, अभिनय, रागादि, कला एवं रेखाओं से उनके सद्भाव की अपेक्षा है। उसके अनन्तर भावों में साधारणीकरण सहृदय की सहृदयतावश उन्मिपित भावना-व्यापार से स्वत: हो जाता है।

रस के विपय में नाट्य शास्त्रकार ने यह लिखा है:—

> यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्बहुभिर्युतम्
> आस्वादयन्ति भुंजाना भुक्तं भुक्तिविदो जना:
> भावाभिनयसंयुक्तान् स्थायिभावांस्ततो बुधा:
> आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसा: स्मृता: ।इति।

इस सिद्धान्त के अनुसार कारण मधुरादि रस युक्त पदार्थ जिनसे प्रपाणक बना उनमें भी मधुरादि गुण हैं और उनसे बने कार्य प्रपाणक में भी मधुरादि गुण हैं। उसी प्रकार आस्वाद हेतु शब्दार्थ रूप काव्य में ही गुण हैं। इसीलिए भरतादि आचार्यो ने काव्य गुण: काव्य गुण: यही कहा है। कारणके गुण ही कार्य में आते हैं। यदि कारण में गुण नहीं मानेंगे तो कार्य में गुण कहां से आएंगे। इनके द्वारा आस्वाद्य आनन्दांश सहित स्थायिभाव रूप रस में गुण मान सकते हैं।

तर्क विरोध

"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।" वाणी के विलास के प्रधान होने पर भी आनन्द ही लक्ष्य है। आनन्द की निर्विघ्नता से प्राप्ति हो अतएव विघ्नों को दोपों को हटाने के फलस्वरूप ही दोपाभाव को काव्य में स्थान दिया उसी तरह आनन्द की प्राप्ति में सहायक होने से गुणालंकारों को काव्य में निरूपण किया। उनमें दोपाभाव को बतलाने के उद्देश्य से शब्द एवं अर्थगत दोपों का निरूपण किया और इसी तरह शब्द एवं अर्थगत अलंकारों का निरूपण किया। तब गुणों ने ही क्या अपराध किया कि उनको शब्द एवं अर्थ में निरूपण न किया जाय।

आचार्यों ने रस के अनुभव कर्त्ताओं में, प्रबन्ध में, रस के अभिनेताओं तक में पृथक् पृथक् गुण माने हैं तब रस के अभिव्यंजक शब्द एवं अर्थ में गुण क्यों नहीं होंगे ?

सुकवित्व के स्थापक एवं निर्णायक प्रबन्धव्यापी गुण ये है—लालित्य, युक्तियुक्तत्व, विषयगत वैविध्य, विषयगत अस्खलित प्रवाहत्व, शब्द एवं अर्थ निष्ठ औचित्य। अभिनेता, अभिनय, अभिनेतव्य, पाठक, पाठ्य एवं पठनीय सबके गुण दोष अलंकारों का निरूपण नाट्य-शास्त्र में किया गया है। तस्मात् शब्द एवं अर्थ में गुणों को न कह कर केवल रस में मानना तर्क विरोध है, तथा संगति भी नहीं होती है।

संगति विरोध

जैसे जीवात्मा के विभु व्यापक होते हुए भी उसको कर्म एवं सुखादि भोग के लिए कर्म साधन भोगायतन इन्द्रियादि संघातात्मक शरीर की आवश्यकता है। अन्यथा 'न कर्म लिप्यते नरे" इस श्रुति के अनुसार उस जीव का कर्मों के साथ सम्बन्ध नहीं होने से भोग भी नहीं हो सकेगा। फलतः जीव के विषय में कुछ भी विचार होगा वह तथा कथित शरीर के द्वारा ही हो सकता है।

उसी तरह प्राप्य आत्मा रस की प्राप्ति का साधन एवं उसके विषय में विचार का आश्रय लोकोत्तर वर्णना निपुण कवि का रसानुगुण ललित शब्द रचनात्मक एवं उचित अर्थ वर्णनात्मक कर्मरूप काव्य है।

जैसे ईश्वर सर्वव्यापी सर्वशक्ति सम्पन्न होते हुए भी हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु प्रभृति असुर दैत्य दानव व राक्षसों के संहार के लिए और भक्तों को सुख देने के लिए बाराह नरहरि आदि विलक्षण रूप धारण करते हैं तदनुसार आनन्द स्वरूप रस की अनुभूति के लिए कवि लोग काव्य के शरीर शब्द एवं अर्थ में विलक्षणता का प्रदर्शन करते हैं। प्रतिभा का व्यय करके कुछ नूतन उल्लेख करते हैं। इस विलक्षणता या नूतन उल्लेख के लिए दो ही शैलियाँ हैं—एक धर्म के द्वारा दूसरी व्यापार के द्वारा। वे धर्म है दोपाभाव गुण एवं अलंकार। क्योंकि कभी किसी वस्तु को अपकृष्ट करने की तो कभी किसी वस्तु को उत्कृष्ट करने की या फिर किसी वस्तु को अपने यथार्थ स्वरूप में स्वस्वभाव में उपस्थित करने की आवश्यकता है। जैसा कि कहा है—

विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्
तदर्थमेव कवयो वैलक्षण्यमुपासते॥ इति॥

वे अपकर्षक दोप हैं अतएव सभी आचार्यों ने एक स्वर से कहा कि "रसापकर्षका दोपाः" और गुणनीय के उत्कर्षक हैं गुण, लोक एवं शास्त्र में

सभी महापुरुषों ने "गुणा उत्कर्ष हेतवः" माना है। इसी तरह अलंकार्य की शोभा करने वालों को अलंकारत्वेन निरूपण किया है।

यदि इन दोष गुण एवं अलंकारों का रस के साथ सम्बन्ध नहीं होगा तो दोष फ़िर दोष नहीं। गुण फिर गुण नहीं, अलंकार फिर अलंकार नहीं। सारांश इन तीनों का रस के साथ समान भाव से सम्बन्ध है। यह नहीं कि दोषों का या अलंकारों का रस के साथ शब्द या अर्थ के द्वारा परम्परा सम्बन्ध है और गुणों का साक्षात् सम्बन्ध है। इसलिए जैसे दोष अलंकारो का शब्द में अर्थ में निरूपण किया है तद्वत् गुणों का भी शब्द और अर्थ में ही निरूपण करना उचित है। शब्द और अर्थ में रहने पर भी उपकार रस का ही होगा। जैसे "बुद्धे र्भोग इवात्मनि" सांख्य मत में भोग बुद्धि करती है फलभागी आत्मा है। पराजय या विजय राजा की होती है, लड़ती है सेना। व्रीहीन् प्रोक्षति, व्रीहीनवहन्ति, यज्ञसम्भारान् अभ्युक्षति"। यहाँ प्रोक्षण, अवघात एवं अभ्युक्षण किया जाता है व्रीहि एवं यज्ञीय पदार्थों का किन्तु "संस्कारः पुंस एवेष्टः" यह महानैयायिक उदयनाचार्य ने लिखा है कि संस्कार पुरुष में होता है। तस्मात् गुण भी शब्दार्थ निष्ठ है अन्यथा संगति नहीं है। आत्मा शुद्ध है उसका संस्कार क्या? वस्तु की, मकान की, शरीर की सफाई या सजाई या उत्कृष्टि अथवा अपकृष्टि हो सकती है आत्मा की नहीं। तद्वत् दोष, दोषाभाव गुण और अलंकारों का निरूपण शब्द अर्थ में हो सकता है। आत्मभूत रस में नहीं। यदि रस में गुण हो सकते हैं तो वे हमारे द्वारा बतलाये गये मार्ग से ही सम्भव है।

व्यवहार विरोध

जिसका शब्द के साथ अन्वय व्यतिरेक है उसको शब्दगत, जिसका अर्थ के साथ अन्वय व्यतिरेक है उसको अर्थगत माना है। यह नियम व्यवहार दोष, गुण एवं अलंकार के लिए सभी आलंकारिकों के लिए मान्य है। तथैव मम्मटाचार्य ने भी नवम उल्लास में श्लेष के शास्त्रार्थ में लिखा है—इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः। न अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। दशम उल्लास में अलंकारों के निरूपण करने के बाद यह अलंकार शब्दगत क्यों है यह अर्थगत क्यों है इस शंका के समाधान में भी यही लिखा है। जैसे कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्यं शोभातिशय हेतुत्वे कश्चिदलंकारः शब्दस्य कश्चिदर्थस्य कश्चिच्चोभयस्येति चेत, उक्तमत्र

यथा काव्यं दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायामन्वय व्यतिरेकावेव प्रभवतः निमित्तान्तरस्याभावात् ।

कहने का सारांश अगर आचार्य के हृदय में गुण शब्दगत एवं अर्थगत होते हैं यह भावना न होती तो दोष एवं अलंकारों के नियम व्यवहार के साथ गुणों के भी नियम व्यवहार को क्यों लिखते । यह लेख ही प्रमाणित करता है कि शब्द, अर्थ एवं उभयगत गुण होते हैं । केवल रस में ही गुण रहते हैं शब्दादि में नहीं कहना, व्यवहार विरोध होगा ।

पण्डितराज का लिखना आपातरमणीय है

पंडितराज जगन्नाथ का रसगंगाधर में यह लिखना कि आत्मा निर्गुण है अतः गुण रस में नहीं होते हैं १ और रस की उपाधि रत्यादि प्रभृति ज्ञान या इच्छा रूप है अतः गुण है, गुण में गुण नहीं रहने से रत्यादि में भी गुण नहीं है २, मेरा (जगन्नाथ) का अभिमत है कि शब्दादि में गुण रहते हैं ३ । ये तीनों ही बातें बिना विचारे कही हैं ।

"निखिल कल्याण गुणों के आश्रय परमेश्वर हैं" इस सिद्धांत को वेद, पुराण, भागवत, निखिल विश्व के भक्त सन्त एवं महात्माओं ने कहा हैं । आत्मा निर्गुण है का अर्थ है मायिक गुण अनित्यत्व विकारित्वादि उनमें नहीं है । श्रुतियों में आत्मा के निर्गुणत्व का जो उल्लेख है वह शुद्ध आत्मा के विषय में लिखा है । हमारा रस तो रत्यादि सम्वलित चित् है अतः शुद्ध नहीं होने से गुण रह सकते हैं । "रत्यादि ज्ञान या इच्छा रूप होने से गुण हैं यह कथन जिस नियम के आधार पर है उसी नियम के आधार पर शब्द भी तो गुण है । उसमें गुणे गुणानंगीकारात् का सिद्धांत क्यों नहीं लागू होगा । तव शब्दादि में भी गुण कैसे रहेंगे । इस तरह पंडितराज का लेख आपातरमणीय है । तस्मात् शब्द, अर्थ, उभय एवं प्रवन्ध में गुण रहते हैं । इसलिए "न चकिंचित् गुणहीनं" लिखना ठीक ही है । सभी में गुण रहते हैं । इन गुणों के द्वारा प्राप्य रस को प्राप्त करने के वास्ते रीतियों की आवश्यकता होती है तदनुसार रीतियों का निरूपण हमने किया है ।

वृत्ति

रीति जानने के वाद प्राप्य रस की तरफ वढ़ने की वृत्ति उत्पन्न होती है । ये वृत्तियां भी शब्दगत एवं अर्थगत होती हैं । आनन्दवर्धनाचार्य ने वान्वृत्तियों के विषय में यों लिखा है—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ॥

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिक्याद्या वृत्तयः । वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः । वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण संनिवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च च्छायामावहन्ति । रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवभूताः । इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव ।

व्यवहार का नाम ही वृत्ति है । रसादि के अनुकूल अर्थ का जो उचित व्यवहार है वे ही कैशिकी वगैरह वृत्तियाँ हैं । इसी तरह शब्द का जो व्यवहार है वे ही उपनागरिकादि वृत्तियाँ कहलाती हैं । रस के अनुकूलतया सन्निवेशित वृत्तियाँ काव्य की एवं नाट्य की शोभा बढ़ाती हैं । क्योंकि रसादि उन दोनों के जीव भूत हैं । इतिवृत्त अर्थात् कथानक उनके शरीर है ।

इस उपर्युक्त कारिका की अवतरणिका में ध्वनिकार ने लिखा है कि भरतादि में यह विषय सुप्रसिद्ध है । भरत के नाट्यशास्त्र में यों लिखा है—

ऋषिभिस्तादृशी वृत्तिः कृताहार्यिक सात्विकैः
नाट्यवेदसमुत्पन्ना वागंगाभिनयात्मिका
पुनरिष्टसुजातेन नानाचारी समाकुलैः
मयाकाव्यक्रियाहेतोः प्रक्षिप्ता द्रुहिणाज्ञया
ऋग्वेदाद् भारती वृत्तिर्यजुर्वेदात्तु सात्त्वती
कैशकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा ॥ इति ॥

ऋषियों ने नाट्यवेद से प्रादुर्भूत हुई वाचिक, आंगिक, आहार्यिक एवं सात्विक अभिनय स्वरूपा उन चार वृत्तियों को ग्रहण किया । मैंने उनको ब्रह्मा की आज्ञा से काव्य की क्रिया निर्माण के लिए कवियों के वास्ते उपक्षिप्त किया । ऋग्वेद से भारती वृत्ति पैदा हुई, यजुर्वेद से सात्वती, सामवेद से कैशिकी, अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति पैदा हुई । ये अर्थ की वृत्तियां हुई । उपनागरिका परुषा कोमला या ग्राम्या ये तीन शब्द की वृत्तियां हुई ।

प्रवृत्ति

वृत्तियों के उत्पन्न होने पर लक्ष्य की ओर प्राणियों की प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टा होती है । तदनुसार प्रवृत्तियों का निरूपण भरत मुनि कथित पद से करते हैं—भरत नाट्य शास्त्र १४ अ०

पुंसश्चैव प्रवक्ष्यामि प्रवृत्तीनान्तु लक्षणम्
चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगत:
आवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चौड्रमागधी ॥

अत्राह—प्रवृत्तिरिति कस्मादिति। उच्यते-पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ता: ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। वृत्तिसंश्रितेष्वमीषु प्रयोगेषु अभिरता देशाः यत: प्रवृत्तिचतुष्टयमभिनिवृत्तं प्रयोगश्चोत्पादितः।

दक्षिणस्य समुद्रस्य तथा विन्ध्यस्य चान्तरे।
ये दशा: संश्रितास्तेषु दाक्षिणात्यास्तु नित्यशः ॥
आवन्तिका वैदिशिका सौराष्ट्रा मालवास्तया।
कुर्वन्त्यावन्तिकीमेते प्रवृत्तिं नित्यमेव तु ॥
अंगा वंगा कलिंगाश्च वत्साश्चैवौड्रमागधा:
अन्येऽपि देशा: प्राच्यां ये पुराणे सम्प्रकीर्तिताः
तेषु प्रयुज्यते त्वेषा प्रवृत्तिश्चौड्रमागधी।
हिमवत्संश्रिता ये तु गंगायाश्चोत्तरां दिशम्
ये श्रिता वै जनपदास्तेषु पांचालमध्यमा:।

फिर मैं प्रवृत्तियों का लक्षण कहता हूँ। नाट्य प्रयोग के अनुसार चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ कही हैं। आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली एवं ओड्र-मागधी ये उनके नाम हैं।

अब प्रश्न उठता है कि प्रवृत्ति क्यों? उत्तर—पृथिवी में अनेक देश हैं। उनमें भी भिन्न-भिन्न वेष, भाषा एवं आचार हैं और उनकी भी नाना वार्ताएँ हैं। उनको यह ख्यापन करती है। अत: प्रवृत्ति इसका नाम है। फिर प्रश्न होता है कि देश तो अनन्त हैं, उनकी प्रवृत्तियाँ चार ही क्यों? ये अनन्त देश, भारती प्रभृति चार वृत्तियों के आश्रित प्रयोगों में अभिरत हैं। अत: चार प्रवृत्तियाँ सम्पन्न हुई और इन्हीं का प्रयोग भी निर्मित किया। कहाँ किस प्रवृत्ति का प्रयोग किया जाता है उसको वतलाते हैं।

दक्षिण समुद्र और विन्ध्याचल के बीच के देशों में दाक्षिणात्या का प्रयोग होता है। उज्जैन, विदिशा, सौराष्ट्र और मालवादि मध्य के देशों में आवन्तिका का नित्य प्रयोग होता है। अंग बंगाल कलिंग वगैरह जो देश प्राची दिशा में है उनमें सबमें यह ओड्रमागधी प्रयुक्त होती है। गंगा से उत्तर हिमवान् के आश्रित जो प्रदेश हैं उन सबमें मध्यमा प्रवृत्ति पांचाली का

प्रयोग होता है। इसी पांचाली का दूसरा नाम पांचाल मध्यमा भी है। अतः नाट्य शास्त्र में तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण में पांचाल मध्यमा एवं पांचाली नाम लिखा है।

औचित्य

इस रस की प्राप्ति की प्रवृत्ति में औचित्य का अतिक्रमण न होने पावे यह भी ध्यान रखना आवश्यक है। क्योंकि "औचित्योपनिवन्धस्तु रसस्योपनिपत्परा।" औचित्य का उपनिवन्धन रस के लिए परम रहस्य हैं।

> काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैः गुणैः
> यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।

काव्य के अलंकार एवं गुणों का मिथ्या ही संग्रह किया है। जिनके द्वारा काव्य में जीवित भूत रस के अनुगुणत्व रूप औचित्य खोजने पर भी न दिखाई देवे।

> अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा
> औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

अलंकार शोभाधायक होते हैं गुण गुणन करने वाले अर्थात् उत्कर्षाधायक हैं। अगर काव्य का स्थिर जीवित कार्य है तो वह रसानुगुणत्व रूप औचित्य ही है। क्योंकि अलंकारों से वाहिरी शोभा होती है और श्रुत, सत्य एवं शीलादि गुण भी आहार्य हैं, कृत्रिम हैं, प्रयत्न सम्पाद्य है वास्तविक नहीं है।

> उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
> औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।

उचित स्थान में विन्यस्त होने पर ही उपमादि अलंकार सजाने में समर्थ हो सकते हैं अन्यथा नहीं। तथा औचित्य से अप्रच्युत ही गुण, गुणन रूप विशेष का आधान कर सकते हैं अन्यथा नहीं। क्योंकि गुण एवं अलंकारों से युक्त होने पर भी काव्य निर्जीव ही है यदि वह रसानुगुणत्वरूप औचित्य से पराङ्मुख हो तो। अतः औचित्य का निरूपण करते हैं।

> उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
> 'उचितस्यहि यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते'॥

जो जिसके अनुरूप अनुगुण हो वह उचित कहलाता है।

देश, वेष, भूषा, भाषा में भी वर्ण पद, वाक्य प्रबन्ध तथा वृत्ति प्रवृत्ति आचरण (क्रिया) वार्ता काल, पात्र, अवस्था, कुल, व्यवहार, रीति, जाति द्रव्य तथा संज्ञा में रस के उचित अनुरूप जो भाव हो उसे औचित्य कहते हैं।

और भी गुण, अलंकार, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, तत्व सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, शास्त्रीय प्रमेयसार संग्रह, प्रतिभा, विचार एवं आशीर्वाद में रस के उचित अनुरूप जो भाव हो उसे औचित्य कहते हैं।

अलंकार

रस को लक्ष्य मानकर गुणों के संग्रह के लिए पहले रीतियों का तथा प्रवृत्तियों का निरूपण किया था। वे रीतियाँ, शैलियाँ, एवं प्रवृत्तियाँ चेष्टाएँ आकर्षक होनी चाहिए यह भावना कवि के सहृदय के हृदय में होने पर निरूपणीय एवं निरूपण साधन सभी बातों में सौंदर्य लाने का प्रयास करता है। अतः सौंदर्य की अभिवृद्धि के लिए अलंकारों की गवेषणा का अवसर प्राप्त है।

अलंकार लक्षण समीक्षा

प्राचीन आचार्य भरत भामह वगैरह ने अलंकारों के नाम, लक्षण एवं उदाहरणों का प्रदर्शन किया। किन्तु अलंकार का सर्वानुगत एक सामान्य लक्षण नहीं लिखा। उनके परवर्ती आचार्य दण्डी एवं वामन ने लिखा भी किन्तु दण्डी ने जो अलंकार का लक्षण लिखा कि "काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते" काव्य की शोभा करने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं। उसको वामन ने गुणों का लक्षण लिखा है "काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ११ काव्य की शोभा करने वाले धर्म गुण होते हैं। यह वामन का सूत्र है। इस तरह वैमत्य होने से कोई निर्णय नहीं हुआ। उसके बाद उद्भट एवं रुद्रट ने भी कोई सामान्य लक्षण नहीं लिखा उसके बाद आचार्य मम्मट ने अलंकार का सामान्य लक्षण लिखा कि—

> उपकुर्वन्ति तं सन्तंयेऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
> हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

इसकी व्याख्या करते हुए प्रदीपकार ने लिखा है कि "तथा च रसोपकारकत्वे सति तदवृत्तित्वं, तथात्वे सति रसव्यभिचारित्वं, अनियमेन रसोपकारकत्वं चेति सामान्यलक्षमलंकाराणाम्।"

रस का उपकारक होता हुआ भी रस में नहीं रहने वाला १ रस का उपकार करें किन्तु रस के साथ जिसका व्यभिचार रहता है। अर्थात नियम से रस के साथ नहीं रहने वाला २ और रस का उपकार भी नियम से नहीं करनेवाला ३ भी अलंकार है। ये तीनों लक्षण सामान्य अलंकार के लिखे हैं।

ये तीनों लक्षण अतिव्याप्त हैं प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति रस के आलम्बन विभावों में हैं। जैसे जो रस में नहीं रहता हो किन्तु रस का उपकार करे यही प्रथम लक्षण है। यह धर्म रस के आलम्बन विभाव में भी है। क्योंकि ये रस का उपकार करते हैं और रस में नहीं रहते है अतः अतिव्याप्त है। रस का उपकार कर्ता हुआ भी रस के साथ व्यभिचारी हो यही द्वितीय लक्षण है। इस दूसरे लक्षण की अतिव्याप्ति उद्दीपन विभावों में है। जैसे—अग्नि धूम का उपकार करता हुआ भी धूम-रहित अयोगोलक में रहता है अतः धूम व्यभिचारी कहलाता है। उसी प्रकार ऊद्दीपन विभाव भी रस का उपकार करता हुआ रस रहित स्थल में रहता है अतः रसव्यभिचारी है। अतः अतिव्याप्त हैं। जैसे चन्द्रादि।

"अनियम से रस का उपकार करने वाला हो" यही तृतीय लक्षण है। इसकी अतिव्याप्ति कलश एवं खंजनादि में है। जैसे कवि लोग कामिनी के कुच एवं नेत्र आदि के साथ कलश एवं खंजनादि की तुलना करते हैं। अतः कलश एवं खंजनादि; एक सम्बन्धी ज्ञान से जैसे दूसरे सम्बन्धी का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार कुच नेत्रादि स्मारक होने से कभी अनिनय से रस के उपकारक हो जाते हैं अतः अतिव्याप्त हैं।

अलंकार के स्वरूप का निरूपण करते समय उपकुर्वन्ति लिखना महान् आश्चर्य का हेतु है। क्योंकि "उपात्प्रतियत्न वैकृतवाक्याध्याहारेषु च" इस पाणिनि सूत्र से उपपूर्वक कृ धातु से (अलंकार) भूषण अर्थ में सुट का आगम हो जाता है। अतः "उपस्कुर्वन्ति" कहना चाहिए न कि उपकुर्वन्ति। अगर यह सुटका आगम विकल्प से होता तब भी गति हो सकती थी किन्तु यह नित्य हो होता है अतः अलंकार का एक निर्दुष्ट सामान्य लक्षण लिखना आवश्यक हैं।

अलंकार का निर्दुष्ट सामान्य लक्षण

अपरांग भूत जो रसभावादि, उससे भिन्न जो व्यंग उपमादि उससे भिन्न होता हुआ, अनुप्रासादि विशिष्ट शब्द या उपमादि विशिष्ट अर्थ दोनों में से

किसी एक में रहने वाली समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई जो चमत्कार निष्ठ कार्यता उससे निरूपित जो समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई अनुप्रासादि या उपमादि से युक्त शब्द या अर्थ के ज्ञान में रहने वाली कारणता उससे निरूपित की गयी जो विषयिता सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई चमत्कार जनकतावच्छेदकता उसका जो अलंकारीय स्वरूप सम्बन्ध से अवच्छेदक हो वह अनुप्रासादि या उपमादि अलंकार है, यह हिन्दी में रूप है। संस्कृत भाषा में यों हैं—अपरांगीभूत रसाभावादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति अनुप्रासोपमादिविशिष्टशब्दार्थान्यतरनिष्ठा या समवायसम्बन्धावच्छिन्ना चमत्कार निष्ठा कार्यता तादृशकार्यता निरूपिता समवाय सम्बन्धावच्छिन्ना कारणता तादृशकारणतानिरूपितविषयित्व सम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकता तन्निरूपितालंकारीयस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकत्वमलंकारत्वम्।

इस लक्षण का समन्वय यह है कि वाच्य ही उपमादि अलंकार है: व्यंग्य उपमादि अलंकार नहीं हैं, अतः व्यंग्य भिन्न कहा। तब आपत्ति आई कि रसवत् प्रेय वगैरह तो व्यंग्य ही रहते हैं। तब व्यंग्य भिन्न रहने से कैसे काम चलेगा। तब कहा कि रसभावादि भिन्न जो व्यंग उपमादि उससे भिन्न लेना चाहिए। इस पर पुनः आपत्ति हुई कि रसभावादि से भिन्न व्यंग्य उपमादि हुए उनसे भिन्न रसभावादि हुए जो कि ध्वनि हैं। अतः कहा कि अपर के अंग हुए रसभावादि यहाँ लेने हैं। जो कि अलंकार हैं तब कोई आपत्ति अर्थात् अतिव्याप्ति नहीं हैं।

न्याय शास्त्र में अवच्छेदक शब्द प्रायः तीन अर्थों में प्रयुक्त होता हैं—सम्बन्ध, विशेषण और धर्म। यहाँ लक्षण में विशेषण अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं। अतः अवच्छेदकता के अवच्छेद का अर्थ हुआ विशेषणता में विशेषण। अनुप्रास से युक्त शब्द का उपमादि से युक्त अर्थ का ज्ञान कारण है जनक हैं और चमत्कार कार्य है जन्य हैं। चमत्कार सुख आनन्द रूप हैं अतः आत्मा मे समवाय सम्बन्ध से पैदा होता हैं। इससे चमत्कार निष्ठा कार्यता समवाय-सम्बन्धावच्छिन्ना कही गयी हैं। लक्षण में समवायसम्बन्धावच्छिन्ना न कहते तो चमत्कार रूपी कार्य जब कालिकादि सम्बन्ध से कालादि में रहता और उपर्युक्त शब्दार्थ ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है अतः कार्य एवं कारण में वैयधिकरण्य हो जाता। क्योंकि सामानाधिकरण्य में ही कार्य कारण भाव होता है जो कि इस तरह भग्न हो गया है। अतः वैयधिकरण्य को हटाने एवं सामानाधिकरण्य को लाने के लिए कार्यतावच्छेदक

सम्बन्ध समवाय कहा है। यही स्थिति कारता की भी है। यदि उपर्युक्त शब्दार्थं ज्ञान कालिकादि सम्बन्ध से कालादि में रहता है और चमत्कार रूपी कार्य होने से समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है। तब वही विभिन्नाधिकरणता की आपत्ति यहाँ भी आती अतः कारणतावच्छेदक सम्बन्ध भी समवाय कहा। फलतः समवाय सम्बन्धावच्छिन्ना तादृशज्ञाननिष्ठा कारणता कही गयी है। ऐसी कारणता के अवच्छेदक विशेषण शब्द और अर्थ हैं। अतः कारणतावच्छेदकता अनुप्रासोपमादि विशिष्ट शब्दार्थान्यतर निष्ठा कही अर्थात् कारण है अनुप्रासादि विशिष्ट शब्द ज्ञान, उपमादि विशिष्ट अर्थ ज्ञान, कारणता रही ज्ञान में और ज्ञान में विशेषण हैं शब्द और अर्थ, अतः कारणतावच्छेदक हुए शब्द और अर्थ। अतः कारणतावच्छेदकता शब्द और अर्थ में रही और शब्द में विशेषण है अनुप्रास तथा अर्थ में विशेषण है उपमादि अतः कारणतावच्छेदकता के अवच्छेदक अनुप्राउाद्यलंकार और उपमाद्य-लंकार है।

लक्षण में तादृशज्ञाननिष्ठकारणता से निरूपित की गयी अवच्छेदकता को विषयित्व-सम्बन्धावच्छिन्ना क्यों कहा, उसकी क्या जरूरत है। यह तो हमने बतलाया है कि अवच्छेदक के तीन अर्थ हैं। उनमें एक धर्म भी है। तब विशेषण होने से जैसे शब्द और अर्थ कारणतावच्छेदक होते हैं वैसे ही ज्ञानत्व भी धर्म होने से कारणतावच्छेदक हो सकता है इस तरह वह अवच्छेदकता ज्ञानत्व निष्ठा भी हो सकती है। उसको वारण करने के लिए अवच्छेदकता को विषयित्व-सम्बन्ध से अवच्छिन्ना कहा। ज्ञानत्व तो ज्ञान में समवाय सम्बन्ध से रहता है और शब्द और अर्थ के ज्ञान में विषयिता सम्बन्ध से रहते हैं। वही हमें विवक्षित है। अतः उस अवच्छेदकता को विषयित्वसम्बन्धच्छिन्ना कहा।

अच्छा। उस अवच्छेदकता में जो अवच्छेदक है उसको अलंकारीय-स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न क्यों कहा? उसका क्या फल है। देखो, जैसे उस अवच्छेदकता में विशेषण होने से अवच्छेदक अनुप्रासादि एवं उपमादि हैं वैसे ही "कामिनी गण्ड पाण्डुताम्" इन अनुप्रासादि वाले शब्दों में ण के ठीक बाद पड़ने वाले शब्दों में रहने वाली आनुपूर्वी (इसी को संस्कृत भाषा में "अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन शब्द विशिष्ट शब्दरूपानुपूर्वी कहते हैं) और "चन्द्र के समान मुख" उपमादि से युक्त अर्थों में मुखादि में रहने वाले चन्द्रत्व मुखत्वादि भी धर्मविधया अवच्छेदक हो सकते हैं। अतः अलंकारीय-स्वरूप सम्बन्ध से अवच्छिन्न अवच्छेदक को कहा। यद्यपि कोई भी आनुपूर्वी

शब्दों में रहेगी वह स्वरूप सम्बन्ध से ही रहेगी तथापि प्रातिस्विक स्वरूप से भिन्न-भिन्न रहेगी। अतः यहाँ अलंकारादि स्वरूप से रहने वाली आनुपूर्वी सामान्य स्वरूप से रहने वाली आनुपूर्वी से भिन्न हैं। और चन्द्रत्वादि तो समवायेन रहते हैं, वे स्वरूप से रहते नहीं। अतः लक्षण निर्दुष्ट हैं।

अलंकारों का क्रमिक विकास

यथापि हमारे यहाँ अलंकारों के क्रमिक विकास का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि संसार की सबमे पहली पुस्तक ऋग्वेद हैं और उसकी ऋचाओं में प्रचुर मात्रा में अलंकार मिलते हैं। तब कैसे कहें कि किस अलंकार का कब प्रकाश हुआ। तथापि उन अलंकारों की पहिचान पहले पहल किसने की और उनका स्वरूप निर्धारण करके लक्षणों का निर्माण किसने किया इसके आधार पर हमने लिखा कि अलंकारों के क्रमिक विकास का निरूपण हम करेंगे।

इस अलंकार क्षेत्र में आचार्यों के समय क्रम के अनुसार ही लिखना उचित हैं। तदनुसार उपलब्ध पहले आचार्य गार्ग्य हैं। ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि अलंकारादिकों के लक्षण या स्वरूप के निर्देशक किसी आचार्य का कोई ग्रन्थ हमारी दृष्टि में नहीं आया हैं। गार्ग्य के नाम का जो उल्लेख किया हैं वह भी भगवान् निरुक्तकार यास्क की कृपा से किया है। निरुक्त के अन्तर्गत निघण्टु के तृतीय अध्याय के १३वें वर्ग में (इत्युपमाः) उपमावाचक १२ नामों का संग्रह किया है, उसकी व्याख्या नैघण्टुक काण्ड है। उस नैघण्टुक काण्ड के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद में "अथातः उपमाः" अब यहाँ से उपमा वाचक नामों की व्याख्या एवं उदाहरणों का प्रदर्शन करते हैं ऐसी प्रतिज्ञा करके निरुक्तकार यास्क ने उपमा का लक्षण दिखाया हैं। वहाँ प्राचीन निरुक्तकार गार्ग्य का नाम उपमा के लक्षण निर्माता के रूप में दिया हैं। उसी के अनुसार हमने भी लिख दिया है।

निरुक्तकार ने इव, यथा, न, चिद्, नु, आ, भूत, रूप, वर्ण, वत, था, ये शब्द लिखें हैं और प्रत्येक को ले कर उदाहरण दिये हैं।

उपमा का सामान्य लक्षण लिखा है। यद्वै अतत् तत्सदृशं भवति। यह निरुक्त ग्रन्थ हैं। इसकी दुर्गाचार्य की व्याख्या—यत् किंचित् अर्थजातम् अतत् भवति तत्सरूपं च भवति। जैसे खद्योत पक्षी अग्नि नहीं हैं और अग्नि के समान भी हैं। अतः अग्नि से उसकी उपमा की जाती हैं। अग्निरिव

खद्योत:। अग्नि की तरह खद्योत हैं। गुणसामान्यात् उपमीयते,—इत्येवं" गार्ग्यः आचार्यो मन्यते। इस तरह साधारण गुण के बदौलत तुलना की जाती हैं। ऐसा गार्ग्य आचार्य मानते हैं। "तदासां कर्म" स आसामुपमानामर्थः। वह इन उपमाओं का अर्थ हैं। अप्रसिद्ध गुण वाले व्यक्ति के द्वारा गुणों का प्रकाशन ही उपमा हैं। कभी-कभी अपने से अपनी तुलना होती हैं। (वायोरात्मोपमा गतिः) जैसे वायु की गति वायु के समान हैं। किन्हीं गुणों से ज्याधान् श्रेष्ठ के साथ कनीयान् छोटे की तुलना की जाती हैं। या अत्यन्त प्रसिद्ध से अप्रसिद्ध की तुलना होतीं हैं। जैसे यह बालक सिंह हैं। सिंह में शौर्य श्रेष्ट हैं। उसके कारण बालक की तुलना करते हैं कि सिंह की तरह बालक पराक्रमी हैं।

प्रख्यात चन्द्रमा हैं, अप्रख्यात बालक हैं। चन्द्रमा से बालक की तुलना करते हैं। चन्द्रमा के समान बालक सुन्दर हैं। कभी-कभी अल्प गुणों वाले से अधिक गुण वाले की तुलना की जाती हैं किन्तु यह उपमा केवल वेद में ही दिखाई पड़ेगी।

इसका उदाहरण दिखाते हैं। तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। इस मन्त्र में अग्निमन्थन करने वाले बाहुओं की तस्करों के साथ उपमा हैं। बाहू प्रशस्त उपमेय हैं। तस्कर चौर अप्रशस्त उपमान हैं। इव के योग में उदाहरण हैं।

यथा के योग में लिखते हैं कि यथेति कर्मोपमा यथा वातः इत्यादि। यथा के योग में यह कर्मोपमा हैं। जैसे वायु, वन, समुद्र कम्पायमान होते हैं वैसे हे गर्भ ? तू भी कांपता हैं।

अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः। अग्निरिव ये मरुतः वातासो न स्वयुवः इत्यादि स्थल में नकार इवार्थक हैं।

निरुक्तकारों के व्याख्यानों के अनुसार नञ् का अर्थ सादृश्य वैदिक युग में था ही बाद में लोक में भी नञ् सादृश्य के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अब्राह्मण आदि उसके उदाहरण हैं। व्याकरण की परिभाषा भी "नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा हि अर्थगतिः।" "चतुरश्चिद्ददमानाद्" यहाँ चिद् अव्यय इवार्थक हैं। जैसे कितव से डरते हैं उसी तरह चतुर की गालियों से डरना चाहिए।

"जार आ भगम्" यहाँ "आ" यह इवार्थक उपसर्ग हैं। जार की सदृश भग हैं।

मेष इति भूतोपमा। मेष इत्येषा भूतशब्देनोपमा। मेषो भूतोभियन्नय:। मेषो भूत: मेष इव अभियन् आहूत: अय: प्राप्तवानसि। मेष इस मन्त्र में भूत शब्द इवार्थक है। मेषो भूत: अर्थात् मेष की तरह।

रूपोपमा का उदाहरण "हिरण्यरूप:" हिरण्य के समान रूप है। वर्णोपमा का उदाहरण हिरण्यवर्ण: हिरण्य के समान वर्ण है।

वत् का उदाहरण "ब्राह्मणवत्" "वृषलवत्" ब्राह्मण के सदृश वृषल के सदृश यहाँ सिद्धोपमा हैं। था का उदाहरण तं प्रत्नथा "पूर्वथा" "विश्वथे-मथा"। प्रत्न इव, पूर्व इय, विश्व इव, इम इव, यहाँ था उपमार्थक शब्द हैं।

इसके बाद नैघण्टुक काण्ड के तृतीय अध्याय के चतुर्थपाद के आरम्भ में लुप्तोपमा दिखाते हैं। यहां उपमावाचक शब्दों का उच्चारण नहीं किया जाना ही लोप हैं। लुप्तोपमा का मतलब यही हैं। वक्ता के अभिप्राय में यहां तुलना सादृश्य रहता हैं अत: अर्थात् उपमा की जाती हैं। अत: इनको अर्थोपमा कहते हैं। जैसे किसी की प्रशंसात्मक तुलना करनी होती हैं वहां यह तो नृसिंह हैं पुरुषव्याघ्र हैं। ऐसी लुप्तोपमाएँ समास में होती हैं।

यह प्रयोग व्यवहार में लुप्तोपमा चल पड़ी थी और पाणिनि के समय में वही व्यवहार प्रचलित था। अतएव इसी आशय के अनुसार वैदिक व्यवहार एवं लोक व्यवहार के प्राशस्त्य तथा बाहुल्य को देख कर ही भाषा तत्व के परम मर्मज्ञ महर्षि पाणिनि ने सूत्र बनाए। उपमितं व्याघ्रादिभि: सामान्याप्रयोगे। साधारण धर्म का जहाँ प्रयोग नहीं किया जाता हैं वहां उपमेय का व्याघ्रादि के साथ समास होवे। उपमेय का उपमान के साथ समास हो ऐसा सामान्यत: समास का अन्वाख्यान नहीं करके व्याघ्रादि विशेष के साथ समास का अनुशासन करते हैं। यह आचार्य प्रवृत्ति ज्ञापन करती हैं कि वैदिक व्यवहार तथा प्राचीन निरुक्तकारों का व्याख्यान एवं लोक व्यवहार तथा कवि समय प्रसिद्धि ही ऐसी हैं कि वाचक लुप्तोपमा का स्थल समास ही हैं। वाक्य में रूपक होता हैं यह बात अर्थात् सिद्ध हो गयी।

दूसरा सूत्र भी "उपमानानि सामान्यवचनै:" साधारण धर्मवाचक शब्दों के साथ उपमान का समास हो। यह भी समासगत ही वाचक लुप्तोपमा का प्रचार था। इसी का संकेत करता है। सिद्धान्त यही है। फिर कहीं व्यभिचार भी दिखाई देता है तो उसका यही उत्तर हैं कि "स्वतन्त्रेच्छस्य नियोगपर्यनुयोगौ न भवत:" स्वतन्त्र के लिए आज्ञा वगैरह का कोई मूल्य नहीं है।

इस तरह वैदिक युग में भी अलंकारों का लक्षण प्रणयन प्रतीत होता है। उसके बाद लोक में भी अन्य ग्रन्थों के अप्राप्य होने पर प्रथम आचार्य भरतमुनि हैं।

वेदों की ऋचाओं में अलंकार

कुछ वेदों की ऋचाओं में अलंकारों का दिग्दर्शन कराएँगे। जिससे यह ज्ञात हो जाएगा कि अलंकारों का प्रयोग बहुत पहले से ही है केवल "इदमित्थम्" इस प्रकार का यह अलंकार है ऐसा नाम स्वरूप लक्षण भेद प्रभेद एवं उपभेद का विस्तार धीरे-धीरे आचार्यों ने कैसे किया।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्। ऋक् १।२२।२०
सिंहा इव मा नदन्ति प्रचेतसः पिशा इव सुपिशः विश्ववेदस। ऋक् १।६४।८

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। यजुर्वेद ३।६०
अबोध्यग्निः समिधा जनानामति धेनुमिवायती मुखासम्
यद्वाहव प्रवय मुज्जिहानाः प्रमानवः सिस्रते नाकमच्छ। साम १।८।१०
अयमुते समतसि कपोत इव गर्भधिम् वचसाच्चिचन्न ओहसे। अथर्व कांड २०
इनमें उपमा अलंकार है।
तत्वायामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः
अहेलमानो वरुणो ह बोध्युरुशं समान आयुः प्रमोषीः। ऋक् १।२४।११
यहाँ उदात्त अलंकार है।
त्वं विश्वस्य मेधिरे दिवंचा ग्मश्च राजसि।
सयामनि प्रतिश्रुधिः। ऋक् १।२५।२०
इसमें पर्याय अलंकार है।
यत्र वाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। यजुः १।४८
यहाँ पुनरुक्तवदाभास और उपमा है अतः शब्दार्थालंकार की संसृष्टि है।
शन्नो देवीरभीष्टये शन्नो भवतु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः। साम १।३३
यहाँ लाटानुप्रास है।
आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु। कठोप १।३। यहाँ रूपक है।
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति। मुण्डकोप ३।१।१
यहाँ रूपकातिशयोक्ति है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः
अजो ह्येको जुषमाणो नुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः । श्वेता।श्प ४।५

यहाँ भी रूपकातिशयोक्ति है।

वाग्वै तेजः। शतपथब्राह्मण। यहाँ रूपक है।

१—भरतमुनि ४—अलंकार

भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक ये चार अलंकार लिखे हैं। जिनमें शब्द में रहने वाले अलंकार का निर्देश किया कि शब्दों का अभ्यास ही यमक है। अर्थात् बाकी अलंकार अर्थ के हैं।

२—अग्निपुराण १६—अलंकार

अग्नि पुराण में भगवान् व्यास जी ने अग्नि के द्वारा उपदेश दिलवाया है। उसमें शब्दालंकार ३ बतलाएँ हैं। अनुप्रास, यमक (अव्यपेत तथा सव्यपेत) और चित्र। चित्र के प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्त, च्युत, दत्त, च्युतदत्त एवं समस्या ये सात भेद दिये हैं। इसी में कमल, मुरज, खड्ग बन्धों का समावेश करके दुष्कर शब्द से भी कहा है।

अर्थालंकार ८

१—स्वरूप, (नामान्तर स्वभावोक्ति) इसके निज और आगन्तुक दो भेद हैं। २—सादृश्य, इसके उपमा १ रूपक २ सहोक्ति ३ अर्थान्तरन्यास ४ भेद हैं। ३—उत्प्रेक्षा। ४—अतिशयोक्ति, इसके संभव और असंभव दो भेद हैं। ५—विशेपोक्ति ६—विभावना ७—विरोध। ८—हेतु, इसके कारक और ज्ञापक दो भेद हैं।

शब्द और अर्थ उभय के अलंकार

प्रशस्ति १, कान्ति २, औचित्य ३, संक्षेप ४, यावदर्थता ५ अभिव्यक्ति ६, ये "षड्भेदास्तस्य जाग्रति" उसके भेद बतलाए हैं। परन्तु ये गुण ही हो सकते हैं, इनमें अलंकार का स्वरूप नहीं मालूम पड़ता।

१ समाधि, २ आक्षेप, ३ समासोक्ति, ४ अपह्नुति, ५ पर्यायोक्त—ये पांच अलंकार उभयगत लिखे हैं। ३ शब्दगत, ११ अर्थगत एवं ५ उभय-गत—इस तरह १९ अलंकार अग्निपुराण में बतलाएँ हैं, लक्षण भी लिखे हैं।

३—विष्णुधर्मोत्तर-उपपुराण—१८अलंकार

शब्दगत दो अलंकार १ अनुप्रास और २ यमक। अर्थगत १ रूपक, २ रूपकाभ्यधिक, ३ व्यतिरेक, ४ श्लेष, ५ उत्प्रेक्षा, ६ अर्थान्तिरन्यास, ७ उपन्यास, ८ विभावना, ९ अतिशयोक्ति, ११ यथासंख्य, १२ विशेषोक्ति, १३ विरोध, १४ निन्दास्तुति २, १५ निदर्शन और १६ अनन्वय। इस तरह कुल मिलाकर १८ अलंकार यहाँ हैं।

४—भट्टि काव्य—३८ अलंकार

आचार्य भट्टि ने यथापि कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा है किन्तु श्रीराम-चरित वर्णनात्मक भट्टिकाव्य लिखा है। हमने उसका एक-एक अक्षर पढ़ा है क्योंकि हमारी परीक्षा में उस समय था। उसमें ३ काण्ड हैं। तीसरे प्रसन्न काण्ड के १० वें सर्ग की टीका जयमंगला में आचार्य मंगल ने अलंकारों का निर्देश किया है। वे अलंकार संख्या में ३८ हैं।

विशेष वक्तव्य

अलंकारों के विषय में भरत मुनि ने बड़े संयत भाव से उल्लेख किया। ४ ही अलंकार लिखे हैं। उनसे पहले वेदों में, उपनिषदों में, ब्राह्मणों में एवं आधुनिकों के द्वारा परिज्ञात एवं निर्णीत कितने अलंकार भरे पड़े हैं, जिनका कुछ निर्देश हमने ऊपर किया है।

अग्निपुराण में चित्र के भेदों में जिन प्रहेलिका समस्या वगैरह का उल्लेख किया है, उनका कुछ निरूपण रुद्रटाचार्य तथा भोज ने अपने ग्रन्थों में किया। किंतु अन्य किसी ने नहीं किया। किंतु ये दोनों प्रहेलिका एवं समस्या साहित्य संसार में आवाल वृद्ध वनिता में प्रसिद्ध है और अलंकार रूप में इनको कोई नहीं मानता है। क्रीडोपयोगी माना है। साहित्य दर्पणकार ने तो प्रहेलिका को काव्य ही नहीं माना है। उनके न मानने का कोई तथ्य नहीं है। केवल कुछ कह दिया है। प्रहेलिका भी खूब रस वाले काव्य है। इसी तरह बिन्दुच्युतक, अक्षरच्युतक, बिन्दुदत्तक, अक्षरदत्तक भी भेद हैं। ये सब दुष्कर नाम से भी संगृहीत हैं।

नाट्यशास्त्र में अलंकारों के लक्षण उदाहरण दिये हैं। अग्निपुराण में नाम और लक्षण दिये हैं, विष्णु धर्मोत्तर में केवल नाम दिये हैं।

भामह ने नाम, लक्षण एवं उदाहरण दिये हैं। इसके बाद सभी आचार्यों ने यही क्रम अपनाया है। उपमा अलंकार को सभी ने माना है किंतु विष्णुधर्मोत्तर में इसका उल्लेख नहीं है। भरत की अपेक्षा पुराण, उपपुराणों में अनुप्रासादि १९ अलंकार अधिक हैं। रेखांकित अलंकारों को एक दूसरे पुराण ने नहीं लिखा है। कुछ को दोनों ने माने हैं।

४—भामह—३८

१—अनुप्रास ३ (औपनागरानुप्रास, ग्राम्यानुप्रास, लाटीयानुप्रास), २—यमक, ३—रूपक, ४—दीपक, ५—उपमा, ६—प्रेयः, ७—रसवत्, ८—ऊर्जस्वि, ९—पर्यायोक्त, १०—ससाहित, ११—उदात्त, १२—श्लिष्ट, १३—अपह्नुति, १४—विशेषोक्ति, १५—विरोध, १६—तुल्ययोगिता, १७—अप्रस्तुतप्रशंसा, १८—व्याजस्तुति, १९—निदर्शना, २०—उपमारूपक, २१—उपमेयोपमा, २२—सहोक्ति, २३—परिवृत्ति, २४—ससन्देह, २५—अनन्वय, २६—उत्प्रेक्षावयव, २७—संसृष्टि, २८—भाविकत्व, २९—आक्षेप, ३० अर्थान्तरन्यास, ३१—व्यतिरेक, ३२—विभावना, ३३—समासोक्ति, ३४—अतिशयोक्ति (अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति एक ही चीज है। इस वक्रोक्ति के न होने से हेतु, सूक्ष्म, लेश को अलंकार नहीं माना है), ३५—यथासंख्य, ३६—उत्प्रेक्षा, ३७—स्वभावोक्ति (इसको भी किसी ने अलंकार माना है ऐसा कहने का अर्थ है इनके मत में यह अलंकार नहीं है।), ३८—आशीः। यहाँ अग्निपुराण सम्मत शब्दालंकार चित्र तथा अर्थालंकार हेतु एवं समाधि छोड़ दिये गये हैं और २० अलंकार उसके अपेक्षा अधिक माने हैं।

५—दण्डी—३७

१—अनुप्रास, २—यमक, ३—स्वभावोक्ति या गति, ४—उपमा (३२ भेद), ५—रूपक (२० भेद), ६—दीपक (७ भेद), ७—आवृत्ति ३ (दीपक का रूपांतर,) ८—आक्षेप (२४ भेद), ९—अर्थान्तरन्यास ८, १०—व्यतिरेक ८, ११—विभावना, १२—समासोक्ति ३, १३—अतिशयोक्ति ३, १४—उत्प्रेक्षा, १५—हेतु, १६—सूक्ष्म, १७—लेश, १८—क्रम, १९—प्रेय, २०—रसवत, २१—ऊर्जस्वि, २२—पर्यायोक्त, २३—समाहित, २४—उदात्त, २५—अपह्नुति, २६—श्लिष्ट १०, २७—विशेषोक्ति, २८—तुल्ययोगिता, २९—विरोध, ३०—अप्रस्तुतप्रशंसा, ३१—व्याजस्तुति, ३२—निदर्शना, ३३—सहोक्ति, ३४—परिवर्ति, ३५—आशीः, ३६—संकीर्ण या संसृष्टि,

३७—भाविक । अनन्वय ससन्देह का उपमा में, उपमा रूपक का रूपक में, उत्प्रेक्षावयव का उत्प्रेक्षा में अन्तर्भाव किया है। भामह ने इनको पृथक् अलंकार माना है। आवृत्ति एवं क्रम ये दो नये अलंकार माने हैं। भामह ने हेतु, सूक्ष्म एवं लेश को वक्रोक्ति न होने से छोड़ दिया था, उनको यहाँ माना है और भामह स्वीकृत उपमेयोपमा एवं यथासंख्य को छोड़ दिया है।

६—वामन—३२

१-यमक, २—अनुप्रास, ३—उपमा, ४—प्रतिवस्तु, ५—समासोक्ति, ६—अप्रस्तुतप्रशंसा, ७—अपह्नुति, ८—रूपक, ९—श्लेष, १०—वक्रोक्ति, ११—उत्प्रेक्षा, १२—अतिशयोक्ति, १३—सन्देह, १४—विरोध, १५—विभावना, १६—अनन्वय, १७—उपमेयोपमा, १८—परिवृत्ति, १९—क्रम, २०—दीपक, २१—निदर्शना, २२—अर्थान्तरन्यास, २३—व्यतिरेक, २४—विशेषोक्ति, २५—व्याजस्तुति, २६—व्याजोक्ति, २७—तुल्ययोगिता, २८—आक्षेप, २९—सहोक्ति, ३०—संसृष्टि, ३१—उपमारूपक और ३२—उत्प्रेक्षावयव।

भामह, दण्डी एवं उद्भट ने जिसको श्लिष्ट लिखा उसी को वामन ने श्लेष कहा तब से श्लेष नाम चल गया। ससन्देह भी आज सन्देह नाम से चल पड़ा है। प्रतिवस्तूपमा का ही नाम इसने प्रतिवस्तु दिया है। भामह के उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को संसृष्टि के भेदों में परिगणित किया है। भामह, दण्डी एवं उद्भट के सम्मत प्रेय १—रसवत्, २—ऊर्जस्वि, ३—पर्यायोक्त, ४—समाहित, ५—उदात्त, ६—भाविक, ७—यथासंख्य, ८—स्वभावोक्ति, ९—आशीः को केवल दण्डी के आवृत्ति हेतु सूक्ष्म एवं लेश को, केवल उद्भट के पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, अनुप्रास की ३ वृत्तियों को तथा दृष्टांत को नहीं माना है। केवल वक्रोक्ति एवं व्याजोक्ति दो नये अलंकार कल्पित किये हैं।

यथा च गौणस्यार्थस्यालंकारत्वं तथा लाक्षणिकस्यापीति दर्शयितुमाह। सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। एतत्स्थलीय निर्देश से मालूम पड़ता है कि गौणी लक्षणा भिन्न है और सादृश्य से होने वाली लक्षणा शुद्धा है। आज के साहित्य जगत् में इसका उलटा हो गया है। इस तरह नाम के साम्य से यह नहीं समझना चाहिये कि जो लक्षण एक ने बतलाया दूसरे ने वही बतलाया है उत्तरोत्तर बड़ा भेद हो गया है। यह तो हमने संकेत कर दिया है। इसी तरह रूपक और श्लेष में भी अभेदारोप माना है किंतु श्लेष में

अनेकोपकारिसकृदुच्चारणरूप तन्त्र से धर्मी का उच्चारण करने से श्लेष होता है। विना तन्त्र के रूपक हैं। "दीप्तरसत्वं कान्तिः" इस अर्थगत कांति गुण का सम्बन्ध रसों के साथ निरूपण किया है। रस एवं गुणों का परस्पर सम्बन्ध यहां से ही शुरू हुआ और रसादिकों को अंग बनाकर अलंकार नहीं माना है। जैसा कि औरों ने माना है। इन्होंने सभी अलंकारों को उपमा का प्रपंच माना हैं जैसे—एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः। शब्दवैचित्र्य-गर्भेयमुपमैव प्रपंचिता। इन अपने तथा दूसरों के दृष्टांतों से उपमा का ही प्रपंच ये सब अलंकार हैं इसका कारण शब्दों की विलक्षणता है।

८—उद्भट—४१

१—पुनरुक्तवदाभास, २—छेकानुप्रास, ३—अनुप्रास, ४—लाटानुप्रास, ५—रूपक, ६—दीपक, ७—उपमा, ८—प्रतिवस्तूपमा, ९—आक्षेप, १०—अर्थान्तरन्यास, ११—व्यतिरेक, १२—विभावना, १३—समासोक्ति, १४—अतिशयोक्ति, १५—यथासंख्य, १६—उत्प्रेक्षा, १७—स्वभावोक्ति, १८—प्रेयस्वत्, १९—रसवत्, २०—ऊर्जस्वि, २१—पर्यायोक्त, २२—समाहित, २३—उदात्त, २४—श्लिष्ट, २५—अपह्नुति, २६—विशेषोक्ति, २७—विरोध, २८—तुल्ययोगिता, ३०—व्याजस्तुति, ३१—विदर्शना, ३२—संकर, ३३—उपमेयोपमा, ३४—सहोक्ति, ३५—परिवृत्ति, ३६—ससन्देह, ३७—अनन्वय, ३८—संसृष्टि, ३९—भाविक, ४०—काव्यहेतु और ४१—काव्यदृष्टांत।

उद्भट ने काव्यदृष्टांत जो आजकल दृष्टांत नाम से व्यवहृत है और पुनरुक्तवदाभास नये अलंकार माने हैं। अनुप्रास में भी छेकानुप्रास और लाटानुप्रास नाम वदला है। उपनागरिकादि वृत्तियों का संकेत एवं लक्षण लिया और अनुप्रास के उपयोगिनी वृत्तियां हैं यह भी कहा। किंतु वृत्यनुप्रास यह नाम करण नहीं किया। वाद में मम्मट ने वृत्यनुप्रास नामकरण किया। यथासंख्य एवं संकर नये हैं। भामह एवं दण्डी के निदर्शना की जगह विदर्शना नाम जानवूझ कर लिखा है, उसका अर्थ भी वतलाया है। भामह दण्डी सम्मत आशीः को छोड़ दिया है। भामह के उपमारूपक, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षावयव को और दण्डी के सूक्ष्म, लेश एवं क्रम को छोड़ दिया है। दण्डी का हेतु भी यहां काव्यहेतु नाम से निर्दिष्ट है। यही काव्यलिंग नाम से वाद में व्यवहृत हुआ है। सर्वालंकारिक सम्मत यमक का उपदेश आपने नहीं किया है। वामन स्वीकृत प्रतिवस्तु को ही प्रतिवस्तूपमः नाम दिया है।

६—रुद्रट—मुख्य संख्या ५४ मिश्रित संख्या ७३

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में ५ शब्दालंकार में—१–वक्रोक्ति, २–अनुप्रास, ३–यमक, ४–श्लेष और ५–चित्र। (जिस वक्रोक्ति को वामन ने अर्थालंकारों में परिगणित किया था, रुद्रट ने उसको भिन्न रूप से शब्दालंकारों में माना है।) ४ अर्थालंकार—१–वास्तव, २–औपम्य, ३–अतिशय और ४–श्लेष माने हैं। इन्ही चारों के ही प्रपंच अन्य अलंकार हैं। जैसे वास्तव के सहोक्ति वगैरह २३ भेद हैं, औपम्य के उपमा वगैरह २१ भेद हैं, अतिशय के पूर्व वगैरह १२ भेद हैं, अर्थश्लेष के १० भेद हैं (दण्डी के माने हुए १० भेदों को यहाँ भी स्वीकृति मिल गई है) और संकर के दो भेद हैं। इस तरह ५, २३, २१, १२, १० एवं २—कुल योग ७३ हैं। वे क्रमशः ये हैं :—

वास्तव के २३—१—सहोक्ति १, २–समुच्चय २, ३–जाति, ४–यथासंख्य, ५–भाव ०, ६–पर्याय, ७–विषम ०३, ८–अनुमान ०, ९–दीपक, १०–परिकर ०, ११–परिवृत्ति, १२–परिसंख्या ०, १३–हेतु ४, १४–कारणमाला ०, १५–व्यतिरेक, १६–अन्योन्य ०, १७–उत्तर ० ५, १८–सार ०, १९–सूक्ष्म, २०–लेश, २१–अवसर ०, २२–मीलित ० और २३–एकावली ०।

औपम्य के २१—१—उपमा, २–उत्प्रेक्षा ६; ३–रूपक, ४–अपह्नुति, ५–संशय, ६–समासोक्ति, ७–मत ०, ८–उत्तर ० ५, ९–अन्योक्ति, १०–प्रदीप० १, ११–अर्थान्तरन्यास, १२–उभयन्यास ०, १३–भ्रांतिमान् ०, १४–आक्षेप, १५–प्रत्यनीक ०, १६–दृष्टांत, १७–पूर्व ० ७, १८–सहोक्ति १, १९–समुच्चय २, २०–साम्य ०, २१–स्मरण ०।

अतिशय के १२–१—पूर्व ० ७, २—विशेष ०, ३—उत्प्रेक्षा ६, ४—विभावना, ५—तद्गुण ०, ६—अधिक ०, ७—विरोध, ८ विषम ०३, ९–असंगति ०, १०—पिहित ०, ११—व्याघात ०, १२—हेतु ४।

श्लेष के १०–१—अविशेष, २—विरोध, ३—अधिक, ४—वक्र, ५—व्याज, ६—उक्ति, ७—असंभव, ८—अवयव, ९—तत्त्व, १०—विरोधाभास।

संकर के २—१—संकर, २—संसृष्टि।

श्लेष को यहां शब्दालंकार और अर्थालंकार दो रूप दिये हैं जिसको कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने केवल अर्थालंकार ही माना है। इसके बाद परवर्ती आचार्यों ने श्लेष के दो रूप मानने शुरू कर दिये। चित्रालंकार को अग्नि-

पुराण स्वीकृत पथ से मान्यता दे कर पूर्ववर्ती भामह आदि से वढ़ गये हैं।

यहां उपरिनिर्दिष्ट ७३ संख्या में से शब्दगत तथा अर्थगत श्लेष को एक मान कर, तथा अर्थगत १० श्लेषों को भी एक मानकर ११ भेद निकाल देने तथा संकर के दो भेद तिलतण्डुल न्याय तथा क्षीरनीर न्याय को भी एक मानकर, एक और भेद को निकाल देने और सहोक्ति, समुच्चय एवं उत्तर को वास्तव के भेदों में तथा औपम्य के भेदों में, तथा विषम एवं हेतु को वास्तव एवं अतिशय के भेदों में, तथा उत्प्रेक्षा एवं पूर्व को औपम्य एवं अतिशय के भेदों में दो-दो स्थानों में गिना गया है जो ७ भेद होते हैं, इनको भी निकाल देने से बाकी संख्या ५४ होती है।

वक्रोक्ति एक नया अलंकार शब्दगत माना है। वामन का वक्रोक्ति इससे भिन्न है। शब्दगत श्लेष वर्णपदादि भेद से आठ प्रकार का तथा अर्थगत श्लेष, अविशेष, विरोधादि भेद से १० प्रकार का लिखा है यह एक दम नई कल्पना है। आश्चर्य है कि श्लेष के शब्दगत आठ भेद आज भी प्रचलित हैं। अर्थगत १० भेद आज स्वप्न हो गये हैं। अर्थात् परवर्ती किसी भी आचार्य मम्मट प्रभृति ने उल्लेख नहीं किया। इस तरह अर्थगत श्लेष एक ही प्रकार का रह गया।

अर्थालंकारों के वर्गीकरण की प्रक्रिया भी भिन्न है। भामह ने जिस अतिशयोक्ति (दूसरा नाम वक्रोक्ति है) को (कोऽलंकारोऽनया विना) सब अलंकारों की जननी कहा है क्योंकि उसके विना अलंकार ही कैसा ? उसको इस वर्गीकरण द्वारा कतिपय सामान्य अलंकारों की ही जननी है, सिद्ध किया है। दीपकालंकार में साम्य का रहना आवश्यक नहीं है, इसको सिद्ध किया हैं और मत, उत्तर, अर्थान्तरन्यास जिनकी साम्य के विना भी स्थिति हो सकती है उसको औपम्य में परिगणित किया और उदाहरण एवं लक्षणों के द्वारा औपम्य का प्रदर्शन भी किया। पद्धति आश्चर्यपूर्ण एवं विद्वतापूर्ण है। अलंकार विषय में काव्यप्रकाश के निर्माण में आचार्य मम्मट के लिए प्रधान सहायक यही ग्रन्थ मालूम पड़ता है। वृत्त्यनुप्रास का स्वरूप दिखलाने के लिए केवल उद्भटाचार्य की आविष्कृत वृत्तियों का आश्रय लिया है, वाकी तो इसी रुद्रट काव्यालंकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। शब्द श्लेप आठ प्रकार का यहां ही से लिया है।

पूर्ववर्ती आचार्य भामहादिसम्मत कतिपय अलंकारों को त्याग दिया है जैसे ऊपर में दिखाए हुए अलंकारों में जहां-जहां विंदु का संकेत है वे २७

अलंकार नये माने गये हैं। १—भाविक, २—निदर्शन, ३—उपमेयोपमा, ४—आवृत्ति, ५—आशीः, ६—रसवत्, ७—श्रेय, ८—ऊर्जस्वि, ९—समाहित १०—उदात्त, ११—छेकानुप्रास, १२—लाटानुप्रास, १३—पुनरुक्तवदाभास, १४—प्रतिवस्तूपमा, १५—उपमारूपक, १६—अनन्वय, १७—क्रम, १८—व्याजोक्ति और १९—तुल्ययोगिता ये अलकार त्याग दिये गये हैं। औरों ने पर्यायोक्त, इन्होंने (रुद्रट ने) पर्याय नाम दिया है। उपनागरिकादि तीन वृत्तियों को त्याग कर मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता, भद्रा नामक पांच वृत्तियां मानी हैं। नया स्वरूप है।

१०—महाराज भोज–७२

महाराज भोज ने अपने सरस्वती कण्ठाभरण में ७२ अलंकार लिखे हैं। २४ शब्दगत, २४ अर्थगत और २४ उभयगत।

शब्दगत–१—जाति, २—गति, ३—रीति, ४—वृत्ति, ५—छाया, ६—मुद्रा, ७—उक्ति, ८—युक्ति, ९—भणिति, १०—गुम्फना, ११—शय्या, १२—पठिति, १३—यमक, १४—श्लेष, १५—अनुप्रास, १६—चित्र, १७—वाकोवाक्य, १८—प्रहेलिका, १९—गूढ़, २०—प्रश्नोत्तर, २१—अध्येय, २२—श्रव्य, २३—प्रेक्ष्या, २४—अभिनीति।

अर्थगत—१–जाति, २–विभावना, ३–हेतु, ४–अहेतु, ५–सूक्ष्म, ६–उत्तर, ७–विरोध, ८–सम्भव ९–अन्योन्य, १०–परिवृत्ति, ११–निदर्शना, १२–भेद, १३–समाहित, १४–भ्रांति, १५–वितर्क, १६–मीलित, १७–स्मृति, १८–भाव, १९–प्रत्यक्ष, २०–अनुमान, २१–आप्तवचन "आगम", २२–उपमान, २३–अर्थापत्ति, २४–अभाव (अनुपलब्धि)।

उभयगत–१—उपमा, २—रूपक, ३—साम्य, ४—संशय, ५—अपह्नुति, ६—समाधि, ७—समासोक्ति, ८—उत्प्रेक्षा, ९—अप्रस्तुत प्रशंसा, १०—तुल्ययोगिता, ११—उल्लेख; १२—सहोक्ति, १३—समुचय, १४—आक्षेप, १५—अर्थान्तरन्यास, १६—विशेष, विशेषोक्ति, १७—परिष्कृति, परिकर, १८—दीपक, १९—क्रम, २०—पर्याय, २१—अतिशयोक्ति, २२—श्लेष, २३—भाविक, २४—संसृष्टि।

भोज के द्वारा प्रणीत यह अलकार विधान कुछ विलक्षणता रखता हुआ भी काव्यप्रकाशादि की तरह सहृदय पाठकों के परमोपकारी नहीं हुआ। तथापि संग्राह्य अवश्य है। यहाँ वैदर्भी वगैरह रीतियों और कैशिकी प्रभृति वृत्तियों को भी अलंकार मान लिया है। उपमा एवं रूपक वगैरह उभया-

लंकार माने हैं। आप्त वचन या आगम प्रमाण जो कि शब्दरूप है उसको भी अर्थालंकार माना है। श्रव्य, प्रेक्ष्य काव्य को भी अलंकार माना है। अभिनय, आंगिक, वाचिक, आहार्यिक (वेषभूषा) एवं सात्त्विक, अनुकरण को भी अलंकार मानना आदि-आदि विलक्षणताएँ हैं।

शब्दगत २४ अलंकारों में १—यमक, २—श्लेष, ३—अनुप्रास, ४—चित्र, ५—प्रहेलिका एवं ६—गूढ़ (इसको गुप्त और गूढ़ नामों से अग्निपुराण में लिखा है) प्रहेलिका को चित्र के भेदों में लिखा है अग्निपुराण ने, भोज ने इसको पृथगलंकार लिखा है) इन ६ अलंकारों के सिवाय १८ अलंकार नवीन लिखे हैं।

अर्थगत २४ अलंकारों में ये १० अलंकार नवीन माने हैं। शेष १४ अलंकार प्राचीन ही हैं :—१—अहेतु, २—सम्भव, ३—भेद, ४—वितर्क, ५—प्रत्यक्ष, ६—अनुमान, ७—आगम, ८—उपमान, ९—अर्थापत्ति और १०—अभाव अनुपलब्धि।

उभयगत २४ अलंकारों में एक उल्लेख अलंकार नवीन है, बाकी २३ अलंकार प्राचीन ही हैं।

११—आचार्य मम्मट—७४

आचार्य मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में शब्दालंकार (१—वक्रोक्ति, २—अनुप्रास, ३—यमक, ४—श्लेष, ४—चित्र और ६— पुनरुक्तवदाभास) माने हैं। एक पुनरुक्तवदाभास जिसको उद्भट ने विशुद्ध शब्दालंकार माना है उसको इन्होंने शब्दालंकार भी माना है और शब्दार्थोभयालंकार माना है।

१—रसवत्, २—प्रेय, ३—ऊर्जस्वि और ४—समाहित इन प्राचीनसम्मत चार को तथा १—भावोदय, २—भावसंधि, ३—भावशवलता इन अर्वाचीन रुय्यकादिसम्मत तीन को गुणीभूत व्यंग्य के भेदों में स्वीकृत करते हुए अलंकारों में गणित किया है एते च रसवदाद्यलंकाराः। ये रसवत् वगैरह अलंकार हैं।

अर्थगत—१—उपमा, २—अनन्वय, ३—उपमेयोपमा, ४—उत्प्रेक्षा, ५—ससन्देह, ६—रूपक, ७—अपह्नुति, ८—श्लेष, ९—समासोक्ति, १०—निदर्शना, ११—अप्रस्तुत प्रशंसा, १२—दृष्टान्त, १३—दीपक, १४—तुल्ययोगिता, १५—व्यतिरेक १६—आक्षेप, १७—विभावना, १८—विशेषोक्ति, १९—यथासंख्य, २०—अर्थान्तरन्यास, २१—विरोध, २२—स्वभावोक्ति, २३—व्याजस्तुति, २४—सहोक्ति,

२५–विनोक्ति, २६–परिवृत्ति, २७–भाविक, २८–काव्यलिंग, २९–पर्यायोक्त, ३०–उदात्त, ३१–समुच्चय, ३२–पर्याय, ३३–अनुमान, ३४–परिकर, ३५–व्याजोक्ति ३६–परिसंख्या, ३७–कारणमाला, ३८–अन्योन्य, ३९–उत्तर, ४०–सूक्ष्म, ४१–सार, ४२–असंगति, ४३—समाधि, ४४—सम, ४५—विषम, ४६—अधिक, ४७—प्रत्यनीक, ४८—मीलित, ४९—एकावली, ५०—स्मृति; ५१—भ्रान्तिमान्, ५२—प्रतीप, ५३—सामान्य, ५४—विशेष, ५५—तद्गुण, ५६—अतद्गुण, ५७—व्याघात, ५८—संसृष्टि, ५९—संकर, ६०—अतिशयोक्ति, ६१—प्रतिवस्तूपमा।

यहाँ मम्मट ने १—विनोक्ति, २—पर्याय, ३—सम, ४—सामान्य एवं ५—अतद्गुण ये पांच अलंकार नवीन लिखे हैं। मालादीपक नया अलंकार नहीं है क्योंकि "तन्मालादीपकं मतम्" द्वितीय परिच्छेद, १०८ श्लोक काव्यादर्श में दण्डी लिख चुके हैं। प्रमाणों में जो अनुमान है उसको अलंकार नहीं माना है किन्तु उद्भट ने काव्यहेतु नाम से जिसको लिखा है, उसी को इन्होंने अनुमान नाम से लिखा है।

१२ रुय्यक ८२

आचार्य रुय्यक ने अलंकारसूत्र या अलंकारसर्वस्व लिखा है। वस्तु एक ही है। सूत्र रुय्यक निर्मित है, वृत्ति मंखुक निर्मित है।

शब्दालंकार—१—पुनरुक्तवदाभास, २—छेकानुप्रास, ३—वृत्त्यनुप्रास, ४—यमक, ५—लाटानुप्रास, ६—चित्र।

अर्थालंकार—१–उपमा, २—अनन्वय, ३—उपमेयोपमा, ४—स्मरण, ५—रूपक, ६—परिणाम, ७—सन्देह, ८—भ्रान्तिमान, ९—उल्लेख, १०—अपह्नुति, ११—उत्प्रेक्षा, १२—अतिशयोक्ति, १३—तुल्ययोगिता; १४—दीपक, १५—प्रतिवस्तूपमा, १६—दृष्टान्त, १७—निदर्शना, १८—व्यतिरेक, १९—सहोक्ति, २०—विनोक्ति, २१—समासोक्ति, २२—परिकर, २३—श्लेष, २४—अप्रस्तुतप्रशंसा, २५—अर्थान्तरन्यास, २६—पर्यायोक्त, २७—व्याजस्तुति, २८—आक्षेप, २९—विरोध, ३०—विभावना, ३१—विशेषोक्ति, ३२—असंगति, ३४—विषम, ३५—सम, ३६—विचित्र, ३७—अधिक, ३८—अन्योन्य, ३९—विशेष, ४०—व्याघात, ४१—कारणमाला, ४२—एकावली, ४३—मालादीपक, ४४—उदार (सार), ४५—काव्यलिंग, ४६—अनुमान, ४७—यथासंख्य, ४८—पर्याय, ४९—परिवृत्ति, ५०—परिसंख्या, ५१—अर्थापत्ति, ५२—विकल्प, ५३—समुच्चय, ५४—

समाधि, ५५—प्रत्यनीक, ५६—प्रतीप, ५७—निमीलित, ५८—सामान्य, ५९—तद्गुण, ६०—अतद्गुण, ६१—उत्तर, ६२—सूक्ष्म, ६३—व्याजोक्ति, ६४—वक्रोक्ति, ६५—स्वभावोक्ति, ६६—भाविक, ६७—उदात्त, ६८—रसवत्, ६९—प्रेय, ७०—ऊर्जस्वि, ७१—समाहित, ७२—भावोदय, ७३—भावसन्धि, ७४—भावशबलता, ७५—संसृष्टि, ७६—संकर।

वामन के समय में १—रसवत्, २—प्रेय, ३—ऊर्जस्वि, ४—समाहित, इन चार अलंकारों की मान्यता बन्द हुई थी जो रुद्रट, भोज तक चली। मम्मट एवं रुय्यक ने पुनः उसको जागरूक की। १—परिणाम, २—विचित्र, ३—विकल्प ये तीन अलंकार नये प्रादुर्भूत किये हैं। वक्रोक्ति अलंकार को पुनः अर्थगतत्वेन रुय्यक ने माना है। मम्मट ने इसको शब्दगत माना था। वामन और रुद्रट के बीच में उद्भट ने भी रसवत् आदि चारों को अलंकार माना था।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः।

इस कारिका द्वारा ध्वनिकार ने रसवदादि सात को अलंकार रूप से स्वीकृति दी है। फलतः ये गुणीभूत व्यंग्य भी हैं, अलंकार भी हैं ऐसी मान्यता साहित्य शास्त्र की चल पड़ी। इस विषय को अलंकार के लक्षण की व्याख्या में स्पष्ट करेंगे। यहाँ काव्यलिंग एवं अनुमान को पृथक निर्देश किया है। काव्यप्रकाशकार ने उद्भट के अनुसार लक्षण करके काव्यहेतु को ही अनुमान कहा था।

१३ वाग्भट प्रथम ३९

वाग्भट नाम के दो विद्वान् आलंकारिक हुए हैं। वाग्भट प्रथम का वाग्भटालंकार ग्रन्थ है, द्वितीय का वाग्भट काव्यानुशासन है। वाग्भटालंकार के अनुसार अब लिखते हैं :—

शब्दलंकार—१—चित्र, २—वक्रोक्ति, ३—अनुप्रास, ४—यमक।

अर्थालंकार—१—जाति, २—उपमा, ३—रूपक, ४—प्रतिवस्तूपमा, ५—भ्रान्तिमान्, ६—आक्षेप, ७—संशय, ८—दृष्टान्त, ९—व्यतिरेक, १०—अपह्नुति, ११—तुल्ययोगिता, १२—उत्प्रेक्षा, १३—अर्थान्तरन्यास, १४—समासोक्ति, १५—विभावना; १६—दीपक, १७—अतिशयोक्ति, १८—हेतु,

१९–पर्यायोक्ति, २०—समीहित, २१—परिवृत्ति, २२—यथासंख्य, २३—विषम, २४—सहोक्ति, २५—विरोध, २६—अवसर, २७—सार, २८—श्लेष, २९—समुच्चय, ३०—अप्रस्तुतप्रशंसा, ३१—एकावली, ३२—अनुमान, ३३–परिसंख्या, ३४—प्रश्नोत्तर, ३५—संकर ।

भावाभास के अङ्गत्व से बने समाहित से भिन्न समाहित या समीहित नया अलंकार है। वाग्भट द्वितीय ने भी समीहित नाम से लिखा है, दोनों के लक्षण समान हैं। प्रश्नोत्तर को पहले भोज ने शब्दालंकार लिखा था, उसको इन्होंने अर्थालंकार माना है।

इन्होंने जाति, स्वभावोक्ति को ही माना है। और अलंकारों का संक्षेप ही किया किन्तु नवीनरूप में विस्तार नहीं किया। उसका कारण कहते हैं कि :—

अचमत्कारिता वा स्यादुक्तान्तर्भाव एव च।
अलंक्रियाणामन्यासामनिबन्धे निबन्धनम् ॥

इन अलंकारों से अतिरिक्त अलंकारों के न लिखने का हेतु है कि इन उल्लिखित अलंकारों से अतिरिक्त में चमत्कार नहीं या फिर स्वीकृतों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः पृथक् नहीं लिखा।

१४ हेमचन्द्र ३५

हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में शब्दालंकार १–अनुप्रास (लाटानुप्रास को भी इसी के अन्तर्गत लिखा है), २–यमक, ३–चित्र, ४–श्लेष, ५—वक्रोक्ति, ६—पुनरुक्ताभास ये ६ अलंकार लिखे हैं। पुनरुक्तवदाभास को ही पुनरुक्ताभास कहा है।

अर्थालंकार—१—उपमा, २–उत्प्रेक्षा, ३—रूपक, ४—निदर्शन, ५—दीपक, ६–अन्योक्ति, ७—पर्यायोक्त, ८—अतिशयोक्ति, ९—आक्षेप, १०—विरोध, ११—सहोक्ति, १२—समासोक्ति, १३—जाति, १४–व्याजस्तुति, १५–श्लेष, १६–व्यतिरेक, १७–अर्थान्तरन्यास, १८–ससन्देह, १९—अपह्नुति, २०—परावृत्ति, २१—अनुमान, २२—स्मृति, २३–भ्रान्ति, २४—विषम, २५—सम, २६–समुच्चय, २७—परिसंख्या, २८—कारणमाला, २९—संकर।

यहाँ परावृत्ति यह नया अलंकार माना है, स्वयं कल्पित है।

जैनाचार्यों ने अलंकारों में संक्षेप ही किया है। आप लोगों में से हेमचन्द्र का कहना है कि पुनरुक्तवदाभास एवं अर्थान्तरन्यास शब्दार्थोभयगत ही हैं तथापि क्रमशः शब्दवैचित्र्य एवं अर्थवैचित्र्य को उत्कट देखकर प्रथम दो को शब्दालंकारों में द्वितीय को अर्थालंकारों में कहा है। १ परिकर अपुष्टार्थत्वदोषाभाव रूप है। यथासंख्य भग्नप्रक्रमतादोषाभाव रूप है, २—विनोक्ति चमत्कारशून्य है, ३—भाविक भूतभावी पदार्थों का विष्कम्भक एवं प्रवेशकों के द्वारा प्रदर्शन कराया जा सकने के कारण अभिनेय होने से रूपकों के उपयोगी है। ४—उदात्त यदि समृद्धिशाली वस्तुलक्षण रूप अवस्था में है तब अतिशयोक्ति या स्वभावोक्ति से बाहर नहीं है। यदि महापुरुष वर्णन रस स्वरूप है तब ध्वनि के अन्तर्गत है। यदि वह वस्तु स्वरूप है तब गुणीभूत व्यंग्य ही है। १२ आशीः यदि अप्राप्त की प्राप्ति तुमको हो ऐसा आश्वासन कहना ही आशास्य है तब प्रियोक्ति मात्र है। यदि स्नेहातिशय से ऐसी इच्छा ही आशीः है तब चित्तवृत्ति रूप वह, प्रधान होने पर भावध्वनि है। गुणीभूत होने पर गुणीभूत व्यंग्य है। १३ प्रत्यनीक प्रतीयमानोत्प्रेक्षा रूप है, अतः ये सब अलंकार नही हो सकते हैं।

१५ पीयूषवर्ष जयदेव ६०

जयदेव ने अपने चन्द्रालोक में शब्दालंकार—१—छेकानुप्रास, २—वृत्त्यनुप्रास, ३—लाटानुप्रास, ४—स्फुटानुप्रास, ५—अर्थानुप्रास, ६—पुनरुक्तप्रतीकाश, ७—यमक, ८—चित्र एवं ९—श्लेष ये लिखे हैं। स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास दो अलंकार नये कल्पित हैं। पुनरुक्तवदाभास को ही पुनरुक्तप्रतीकाश नाम दिया है।

अर्थालंकार—१—उपमा ५, २—अनन्वय, ३—उपमेयोपमा, ४—रूपक ४, ५—परिणाम, ६—उल्लेख, ७—अपह्नुति ५, ८—उत्प्रेक्षा २, ९—स्मृति, १०—भ्रान्ति, ११—सन्देह, १२—मीलित, १३—सामान्य, १४—उन्मीलित ०, १५—अनुमान, १६—अर्थापत्ति, १७—काव्यलिंग, १८—परिकर, १९—परिकरांकुर ०, २०—अतिशयोक्ति ६, २१—प्रौढ़ोक्ति ०, २२—सम्भावन ०, २३—प्रहर्षण ०; २४—विषादन ०, २५—तुल्ययोगिता, २६—दीपक ३, २७—प्रतिवस्तूपमा, २८—दृष्टान्त, २९—हेतूक्ति ०, ३०—निदर्शना, ३१—व्यतिरेक; ३२—सहोक्ति, ३३—विनोक्ति, ३४—समासोक्ति, ३५—श्लेष, ३६—अप्रस्तुतप्रशंसा, ३७—अर्थान्तरन्यास, ३८—

विकस्वर ०, ३९—पर्यायोक्ति, ४०—व्याजस्तुति, ४१—आक्षेप २, ४२—विरोध, ४३—विरोधाभास, ४४—असम्भव ०, ४५—विभावना, ४६—विशेषोक्ति, ४७—असंगति, ४८—विषम, ४९—सम, ५० विचित्र, ५१—अधिक, ५२—अन्योन्य, ५३—विशेष, ५४—व्याघात, ५५—कारणमाला, ५६—एकावली, ५७—सार २, ५८—यथासंख्य, ५९—पर्याय, ६०—परिवृत्ति, ६१—परिसंख्या, ६२—विकल्प, ६३—समुच्चय, ६४—समाधि, ६५—प्रत्यनीक, ६६—प्रतीप, ६७—उल्लास ०, ६८—तद्गुण, ६९—पूर्वरूप ०२, ७०—अतद्गुण, ७१—अनुगुण, ७२—अवज्ञा ०, ७३—प्रश्नोत्तर, ७४—पिहित०, ७५—व्याजोक्ति, ७६—वक्रोक्ति, ७७—स्वभावोक्ति, ७८—भाविक, ७९—भाविक छवि०, ८०—उदात्त, ८१—अत्युक्ति० ।

यहां रसवदादि ७ को नहीं स्वीकार किया है "केषांचिद्रसवदादयः" ऐसा संकेत भर किया है। संसृष्टि या संकर को पृथक् अलंकार नहीं माना है। ० विन्दु से अंकित १५ अलंकार नवीन कल्पित हैं।

भोज ने प्रश्नोत्तर को शब्दालंकारों में माना और जयदेव ने प्रश्नोत्तर को अर्थालंकार में लिखा है।

१९—विद्याधर—८६

विद्याधर ने अपने ग्रन्थ एकावली में शब्दालंकार की कक्षा में ६ अलंकार (१—पुनरुक्तवदाभास, २—छेकानुप्रास, ३—वृत्त्यनुप्रास, ४—यमक, ५—चित्र एवं ६—लाटानुप्रास) दिखाये हैं। जिनमें पुनरुक्तवदाभास को अर्थनिष्ठ मानकर भी इसी कक्षा में प्रदर्शित किया है। बाकी ५ को शब्द पौनरुक्त्य में परिगणित किया है। श्लेष को शब्दालंकारों के निरूपण प्रसंग में नहीं लिखा है। अर्थालंकार प्रकरण में निर्देश करके सभंगपदगत श्लेष को शब्दालंकार और अभंगपदगत श्लेष को अर्थालंकार माना है। यह सब अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक के अनुसार लिखा है। किन्तु रुय्यक ने "तदेवं पौनरुक्त्ये पंचालंकाराः" लिखा है और चित्र को इन पांचों के बाद लिखा है। इसने चित्र को लिख कर लाटानुप्रास को लिखा है और फिर लिखा है कि "पंचैतेऽलंकारा निर्णीता पौनरुक्त्यकक्षायाम्" यह लेख जरा गड़बड़ है। यहां "पंचैते" के स्थान पर "षडैते" चाहता था। १—स्थानचित्र, २—वन्धचित्र एवं ३—आकार चित्र इन तीन प्रकार के चित्रों में भी वर्णों की आवृत्ति होती है। स्थानचित्र दो प्रकार का है। जहां कर्णिका स्थान में वर्ण का आना जाना होता

है, एक भेद यह है। औष्ठय, तालव्य, कण्ठयादि वर्ण ही केवल आवें या निरोष्ठच, निस्तालव्य या निष्कंठव्य वर्ण ही केवल आवें, यह दूसरा भेद है। अन्य चित्र है जो द्विकर्तृक हो जैसे हल, मुसल, मुरज, गोमूत्रिकादि बन्ध हो। आकार चित्र वह है जो एक कर्तृक हो जैसा पद्माकार, शैलाकार में वर्णों की लिपि हो। ऐसा लिखा है।

अर्थालंकार ८० लिखे हैं। अनिष्टविध्याभास अलंकार अलग माना है यथापि आक्षेप का भेद है ऐसा स्वीकार किया भी है। तत्कर नामक एक और अलंकार लिखा है। इस तरह दो अलंकार नये लिखे हैं और अतिशयोक्ति को रुय्यक के अनुसार दो बार भिन्न२ स्थानों में लिखा है। एक साध्यवसाना लक्षरण के स्वरूपान्तर्गत सिद्ध अध्यवसान मान कर, दूसरा विरोध की अवस्था में आ जाने पर लिखा है। परिकरांकुर एवं प्रश्नोत्तरिका दो अलंकार रुय्यक की अपेक्षा अधिक हैं किन्तु पीयूववर्ष जयदेव के द्वारा स्वीकृत हो चुके हैं, अतः नये नहीं हैं। रसवदादि ७ अलंकारों को रुय्यक की तरह अलंकार प्रकरण में न लिख कर काव्यप्रकाशकार मम्मट की तरह अपरांगगुणीभूत व्यंग्य के उदाहरणों को लिखकर "एत एव रसवदादयोऽलंकाराः" लिखा है। अतः ८० अर्था-लंकार माने हैं, ६ शब्दालंकार हैं कुल योग ८६ हुआ।

१७—विद्यानाथ–७४

विद्यानाथ ने अपने प्रतापरुद्रीय में शब्दालंकार ६ और अर्थालंकार ६८··· कुल ७४ अलंकार रुय्यक के समान ही लिखे हैं, अधिक नहीं लिखे। अनुमान एवं काव्य-लिंग को पृथक् लिखना ही यह द्योतित करता है। यहां विद्यानाथ ने अलंकारों की मौलिकता का आधार बड़ी पांडित्यपूर्ण पद्धति से किया है। इसको रुद्रट ने भी किया है, वह अव्यावहारिक ही रहा। उसके बाद रुय्यक ने जो किया था उसी का पल्लवन एवं विशदीकरण यहां किया है। आचार्य जिनसेन ने भी यहीं से यह क्रम लिया है। रुय्यक के निमीलित को यहां मीलन नाम दिया है और रसवादि ७ अलंकार यहां नहीं माने हैं। विरोधप्रकरणान्तःपातिनी अतिशयोक्ति को छोड़ दिया है, अतः ८ अलंकार रुय्यक से कम हैं।

१८—द्वितीय वाग्भट—६८

वाग्भट द्वितीय ने अपने काव्यानुशासन में पहले अर्थालंकार लिखे हैं, पीछे शब्दालंकार। हेतु देते हैं कि अर्थ को समझाने के लिए शब्द का प्रयोग

होता है अतः प्रथम उपेयभूत अर्थालंकारों को उदाहृत करते हैं। जिन्होंने पहले शब्दालंकार लिखे हैं उनका कहना है कि शब्द को समझ कर ही अर्थ को समझते हैं, अतः प्रथम शब्दालंकारों का निरूपण करते हैं। अस्तु। इन्होंने अर्थालंकार ६२ और शब्दालंकार ६ दिखाए हैं।

यहां अन्य एवं अपर दो अलंकार नये दिखाए हैं। समीहित नामक अलंकार भी नया जैसा ही है क्योंकि भावाभास की अंगता से बनने वाला अलंकार समाहित होता है, ऐसा सभी ने लिखा है। पर प्रथम वाग्भट ने समाहित लिखकर जो लक्षण दिया है वह लक्षण और द्वितीय वाग्भट का समीहित का लक्षण एकरूप एकार्थक है। हमारी समझ में प्रथम वाग्भट के मत में समीहित ही होगा। सम्भवतः ईकार की मात्रा छूट गयी या छपने में उठी नहीं होगी। इसलिए हमने कहा कि नया सा है। वस्तुतः दोनों जगहों में समीहित ही है।

१९—विश्वनाथ—८४

विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में शब्दालंकार सात और अर्थालंकार ७७ लिखे हैं। शब्दालंकारों में भाषासमक को एक नया अलंकार लिखा है तथा हिन्दी में तुकान्त कविता जिसके अन्त में तुक मिली हुई रहती है, उसी को विश्वनाथ ने अन्त्यानुप्रास लिखा है। श्रुत्यनुप्रास भी नई कल्पना है। इस प्रकार अनुप्रास के अन्तर्गत दो अलंकार नये हैं। और निश्चय एवं अनुकूल दो अर्थालंकार नये हैं।

२०—नरेन्द्रप्रभ सूरी—७७

नरेन्द्रप्रभ सूरी ने अपने ग्रन्थ अलंकार महोदधि में ५ शब्दालंकार, १ पुनरुक्तवदाभास उभयालंकार और ७१ अर्थालंकार लिखे हैं। इस तरह कुल योग ७७ अलंकार हैं। इसकी विलक्षणता यह है कि इन्होंने अन्य आचार्यों की तरह अर्थालंकार निरूपण के आरम्भ में उपमा को नहीं लिखा किन्तु अतिशयोक्ति को लिखा है। इस का कारण जो प्रसिद्ध है कि अतिशयोक्ति-सर्वालंकार बीज है उसी का विन्यास किया है। अतिशयोक्ति के बाद सहोक्ति को लिखा है। इसके बाद उपमा वगैरह का निरूपण किया है। काव्यप्रकाश का अनुसरण किया है। नवीन कोई अलंकार नहीं लिखा है। रसवदादि ४ अलंकार लिखे हैं, भावोदयादि नहीं लिखे हैं।

२१—भावदेव सूरी—५७

भावदेव सूरी ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकारसार में ६ शब्दालंकार एवं ५१ अलंकार अर्थगत लिखे हैं और रसवदादि अलंकारों में रसवत् एवं प्रेय

दो ही अलंकार लिखे हैं, बाकी ५ अलंकार छोड़ दिये हैं। "देवक" नाम का एक नया अलंकार लिखा है। इस तरह कुल योग ५७ है।

२२—आचार्य जिनसेन—७६

आचार्य जिनसेन ने अपने ग्रन्थ अलंकार चिन्तामणि में ४ शब्दालंकार एवं ७२ अर्थालंकार लिखे हैं—कुल योग ७६ होता है। नवीन अलंकार की कल्पना कुछ नहीं की है। अर्थालंकारों की मौलिक आधारशिला का पूर्णरूपेण निरूपण किया है जो कि विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय में तात्विक रूप से वर्णित हैं। उसका उद्धरण ज्यों का त्यों कर दिया है। एक स्थान में अपना मतभेद दिखाया है। जैसे विद्यानाथ ने साधर्म्य का तीन प्रकार से निरूपण करके लिखा कि "उपमानोपमेययोः स्वतो भिन्नत्वाच्छाब्दमेतन्न वास्तवम्।" यह साधर्म्य शाब्द ही है वास्तव साधर्म्य नहीं है। क्योंकि उपमान उपमेय स्वतः भिन्न हैं। इस पर अलंकार चिन्तामणिकार का खण्डन है कि "न वास्तवमित्येके तदसत्, साधर्म्यस्य वस्तुरूपत्वात्। अन्यथा खरविषाण शशविपाषयोरपि उपमानोपमेयत्वप्रसंगात। साधर्म्य वास्तव नहीं है यह किसी का कहना ठीक नहीं है। अगर वास्तव साधर्म्य नहीं मानेंगे तो खर एवं खरहे के शृंगों को भी उपमान उपमेय मानने का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा।

२३—नरसिंह कवि

नरसिंह कवि ने अपने ग्रन्थ नन्दराज यशोभूषण में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार लिखे हैं, कुल योग है। नया अलंकार कुछ नहीं लिखा है।

२४—श्री विश्वेश्वर पण्डित—६१

आचार्य विश्वेश्वर पंडित ने अपने ग्रन्थ अलंकारकौस्तुभ में काव्य प्रकाश के अनुसार ही अलंकार लिखे हैं। विचारसरणि विशुद्ध न्यायशैली में है।

२५—श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल—१०४

आप संन्यासी थे तथापि अलंकार शास्त्र में प्रेम था। इनका ग्रन्थ है अलंकार मणिहार। इसमें यति जी ने १०४ अर्थालंकारों का ही उपन्यास किया है। यह ग्रन्थ अलंकार कौस्तुभ के बाद का है। इन्होंने भी शब्दालंकार नहीं लिखे हैं।

२६—अप्पयय दीक्षित—११७

अप्पयय दीक्षित ने अपने ग्रन्थ चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द दोनों में शब्दालंकारों को नहीं लिखा है, केवल अर्थालंकार लिखे हैं। चित्रमीमांसा ग्रन्थ पहले वनाया है। क्योंकि कुवलयानन्द में श्लेष के उपसंहार में लिखा है कि "एतद्विवेचनं चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम्"। इसका विवेचन चित्रमीमांसा में देखें।

चन्दालोक के अनुसार ही इन्होंने अर्थालंकार लिखे हैं जिनमें १—हैतूक्ति, २—विरोध, ३—प्रश्नोत्तर, ४—भाविकच्छवि नामक चार अलंकार छोड़ दिये हैं और निम्नलिखित नये अलंकार माने हैं :—१—कारकदीपक (चन्द्रालोक की अपेक्षा नवीन अवश्य है किन्तु साहित्यदर्पण में इसका निरूपण हो चुका है), २—मिथ्याध्यवसिति, ३—ललित, ४—अनुज्ञा, ५—लेश (चन्द्रालोक की अपेक्षा अधिक है किन्तु दण्डी ने इसका निरूपण किया है), ६—मुद्रा (भोज ने इसको लिखा है), ७—रत्नावली, ८—विशेषक, ९—गूढोक्ति, १०—विवृतोक्ति, ११—युक्ति (अधिक है किन्तु भोज ने लिखा है), १२—लोकोक्ति, १३—छेकोक्ति, १४—निरुक्ति, १५—प्रतिषेध, १६—विधि, १७—रसवदादि ७, (चन्द्रालोक में इनका संकेत भर किया है किन्तु मम्मट एवं विश्वनाथ इनका निरूपण कर चुके हैं) १८—प्रत्यक्षादि ६ (अधिक हैं किन्तु भोज इनका निरूपण कर चुके हैं), १९—संभव (भोज के ग्रन्थ में है), २०—ऐतिह्य, २१—आचार, २२—आत्मतुष्टि, २३—श्रुति एवं २४—लिंग (ये चार शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत हैं ऐसा स्वयं इन्होंने लिखा है), २५—संसृष्टि, २६—संकर ४ (इन संसृष्टि और संकर का चन्द्रालोक में निरेध किया है।

२७—श्री शोभाकर मित्र—१०६

श्री शोभाकर मित्र ने अपने अलंकाररत्नाकर में १—पुनरुक्ताभास, २—यमक, ३—अनुप्रास ३, ४—चित्र ये चार शब्दालंकार माने हैं। अर्थालंकार १०२ माने हैं। १—असम, २—उदाहरण, ३—प्रतिमा ३, ४—विनोद ४, ५—व्यासंग, ६—वैधर्म्य, ७—अभेद, ८—प्रतिभा, ९—क्रियातिपत्ति, १०—विध्याभास, ११—सन्देहाभास, १२—विकल्पाभास, १३—अचिन्त्य, १४—अशक्य, १५—व्यत्यास, १६—समता, १७—उद्रेक, १८—तुल्य, १९—अनादर, २०—आदर, २१—अनुकृति, २२—प्रत्यूह, २३—प्रत्यादेश, २४—व्याप्ति, २५—आपत्ति, २६—विधि, २७—नियम, २८—प्रतिप्रसव, २९—तन्त्र, ३०—

प्रसंग, ३१–वर्धमानक, ३२—अवरोह, ३३—अतिशय, ३४—शृंखला, ३५—विवेक, ३६–परभाग, ३७–उद्‌भेद, ३८ गूढ ये—अलंकार इन्होंने नवीन कल्पित किये हैं। विद्वान् हैं, प्रदिमा के द्वारा अपना विकास किया है। गूढ़ को भोज ने शब्दालंकार कहा, इन्होंने अर्थालंकार कहा है।

२८—पंडितराज जगन्नाथ–७०

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ रसगंगाधर में शब्दालंकारों को नहीं लिखा हैं। यह ग्रन्थ अधूरा है। शायद लिखते परन्तु प्राप्य ग्रन्थ में केवल ७० हैं।

इन अलंकारों में तिरस्कार अलंकार एक नया है। ७० अलंकारों के विषय में विवेचन पुरःसर लक्षण एवं उदाहरण लिखे हैं। उत्तर अलंकार पूर्ण नहीं लिखा गया और भी मुख्य अलंकार जिनको सभी आचार्यों ने माना है जैसे भाविक, उदास वगैरह तथा संसृष्टि एवं संकर का निरूपण रह गया है। गुणीभूत व्यंगत्व एवं अलंकारत्व में विरोध नहीं माना है प्रत्युत दोनों धर्मों का सामानाधिकरण्य माना है। गुणीभावे वक्ष्यन्ते नामानि च, इस तरह प्रतिज्ञा किये हैं कि गुणीभूत व्यंग्यों के उदाहरण एवं नामों को लिखेंगे परन्तु दैवगति नहीं लिख पाए। वहुत विषय छूट गये जिन पर पंडित-राज का पांडित्यप्रकर्ष मालूम पड़ता। यह ग्रन्थ अप्पयय दीक्षित आदि के साथ विवाद से भरा पड़ा है।

२९—गोस्वामी कर्णपूर—७२

गोस्वामी कर्णपूर ने अपने अलकारकौस्तुभ में काव्यप्रकाश में कहे हुए ही अलंकारों का निरूपण विशेष रूप से किया है, अपना नया मत कुछ भी नहीं लिखा है। शब्दालंकार ६ लिखे हैं।

> उपमादय एते हि व्याघातान्ता क्रमेण हि
> द्विषष्टि संख्या एवैतेऽलंकारा बहवः पुनः

उपमा से लेकर व्याघात पर्यन्त ६२ अलंकार माने हैं जिनमें उपमा के तीन भेदों को भी मिला दिया है। मूलतः ५९ हैं। संकर और संसृष्टि को इनसे अलग माना है। उसके भेदों की गणना विलक्षण प्रकार से की है। जो गणना रसों के गुणीभूत एवं ध्वनियों के परस्पर संकर एवं संसृष्टि के प्रकार से मेलन कर काव्यप्रकाश में दिखाई है, वही गणना यहाँ भी है।

रसवदादि ४ अलंकार अलग लिखे हैं। इस तरह ६ शब्दगत, ६२ अर्थगत और ४ रसवदादि मिलाकर ७२ अलंकार होते हैं। भावोदय वगैरह तीन को नहीं लिखा है।

३०—केशव मिश्र—१४

केशव मिश्र ने अलंकारशेखर में ८ शब्दालंकार लिखे हैं। पुनरुक्तवदाभास छोड़ दिया है और गूढ़ प्रहेलिका एवं प्रश्नोत्तर पुराने अलंकार मान लिये हैं। अर्थालंकार १४ लिखे हैं। आप लिखते हैं कि "एवमर्थालंकाराश्चतुर्दश न चापरे"। इस तरह अर्थालंकार १४ ही हैं इससे अधिक और नहीं हैं। अपने से प्राचीनों के असंगति नामक अलंकार का नाम आपने "अन्यदेश" लिखा है और समीहित का नाम भी समाहित दिया है। विरोध एवं विरोधाभास दो प्रकार से इसको लिखा है। १४ अलंकार ये हैं:— १. उपमा, २. रूपक, ३. उत्प्रेक्षा, ४. समासोक्ति, ५. अपह्नुति, ६. समाहित, ७. स्वभाव, ८. विरोध, ९. सार, १०. दीपक, ११. सहोक्ति, १२. अन्यदेशत्व, १३. विशेषोक्ति, १४. विभावना।

३१—विद्याभूषण—८६

रसगंगाधर के निर्माता पं० राज जगन्नाथ के बाद १८ वीं शताब्दी में इन्होंने अपने ग्रन्थ साहित्य कौमुदी में काव्य प्रकाश, कुवलयानन्द एवं रसगंगाधर के अनुसार अलंकारों को लिखा है। ६ शब्दालंकार लिखे हैं और ६१ अर्थगत अलंकार काव्यप्रकाश के अनुसार लक्षण लिखते हुए माना है, और भाषासमक को रुद्रट एवं विश्वनाथ के अनुसार लिखा हैं। कुछ अलंकार अग्निपुराण के अनुसार जैसे विन्दुच्युतक, च्युतदत्ताक्षर, क्रियागुप्त लिखे हैं। बाकी १५ कुवलयानन्द एवं रसगंगाधर के अनुसार लिखे हैं। इस तरह ६ शब्दगत, ८० अर्थगत मिला कर ८६ अलंकार सब हैं।

३२—अच्युतराय—१०२

अच्युतराय ने अपने ग्रन्थ साहित्यसार में १०० अलंकार अर्थगत माने हैं और अनुप्रास एवं यमक २ अलंकार शब्दगत माने हैं। इस तरह १०२ माने हैं। कोई नवीन अलंकार का आविष्कार नहीं किया है।

३३—भट्टदेव शंकर—११५

भट्टदेव शंकर ने अपने ग्रन्थ अलंकार मंजूषा में शब्दालंकार नहीं लिखे हैं, अर्थालंकार लिखे हैं। जो अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के ही सम्मत हैं।

नवीन "चित्र" नामक अर्थालंकार आविष्कृत किया है और ललितोपमा नाम से पदार्थवृत्ति निदर्शना को लिखा है। इसने संभव, ऐतिह्य, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को नहीं माना हैं और कुवलयानन्द ने चित्र एवं पदार्थ निदर्शना का परि-गणन नहीं किया है। अत: कुवलयानन्द एवं अलंकार मंजूषा में दो अलंकारों का हेरफेर है।

अलंकारों के विकास का प्रकार

इस तरह ऊपर दिखाए हुए निर्देशों के अनुसार भरत से आरम्भ कर के भट्टदेव शकर पर्यन्त ३३ आचार्यो द्वारा उनके ग्रन्थों में जैसे जैसे ह्रास एवं वृद्धि अलंकारों में हमें उपलब्ध हुई हमने उसे दिखाई। सम्भव है इस हमारे लेख में कुछ त्रुटियाँ हों (गच्छत: स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादत:) तथापि अलंकारों के क्रमिक विकास का स्वरूप यही है। हमने यह स्पष्ट दिखाया है कि पूर्ववर्ती किस आचार्य ने कितने अलंकार माने और परवर्ती ने किनको ग्रहण किया किनको छोड़ा और कितने नये स्वीकार किये। यही अलंकारों का ही क्या, वस्तु मात्र के क्रमिक विकास जानने का प्रकार है, फलतः हमने यही प्रकार दिखाया है। आरम्भ में चार ही अलंकारों के नाम तथा उनके लक्षण उदाहरण दिखाए हैं। यह लौकिक उदाहरणों की कथा है। वैदिक उदाहरण तो इतने हैं कि आचार्य लोग उतने अलंकारों का नामकरण भी नहीं कर सके। सबसे अधिक अलंकारों की संख्या कुवलयानन्दकार ने दिखाई है, वह संख्या ११७ है। इसमें शोभाकर के आविष्कृत नितान्त नये—जिनको इनके सिवाय किसी ने स्पर्श भी नहीं किया उन ३६ अलंकारों की संख्या को मिला दी जाय तो ११७-३८ सम्मिलित संख्या १५५ हो जाती है।

अलंकारों की मान्यता का सिद्धांत

'अलंकारों की मान्यता का सिद्धान्त' इसके दो भाव हो सकते हैं। एक तो यह है कि अलंकारों की क्या आवश्यकता है, अलंकारों के विना क्या क्षति थी, अलंकारों से किस अभाव की पूर्ति हुई या किस लक्ष्य की सिद्धि हुई, क्या वह लक्ष्य अन्य किसी गुण या रीति से सिद्ध नहीं हो सकता था? दूसरा भाव, इतने भेदों एवं प्रभेदों का मूल क्या है अर्थात् किस आधार पर इतने अलंकारों की कल्पना हुई, इनका मौलिक तत्व क्या है। इनके वर्गीकरण का सिद्धान्त क्या है।

प्रथम भाव की व्याख्या में हमारा कहना है कि आवश्यकता आविष्कारों की जननी है। आवश्यकता इस बात की हुई कि एक तरफ कहा जाता हैं कि

'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' काव्य के विषय में आलाप बातचीत भी नहीं करना चाहिए, अर्थात् काव्य को नहीं पढ़ना चाहिए। दूसरी तरफ कहते हैं कि "काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्" विद्वानों का विनोद काव्य से ही होता है। क्योंकि "करोति कीर्तिं प्रीतिंच साधुकाव्य-निषेवणम्" साधु काव्य के सेवन से आनन्द मिलता है और लोक में प्रशंसा होती है।

किसी भी वस्तु की, या व्यक्ति की साधुता याने अच्छाई की कसौटी उसकी उपादेयता है। उपादेयता (याने लेने लायक यह है) निर्भर है उसके आकर्षक तत्वों पर, आकर्षक तत्व हैं गुण और अलंकार। गुणों के बाद अलंकार का स्थान है। जो कार्य गुण नहीं कर सकते या गुणों के करने के बाद जो कार्य अवशिष्ट रह गया उस कार्य की संपत्ति अलंकारों से होती है। इस बात को युक्ति से स्पष्ट करते हैं।

गुणवत्यपिनिर्दोषेऽलंकारैः काव्यराजनि
जायतेऽर्यैव सुषमा सेनोपकरणैरिव ॥

जैसे राजा प्रमादादि दोषों से रहित है और न्याय पुरःसर शासन करने की योग्यता भी रखता है किन्तु उसका राजभाव विकसित होता है सेना वगैरह उपकरणों से ही, ठीक उसी तरह काव्य की भी स्थिति है। काव्य दोषों से रहित एवं गुणों से भी युक्त है किन्तु विलक्षण सुषमा उसमें अलं-कारों से ही है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि "सर्वे गुणाः कांचनमाश्र-यन्ति"। सभी गुण कांचन का आश्रयण करते हैं। बड़े-बड़े गुणी भी धनियों के द्वार पर दौड़ते हैं। इसका आशय यह है कि जो लक्ष्य गुणों से सिद्ध नहीं हो सकता एवं जिस अभाव की पूर्ति गुणों से नहीं हो सकती है उसके लिए अलंकारों की आवश्यकता है। इसीलिए कहा भी है कि "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्" जैसे कितनी भी हृष्ट पुष्ट गैया क्यों न हो अगर उसको भूषा (चारा) नहीं मिले तो वह दीन हीन क्षीण हो कर बीभत्स हो जाती है उसी तरह कितना भी कान्त नायिका का वदन क्यों न हो किन्तु भूषा अलंकार के बिना वह अच्छा नहीं लगता।

अब दूसरे भाव "किस आधार पर इतने अलंकारों की कल्पना हुई, इसका मौलिक तत्व क्या है" की व्याख्या करते हैं।

अलंकारों की विभिन्नता का मूल

काव्य के अलंकारों की विभिन्नता का मूल हमें खोजना है अतः काव्य के स्वरूप को जानना आवश्यक है क्योंकि काव्य में ही अलंकारों का

निरूपण किया गया है। प्राचीन आचार्यों ने काव्य का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और ध्वनि काव्य की आत्मा है। शरीर का लक्षण है "भोगायतनं शरीरम्"। भोग्य वस्तुओं के उपभोग का साधन शरीर है। उपभोक्ता आत्मा है। अतः रस-रूप आत्मा के भोग्य वस्तु अलंकारों का निरूपण शरीर भूत शब्द और अर्थ में करना चाहिए, जिनमें शब्द के दो स्वरूप हैं—एक उच्चारण दूसरा लिपि। उच्चारणीय शब्द ४ प्रकार का है जैसे ध्वनि, वर्ण, पद एवं वाक्य।

ध्वनिर्वर्णः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्
यस्याः सूक्ष्मातिस्थूलाभ्यां वाग्देवीं तामुपास्महे ॥

और लिपि स्वरूप शब्द एक प्रकार का है। अतः शब्द के अलंकारों की विभिन्नता के प्रकार ५ ही हैं। अतः शब्दालंकार ५ ही हैं।

क्योंकि अलंकारों का मूल तत्व अतिशयोक्ति है। जैसा कि "कोऽलंकारों नया विना" इसके विना कैसा अलंकार, कहा है। अतः ध्वनि एवं वर्ण वगैरह को भी किसी न किसी अतिशय से युक्त करना अलंकारत्व के लिए आवश्यक है। १. शब्दों में पहला ध्वनि है। ध्वनि में अतिशय उसका विकार ही है। जिसके कारण वक्ता शोकाकुल, भयाकुल, चिन्ताग्रस्त, क्रोधान्ध या प्रसन्न मालूम पड़ता हैं। जिसका नाम काकु है। इसलिए काकु वक्रोक्ति यह नाम काव्यप्रकाशकार ने ध्वन्याश्रित अलंकार का किया। २. ध्वनि के बाद वर्ण है। वर्ण दो प्रकार के हैं—स्वर एवं व्यंजन। इस वर्ण में अतिशय क्या हो सकता है। तब विचार करने पर अनुभव हुआ कि वर्ण तो उच्चारण का विषय है। इसमें यदि उसी आनुपूर्वी वाले वर्ण को पुनः पुनः उच्चारण किया जाए तो उनमें एकरूपता समता होने से चमत्कार होता है अतः समता रूप अतिशय है। तब कहा कि "वर्णसाम्यमनुप्रासः ?"

यहाँ वर्ण पद से व्यंजन वर्ण का ग्रहण किया है। यद्यपि स्वर के बिना व्यंजन का उच्चारण करना कठिन है तथापि स्वर के अनुसंधान की अपेक्षा न करके व्यंजन का उच्चारण में मुख्यत्व माना है। अस्तु।

इस वर्ण साम्य रूप अनुप्रास के दो स्वरूप हैं—एक छेकानुप्रास दूसरा वृत्यनुप्रास। यह व्यंजन वर्ण में पुनरुच्चारण से उत्पन्न "साम्य" एक प्रकार का अतिशय हुआ। दूसरा अतिशय उसमें यह है कि वर्ण का पुनरुच्चारण किया भी जाए किन्तु वह पुनरुच्चारण मालूम नहीं होवे। अर्थात् शब्द, पुनरुच्चारण से होने वाले स्वगत भेद को छिपा लेवे तब छिपाना ही अतिशय है, वही श्लेष कहाता

है। इसीलिए कहा कि 'भिन्ना अपि शब्दा भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः। (का० प्र० ६) फलतः वर्णगत २ अलंकार अनुप्रास एवं श्लेष हैं। ३–वह व्यंजन वर्ण समुदाय के रूप में दो प्रकार का है। एक अविभक्तिक रूप अर्थात् प्रातिपदिक दूसरा सविभक्तिक अर्थात् पद। इस सस्वर व्यंजन वर्ण-समुदाय में जब पूर्वोक्त साम्य रूप अतिशय एवं अपह्नव रूप अतिशय होता है तब पूर्वोक्त अनुप्रास और श्लेष तो होंगे ही। एक अलंकार और बढ़ गया जिसका नाम है यमक। इस यमक में भी पुनरुच्चारण जनित साम्य ही अति-शय है। इस तरह पुनरुच्चारण जनित साम्य के दो अलंकार लाटानुप्रास एवं यमक हुए। अपह्नव में एक श्लेष—कुल योग ३ है।

जब तक व्यंजन वर्ण का पुनरुच्चारण स्वर रहित रहा तब तक वह वर्ण अर्थशून्य निरर्थक रहा। किन्तु वह व्यंजन वर्ण स्वरघटित हुआ और समु-दायात्मक हुआ तब उसने एक और स्वरूप को प्राप्त किया। वह स्वरूप है उसका सार्थक होना। निरर्थक स्वरूप उसका पहले से ही रहा। इस तरह निरर्थक वर्ण की पुनः श्रुति सार्थक वर्ण की पुनः श्रुति, एवं निरर्थक और सार्थक वर्ण की पुनः श्रुति।

अब यहाँ एक विचार उपस्थित होता है कि इधर पुनः श्रुति को अलंकार माना जाता है, उधर शास्त्रान्तर में पुनः श्रुति को पुनरुक्ति एवं कथित पदत्व दोष माना गया है। तब दोष वारण के लिए लाटानुप्रास में 'भेदे तात्पर्यमात्रतः' कहा गया है और यमक में 'अर्थे सत्यर्थभिन्नानां' कहा गया है। अर्थात पुनःश्रुति रहे किन्तु उन समुदित वर्णों के अर्थों में भेद होना आवश्यक है। तब पुनः आपत्ति हुई कि लाटानुप्रास और यमक में क्या भेद हुआ? इसका समन्वय किया कि यमक में अर्थों में भेद है, लाटानुप्रास में अर्थों की संगति में भेद है। अर्थात् अर्थों में उद्देश्य विधेय भावरूप से या कर्मकर्तृभाव रूप से जो संगति की जाती है वही भिन्न है। वस्तुतस्तु यमक से भिन्न लाटानुप्रास नहीं है। ४–पद के बाद पदसमुदाय वाक्य आता है। उसमें भी पुनरुच्चारण जनित साम्यरूप एवं अपह्नव रूप अतिशय रहता है। तदनुसार साम्य के अन्तर्गत अनुप्रास, लाटानुप्रास एवं यमक श्लोकावृत्ति यमक है और अपह्नवरूप श्लेष है। वह समुदाय भी पूर्ववत् सार्थक एवं निरर्थक है और उसका पुनरुच्चारण पूर्ववत् आपत्तिग्रस्त हुआ अतः उस दोष को वारण करने के लिए कहा कि "एकार्थं तेच"।

यहाँ वस्तुत: एकार्थता समानार्थकता नहीं है किन्तु भासित होती है। यहाँ एक और अलंकार पुनरुक्तवदाभास वाक्य में अधिक हुआ। वस्तुतस्तु यह पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकार नही है। क्योंकि उसी आनुपूर्वी वाले वर्ण या पद या वाक्य का यदि पुनरुच्चारण हो तब शब्दगत पुनरुच्चारण मानकर शब्दालंकार कहा जा सकता है। यहां तो शब्दों की आनुपूर्वी भिन्न है किन्तु एक बार जो अर्थ उपस्थित हो चुका वही अर्थ पुनः उपस्थित होता है। शब्दान्तर से वह अर्थ पुन: उपस्थित होता है, यह बात अलग है किन्तु अर्थ ही पुनः उपस्थित होता है, शब्द का पुनरुच्चारण नहीं होता है अत: यह अलंकार अर्थगत है। किन्तु जिन अर्थो की उपस्थिति के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उन अर्थो के उपस्थापक और भी शब्द हैं किन्तु उन्हीं शब्दों के योग से ही वह अर्थ पुन: उपस्थित हुआ जैसा मालूम पड़ता है। अगर उन शब्दों को नहीं प्रयुक्त किया जाए तो वह आशय नही मिलता है अतः शब्द की प्रभुता के कारण शब्दगत मान लिया है।

यथापि यह नियम सामान्य स्थलों में भी लागू हो सकता है। क्योंकि हमारे यहाँ काव्य की परिधि में आने वाले शब्दों के विषय में यह नियम लागू नहीं पड़ता है। यहाँ तो प्रत्येक शब्द अपनी विशेपता को लेकर ही आता है। जैसे "अथ प्रजानामधिपः प्रभाते" यहाँ प्रजानां शब्द के निर्देश का अपना एक तात्पर्य है। प्रजा शब्द का अर्थ है सन्तति और जन। यहां का भाव है कि जनों का स्वामी दिलीप अब सन्तति का भी अधिक पति बनने की कामना वाला है। अतः जाया को साथ लिये है। जाया वह कहलाती है जिसमें वह पुरुष पुनः पैदा होता है। (तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः) अतः शब्दपरिवृत्ति की असहनीयता उत्तम कवि के काव्य में सर्वत्र ही है। तथापि वह भी एक नियम है इस दृष्टि से मान्यता देकर उसका अनुपालन करना लक्षण ग्रन्थों में उपदिष्ट है।

अनुप्रास, यमक एवं श्लेप वर्ण पद एवं वाक्य में रहते है। यमक वर्णगत उसी अवस्था में है जब वे वर्ण निरर्थक है। पद के ही खण्डों में प्रकृति, प्रत्यय, लिंग, संख्या में श्लेप है जो कि सभंग है। अभंग श्लेप भी है जो समास में तथा असमास में रहता है। भाषा श्लेप वाक्यगत है।

५—इस तरह उचारणात्मा शब्द के बाद लिपिस्वरूप शब्द का अवसर आता है। लिपि को भी शब्द स्मारक होने से शब्द ही माना है। उस लिपि में ने वाले अलंकार का नाम चित्र है। यह चित्र आकार चित्र, बन्धचित्र,

गतिचित्र एवं स्थानचित्र—४ प्रकार का होता है। इस लिपि के स्वरूप का चित्र नाम रखने का हेतु है।

चित्रशब्द का प्रयोग लोक में दो अर्थों में प्रसिद्ध रूढ है। एक आलेख्य फोटो के अर्थ में और दूसरा आश्चर्य के अर्थ में जहां अवयवों की तरह रेखाओं के द्वारा व्यक्ति का आकार अङ्कित किया रहता है, उसे चित्र कहते हैं। १—यही चित्र यदि केवल ईश्वर-कृत हो तो एक कर्तृक होने से इसका नाम आकारचित्र है। उदाहरण पद्म-शैल-वृक्ष है। यहां चित्रशब्द रूढ है। २—मूल में ईश्वर सम्पूर्ण जगत का कर्त्ता है, उसके वाद जीव भी यदि उसी तरह किसी आकार विशेष के आविर्भाव में कर्त्ता हो जाए तो ईश्वर और जीव द्विकर्तृक होने से इसका नाम वन्ध चित्र है। यहां चित्र के सदृश होने से इसको चित्र कहते हैं। यहां चित्र शब्द का गौण प्रयोग है। ३—कर्णिकादि प्रमुख स्थान में वर्ण श्लिष्ट रहते हैं। अतएव ऐसे वर्णों का गमन प्रत्यागमन होता है। जिस क्रम से वर्ण पंक्ति गयी थी उसी क्रम से आ गयी, आश्चर्य है। इस तरह आश्चर्यकारी होने से गतप्रत्यागत वर्णों में गतिचित्र माना है। यहां चित्र शब्द रूढ है "आश्चर्यलिख्ययोश्चित्रम्" इस अमर कोष के अनुसार। ४—निष्कण्ठ्य, निरोष्ठ्य, निर्मूर्धन्य एवं निस्तालव्य या कण्ठ्य, ओष्ठ्य, मूर्धन्य एवं तालव्य वर्णों का जिस लिपि में विन्यास हो उसे स्थानचित्र कहते है। यहां अभिनव पद एवं पदार्थ के पर्यालोचन से मन्दवुद्धियों के चित् अर्थात् ज्ञान का त्राण माने पोषण किया अतः इसे चित्र कहते हैं। यहां चित्र शब्द यौगिक है। क्योंकि यह शब्द चित्पूर्वक त्रैङ पालने धातु को आकारान्त वनाकर उससे आतोनुपसर्गे कः इस सूत्र से क प्रत्यय करने पर वना है।

यहां अर्थालंकार पद में अर्थ शब्द से मतलब है जो वर्णन का विषय है। अलंकार का अर्थ है जिससे सजाया जाए। यहां का भाव यह है कि कवि लोग सामाजिकों को, श्रोताओं को आनन्दरूप रस की अनुभूति करा देने के लिए काव्य का निर्माण करते हैं, इसलिए अनुभवनीय रस के साधन काव्य के शरीर शब्द और अर्थ का इस शैली से उपन्यास करते हैं जिससे रसास्वादन सुन्दर हो।

किसी भी वस्तु जो कि अपने यथार्थ रूप में अर्थात स्वस्वरूप में है, उसका नूतन उल्लेखमय विलक्षणता ही अलंकार है। इसका सर्वप्रथम संकेत भामह ने अपने काव्यालंकार के प्रथम परिच्छेद की ३६ वीं कारिका में किया है कि—

वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंक्रिया ।

इसकी व्याख्या आचार्य अभिनव गुप्त के शब्दों में इस प्रकार है—(धन्यालोक लोचन तृतीय उद्योत "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः" की व्याख्या में आपने लिखा कि) "शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमेव । असौ अलंकारस्य अलंकारभावः लोकोत्तरतैव चातिशयः, तेनातिशयोक्तिः सर्वालंकार सामान्यम् । तथा हि अनया अतिशयोक्त्या अर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया विभाव्यते तथा प्रमदोद्यानादिः विभावतां नीयते विशेषेण च भाव्यते सरसीक्रियते । इति । "शब्द की और अर्थ की वक्रता का मतलब है लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थान । यही अवस्थान उपमादि अलंकारों का अलंकारत्व है ।

इसकी उक्ति याने संगटना वाक् याने काव्य की अलंक्रिया हमें इष्ट है । इस लोकोत्तरता का ही नाम अतिशय है । इससे अतिशयोक्ति सर्वालंकार सामान्य है । सभी अलंकारो के निर्माण के लिए मूल है । जैसे इस अतिशयोक्ति के द्वारा वर्णनीय अर्थ विलक्षण रूप से मालूम होने लगता है । चाहे वह प्रतिदिन के उपभोग से पुराना अनास्वाद्य ही क्यों न हो । इसीलिए कहा कि "अनयार्थो विभाव्यते" । प्रमदा नायिका तथा उद्यान एवं चन्द्रादि विभाव हैं अर्थात् इनसे विशेष रूप से काव्य सरल किया जाता है ।

इस शब्द और अर्थ की वक्र उक्ति का ही नाम अतिशयोक्ति है । अतएव भामह ने अतिशयोक्ति का निरूपण करके लिखा कि 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते" फलतः वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति दोनो पर्याय हैं ।

काव्य में यह आवश्यक है, इष्ट है । काव्यत्व इसी के आधार पर है । जैसा कि भामह ने लिखा है—"युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ।" ये ऊपर परिगणित सभी काव्य प्रभेद पदार्थो के स्वभाव स्वरूप को वक्र उक्ति से युक्त हम चाहते हैं । पदार्थो के स्वभाव को लोकोत्तर प्रकार से वर्णन करने पर ही काव्य सम्पन्न होता है । यहां "वक्रस्वभावोक्त्या" इस पद में एक वचन का प्रयोग किया है अतः स्वभाव की वक्रोक्ति यही एक अर्थ है । वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति दो उक्तियां आचार्य को इष्ट नहीं है । महाराज भोज की उक्ति से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है—"वक्रत्वमेव काव्यानां पराभूषेति भामहः ।" वक्रत्व ही काव्यों का उत्तम अलंकार है, ऐसा भामह का मत है । (शृङ्गार प्रकाश द्वितीय खण्ड) अगर दो कहना होता तो द्विवचन का प्रयोग करते । और भी कारण है । यदि "वक्र-

स्वभावोक्त्या'' इस पद से वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति दोनों काव्य स्वरूप में अलंकारो की सत्ता के लिए आवश्यक होती तो जैसे वक्रोक्ति के लिए मुख्य संकेत किया कि ''यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।'' कवि को वक्रोक्ति में यत्न करना चाहिए क्योंकि इसके विना अलङ्कार कैसा ?

यही नहीं और भी कहते हैं कि इससे अर्थ सरस किया जाता है। वैसा संकेत स्वभावोक्ति के लिए नहीं किया। प्रत्युत ''स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते'' स्वभावोक्ति को कोई अलङ्कार मानते है ऐसा गौण उपन्यास किया अर्थात् सर्वालङ्कार साधारणता इसमें नहीं मानी। यही कारण है कि भामह ने अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति के न होने से स्वभावोक्ति को अलङ्कार स्पष्ट रूप से नहीं माना। तत्कालीन वड़े किसी आचार्य ने लिख दिया इसलिए आनाकानी करते हुए निरूपण किया। किन्तु ''हेतुश्च सूक्ष्मो लेशश्च नालङ्कारतया मतः। समुदायाभिधेयस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ''हेतु, सूक्ष्म और लेश वक्रोक्ति न होने से अलङ्कार नहीं है ऐसा स्पष्ट ही कह दिया। यद्यपि स्वभावोक्ति के द्वारा अलङ्कार हो सकता है। इससे सिद्ध है कि वक्रस्वभावोक्ति एक पद है और उसका एक ही उपर्युक्त अर्थ है। अस्तु।

इस तरह भामह ने अलङ्कारों का मूल एक वक्रोक्ति को ही वतलाया। उसके वाद दण्डी ने कहा कि ''श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्'' इन सम्पूर्ण वक्रोक्तियो का मूल श्लेष है, इसी से वक्रोक्तियो में श्री आती है। इस तरह अलङ्कारो का मूल श्लेष और वक्रोक्ति दो प्राप्त होते हैं। और दण्डी ने भामह की तरह ''वक्रस्वभावोक्त्या'' इस एक वचन सिद्ध वक्रोक्ति को एक नहीं माना। वे कहते हैं कि ''भिन्नं द्विधा स्वभावोक्ति-र्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।'' स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति भिन्न-भिन्न दो हैं, यही काव्य का स्वरुप है। और इसके वाद भामह के द्वारा स्वभावोक्ति के कारण वक्रोक्ति के अभाव ने अस्वीकृत हेतु सूक्ष्म एवं लेश को अलङ्कार माने हैं। कहते हैं कि—''हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्'' हेतु सूक्ष्म और लेश काव्य के उत्तम अलङ्कार हैं।

यहां काव्यादर्शके टीकाकार ने ''रत्नश्री'' टीका में शंका की है कि ''ननु किमत्र भूषणम् ? केवलमनेनैतत् क्रियते इति स्वरूपकथनमात्रम्। विशेषस्तु न कश्चित्। विशेषरूपश्चालंकार इति विशेषं योजयन्नाह।

प्रीत्युत्पादनयोग्यस्य रूपस्यात्रोपबृंहणम् ।
अलंकारतयोद्दिष्टं निवृत्तावपि तत्समम् ॥

शंका—यहाँ "अयमान्दोलिता प्रौढ़" इस हेतु के उदाहरण में अलंकारत्व क्या ? केवल मलयमारुय ने सबको प्रसन्न कर दिया यही स्वरूप कथन है, विशेष तो कुछ नहीं है। वस्तु का विशेप रूप ही अलंकार है, इसलिए विशेप की योजना करते हैं।

उत्तर—"मलय मारुत में प्रसन्न कर देने की योग्यता है" यह वायु के स्वरूप का पोपण ही यहाँ अलंकार है। क्योंकि जैसे यह पोपण वक्रोक्ति स्थल में होता है वैसे ही उसके अभाव स्वभावोक्ति में भी। अतः दोनों समान ही हैं।

इस तरह दण्डी ने अलंकारों का मूल तीन बतलाया—१. स्वभावोक्ति, २. वक्रोक्ति एवं ३. श्लेष। इसके बाद आचार्य वामन ने सर्वालंकार साधारणता के लिए उपमा का अभिषेक किया, जैसा उनके लेख से प्रतीत होता है।

एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपंचिता ॥

इन अपने एवं दूसरों के पुष्कल उदाहरणों से शब्दवैचित्र्य गर्भिता उपमा का ही प्रपंच इन अलंकारों में है।

इन्हीं भामह, दण्डी एवं वामन के सिद्धान्तों का सूत्र रूप में ग्रन्थन रुद्रट ने यों किया है :—

अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः

अर्थालंकारों के मूल वास्तव अर्थात् वस्तु स्वभाव कथन, औपम्य सादृश्य, अतिशय एवं श्लेप चार ही हैं। अन्य सम्पूर्ण भेद इन्हीं के विशेप विकाश हैं। जिनमें वास्तव मूलक २३, औपम्य मूलक २१, अतिशय मूलक १२ एवं श्लेप मूलक १० हैं। इस तरह विश्लेपण करके निर्देश करने से भामह एवं दण्डी और वामन के सिद्धान्त परिष्कृत कर दिये गये। यहाँ परिष्कार का अर्थ यह है कि भामह ने जिस वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को सर्वालंकार बीज कहा था उसको रुद्रट ने केवल १२ ही अलंकारों का मूल कहा है।

दण्डी ने जिस श्लेप को वक्रोक्ति का मूल माना था उसको भी वक्रोक्ति की परिधि से हटा कर पृथक् कर दिया और वामन ने जिस उपमा को सर्वालंकारों की जननी कहा था उसकी भी सीमा निर्धारित कर दी तथा श्लेप का एक नया ही मार्ग प्रस्तुत किया। किन्तु अलंकारों के यह उपर्युक्त चार मूल तत्व स्थिर किये।

इसके वाद रुद्रट के इस सिद्धांत का पोषण आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक ३ उद्योत की ३६ कारिका की वृत्ति में किया। वे कहते हैं—अयं च प्रकारो येपामप्यलंकाराणामस्ति, तेपां तु न सर्वविपयः। अतिशयोक्तेस्तु सर्वालंकारविपयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेपः। येपु चालंकारेपु साहृश्यमुखेन तत्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिपु तेपु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्साहृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति।

यह जो अतिशयोक्ति में सर्वालंकार शरीर स्वीकरण योग्यता नामक प्रकार है अर्थात् अतिशयोक्ति सभी अलंकारों के शरीर की निष्पत्ति की योग्यता रखती है। यह प्रकार अन्य अलंकारों में भी है किन्तु उनकी वह योग्यता सर्व विपयिणी नहीं है। किन्तु अतिशयोक्ति में वह योग्यता सर्वालंकार विपयिणी भी सम्भव है। जिस रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, अपह्नुति, एवं स्मृति उल्लेख वगैरह अलंकारों में साधारण धर्म के द्वारा गम्यमान सादृस्य शोभा को वढाता है वहाँ उन अलंकारों में अलंकारत्व साहृश्य से ही प्राप्त है।

इस तरह उत्तरोत्तर अलंकारों की विभिन्नता का मूल तत्व परिष्कृत हो कर वढ़ता गया है।

इसके वाद महाराज भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण एवं शृंगार प्रकाश में दण्डी के सिद्धान्त अलंकारों के मूल तत्त्व वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति को स्वीकार करते हुए "रसोक्ति" को तीसरा मूल तत्व माना। वे लिखते हैं—वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। (स० क० ५।८)। यहाँ आलंकारिकों ने वाक् शब्द का प्रयोग काव्य के लिए किया है। "वाचां वांछन्त्यलंकृतिम्, वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंक्रिया "इत्यादि स्थल इसके प्रमाण हैं। अतः वाक् का अर्थ है काव्य और मयट प्रत्यय का अर्थ है स्वरूप। कार्य और कारण में (मृदेव घटः) मट्टी ही घड़ा है कि तरह सामानाधिकरण्येन प्रयोग किया है। अतः काव्य स्वरूप के तीन कारण हैं—वक्रोक्ति, रसोक्ति एवं स्वभावोक्ति। अर्थात् काव्य व्यवहार अलंकारों पर निर्भर करता है, उस काव्य के अलंकारों के मूल तीन हैं।

त्रिविधः खलु अलंकार वर्गः, वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति। तत्रोपमाद्यलंकार प्राधान्ये वक्रोक्तिः, गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः, विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगात् रसाभिव्यक्ती रसोक्तिरिति। शृ० प्र० २।११

यहाँ भी उपर्युक्त वक्तव्य को दुहरा दिया गया है। इस तरह संकलन करने पर वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष एवं रस ये पाँच अलंकारों के मूल तत्व हुए। इनमें रस की दो स्थितियां हैं। वह इन सब मूल तत्वों से अलंकार्य है तब ध्वनि है। अपरांग गुणीभूतव्यंग अपरोपस्कारक होने से अलङ्कार एवं गुणी भूतव्यं इन दोनों नामों से भी व्यवहार का विषय होता है।

इसके पहले आचार्य अभिनव गुप्त ने "रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य" इस द्वितीय उद्योत की ६ ठी कारिका की व्याख्या में लिखा है कि एतदुक्तं भवति उपमया यद्यपि वाच्योर्थोऽलंक्रियते तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद् व्यंग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवाऽलङ्कार्यः। कटक केयूरादिभिरपि हि शरीरसमवायिभिः चेतन आत्मैव तत्तच्चितवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतया अलंक्रियते।

"रसमावादि" इस कारिका द्वारा यह कहा गया कि उपमादि अर्थालङ्कारों ने वाच्य अर्थ को यदि अलंकृत किया तब अलङ्कार्य वाक्यार्थ हुआ न कि ध्वनिस्वरूप। सिद्धान्त है "रसमावादि को लक्ष्य रखकर ही अलङ्कारों का विन्यास करना।" यह शंका हुई। इसका उत्तर देते हैं, यथापि उपमा के द्वारा वाच्यार्थ अलंकृत हुआ ऐसा प्रतीत होता है तथापि उस वाच्यार्थ का अलंकृत होना यही है कि उपमा के द्वारा वाक्यार्थ में व्यंग्यार्थ के अभिव्यञ्जन की शक्ति का आधान करना। वस्तुतः ध्वनि ही अलङ्कार्य है। हाथ वगैरह में पहने हुए कंकण केयूरादि अलङ्कार पहनने वाले व्यक्ति के चित्त की वासनाओं के औचित्य अनुरूपत्व का सूचन करने के कारण चेतन आत्मा ही को अलंकृत करते हैं। उपमादिरूप वाच्य इस अपरोपस्कारकत्वरूप स्थिति में होने से वे अलङ्कार कहाते हैं, वैसे ही सर्वदा व्यंग्य ही रहने वाले कभी वाच्य नहीं होने वाले रसभावादि व्यंग्य भी जब इस स्थिति में आ जाते हैं तो वे भी अलङ्कार कहाते हैं। किन्तु ये रस, रस एवं भावादि के ही अङ्ग होते हैं, वाच्य के अङ्ग नहीं होते। संलक्ष्य क्रम ध्वनि वाच्य की भी अङ्ग होती है।

सारांश यह है कि अपरोपस्कारक होना ही अलङ्कारत्व का प्रयोजक है चाहे यह व्यंग्य हो या वाच्य हो। व्यंग्य की प्रतीति के लिए वाच्य कारण है। तब अर्थात् व्यंग्य फल है। फल ही प्रधान होता है। जो प्रधान है अर्थात् गुण नहीं है वह यदि गुण हो जाता है तब गुणीभूत व्यंग्य कहाता है।

यही "च्वि" प्रत्यय का अर्थ यहां संघटित होता है। अत; गुणीभूत व्यंग्य यह नाम उपाधि प्रयुक्त होने से औपाधिक है और उस व्यंग्य का अलङ्कार यह नाम अलङ्कारकत्व अर्थात् अपरोपस्कारकत्व रूप व्युत्पत्ति लभ्य लक्षण के कारण है। इसलिए रस को भी अलङ्कारों का मूल तत्व माना है और रसवदादि ७ अलङ्कार माने है।

कुछ प्रासंगिक चिन्तन

१—वक्रोक्ति क्या है इसकी व्याख्या आचार्य के शब्दों से जानना आवश्यक है। अतः यहां उन शब्दों को लिख देते हैं। वक्रोक्ति शब्द की दो प्रकार की व्याख्या लोचनकार ने लिखी है। ध्वन्यालोक १ उद्योत में "यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन" इस श्लोक के अंश "वक्रोक्तिशून्य" पद की व्याख्या को तथा "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः" तृ० उ० स्थ कारिका की व्याख्या को क्रमशः हम उद्धृत करते हैं और लोचन की व्याख्या कौमुदी का भी उल्लेख करते हैं।

लोचन—वक्रोक्तिरुत्कृष्टा संघटना। उसकी व्याख्या कौमुदी—वक्रोक्तिशून्यमित्यनेन शब्दार्थगुणानामभाव उक्त इत्यन्वयः। कथं तेन तदुक्तिरित्याशंक्याह वक्रोक्तिरुत्कृष्टा संघटना, अत्रोक्तिशब्देन संघटनैवोच्यते। "वक्रता च लोकोत्तरेण रूपेणावस्थानम्" इति वक्ष्यते। तेन वक्रत्वमुत्कर्षशालित्वम्। कवेश्च उक्तिर्व्यापाररूपा संघटनैव रचनात्मिका।

लोचन—वक्रोक्ति उत्कृष्ट संघटना है। कौमुदी—वक्रोक्ति शून्यं इससे शब्दार्थ गुणों का अभाव कहा गया है। यह अन्वय है। "इससे यह कैसे कहा गया" ऐसी आशंका करके उत्तर देते है कि यहां उक्ति शब्द से संघटना ही कही जाती है। "वक्रता लोकोत्तर रूप से अवस्थान का नाम है" ऐसा आगे कहेंगे। इससे वक्रता उत्कर्षशालिता का पर्याय है। कवि की उक्ति व्यापाररूपा संघटना ही है जिसका पर्याय रचना है। यहाँ की व्याख्या से यही सिद्ध होता है कि उत्तम संघटना का नाम वक्रोक्ति है। आगे लिखते है कि उस शब्दार्थोभय सम्बन्धिनी संघटना रूप उक्ति में उत्कृष्टत्व लक्षण वक्रत्व का एक मात्र कारण गुणों का सम्बन्ध है। क्योंकि संघटना में माधुर्यादि गुण विशिष्ट रसों के अभिव्यञ्जन का सामर्थ्य है। "तस्याश्च शब्दार्थोभय सम्बन्धिन्या वक्रत्वमुत्कृष्टत्वलक्षणं माधुर्यादिगुणकरसाभिव्यञ्जनसामर्थ्ययोगितया गुणसम्बन्धैकनिबन्धनमिति।" तृतीय उद्योतस्थ विषय, को पहिले हम लिख चुके हैं।

"रसवत्" शब्द की व्याख्या

२—प्रसंग से रसवत् शब्द की व्याख्या भी कर देते हैं। इस शब्द की दो व्याख्याएँ मिलती हैं। एक रुय्यक की है दूसरी कुन्तक की है। रुय्यक का अलंकार सर्वस्व में लेख है "रसो विद्यते यत्र निबन्धे व्यापारात्मनि तद्रसवत्"। यहाँ निवन्ध शब्द भाव साधन है न कि अधिकरण साधन है। जिसमें रस का निबन्धन हो ऐसा अधिकरण साधन निबन्ध शब्द मानने पर रसवत् काव्य ही कहलाएगा, रसवदलंकार नहीं कहलायेगा। अतः इस दोष को हटाने के लिए निबन्धे का विशेष अर्थ व्यापारात्मनि दिया। जहाँ रस अलंकरण रूप व्यापार में प्रवृत्त हो वहाँ रसवदलंकार है। अर्थात् जहाँ रस का अपना रसन आस्वादन रूप व्यापार न हो कर अलंकरण रूप व्यापार हो वहाँ रसवदलंकार होता है।

कुन्तक का लेख है :—**रसेन वर्त्तते तुल्यं रसवत्वस्वविधानतः**
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मिते :

जो अलंकार काव्य को सरस बना देने से और सहृदय को आनन्द दायक होने से रस के तुल्य हो वह रसवत् अलंकार होता है।

यह सब प्रासंगिक हुआ। अब प्रकृत का अनुसरण करते हैं। इसके बाद आचार्य रुय्यक ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से अलंकारों के मूलतत्व का निरूपण किया है।

अतिशयोक्ति, अलंकार मूल कैसे ?

प्रत्येक वस्तु के दो स्वरूप होते हैं—एक सामान्य दूसरा विशेष। उसी तरह अतिशयोक्ति के भी सामान्य और विशेष दो स्वरूप हैं। अतिशयोक्ति का विशेष स्वरूप है जिसके १—भेद में अभेद, २—अभेद में भेद, ३—सम्बन्ध में असम्बन्ध, ४—असम्बन्ध में सम्बन्ध, ५—और कारण कार्य में पौर्वापर्य विपर्यय ये पाँच भेद हैं। जहाँ वस्तु का अपना स्वभाव, अपना स्वरूप ही वर्णनीय होता है वहाँ ये अतिशयोक्ति के कोई भी प्रकार नहीं रहते। यह अतिशयोक्ति, अलंकारों का मूल नहीं है। अतिशयोक्ति का सामान्य स्वरूप ही अलंकारों के उपयोगी हैं। उसको लोचनकार के मत से लिखते हैं। वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति दोनों पर्याय हैं। "वक्रोक्ति उत्कृष्ट संघटना या काव्य रचना में उत्कृष्टता उत्कर्ष ही वक्रोक्ति है। उक्ति शब्द का अर्थ है संघटना। दुबारा वे लिखते हैं कि शब्द एवं अर्थ की वक्रता का अर्थ है लोकोत्तर रूप से अवस्थान।" लोकोत्तरता ही अतिशय है।

प्रकृत काव्य में इसका समन्वय इस प्रकार है कि कवि शब्द का अर्थ है लोकोत्तरवर्णना में निपुण। उस कवि का लोकोत्तर वर्णना रूप कर्म ही काव्य है। अब विचारणीय यह है कि इस वर्णना, संघटना, रचना या

योजना रूप काव्य में लोकोत्तरता अतिशय चमत्कार या चारुता का साधन क्या ? प्राचीन समय में अतिशय के कारण गुण, अलंकार, रीति या वृत्ति रहे परन्तु ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन और उसकी टीका लोचन के प्रणेता अभिनव गुप्त के बाद लोकोत्तरता या अतिशय का हेतु व्यंग्य सिद्ध हो गया। और उस व्यंग्य के उपस्कारक अलंकार हैं, यह सर्वसम्मत साहित्य जगत का सिद्धान्त है। उस व्यंग्य की स्थिति दो है—स्फुट एवं अस्फुट। इस तरह रुद्रट एवं भोज के द्वारा निर्णीत अर्थालंकारों के मूलतत्व वास्तव औपम्य तथा रस का आनन्द एवं अभिनव के द्वारा निर्णीत चारुता हेतु व्यंग्य के साथ समन्वय करने पर अलंकारों की विभिन्नता निम्न लिखित प्रकार से सिद्ध होती है।

अलंकार विभाग

अर्थालंकारों का विभाग चार तरह से हो सकता है। एक प्रकार व्यज्यमान वास्तव हैं, दूसरा प्रकार व्यज्यमान औपम्य है, तीसरा प्रकार व्यज्यमान रसभावादि है, चतुर्थ प्रकार अस्फुट व्यज्यमान है। जिनमें व्यज्यमान वस्तु जहाँ काव्य में उपस्कारक हो वे अलंकार १० ये हैं। १. समासोक्ति, २. पर्यायोक्त, ३. आक्षेप, ४. व्याजस्तुति, ५. उपमेयोपमा, ६. अनन्वय, ७. अतिशयोक्ति, ८. परिकर, ९. अप्रस्तुतप्रशंसा और १०. अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति। जहाँ व्यज्यमान औपम्य उपस्कारक हो वे अलंकार १६ ये हैं:—१. रूपक, २. परिणाम, ३. सन्देह, ४. भ्रान्तिमान्, ५. उल्लेख, ६. अपह्नुति, ७. उत्प्रेक्षा, ८. स्मरण, ९. तुल्ययोगिता, १०. दीपक, ११. प्रतिवस्तूपमा, १२. दृष्टांत, १३. सहोक्ति, १४. व्यतिरेक, १५. निदर्शना और १६. श्लेष। जहाँ व्यज्यमान रसभावादि उपस्कारक हों वे अलंकार ७ ये हैं—१. रसवत्, २. प्रेय, ३. ऊर्जस्वि, ४. समाहित, ५. भावोदय, ६. भावसंधि और ७. भावशवलता। जहाँ अस्फुट व्यज्यमान स्वभाव ही उपस्कारक हो वे अलंकार ३९ ये हैं:—१. उपमा, २. विनोक्ति, ३. अर्थान्तरन्यास, ४. विरोध, ५. विभावना, ६. उक्त गुण निमित्ता विशेषोक्ति, ७. विषम, ८. सम, ९. विचित्र, १०. अधिक, ११. अन्योन्य, १२. कारणमाला, १३. एकावली, १४. व्याघात, १५. मालादीपक, १६. काव्यलिंग, १७. अनुमान, १८. सार, १९. यथासंख्य, २०. अर्थापत्ति, २१. पर्याय, २२. परिवृत्ति, २३. परिसंख्या, २४. विकल्प, २५. समुच्चय, २६. समाधि, २७. प्रत्यनीक, २८. प्रतीप, २९. विशेष, ३०. मीलन, ३१. सामान्य, ३२. तद्गुण, ३३. अतद्गुण, ३४. असंगति, ३५. व्याजोक्ति, ३६. वक्रोक्ति, ३७. स्वभावोक्ति, ३८. भाविक और ३९. उदात्त।

अमशः इन १०,१६,७,३९ सम्मिलित कुल योग ७२ अलंकारों का आधुनिक समय में अवान्तर श्रेणी विभाग इस प्रकार है।

वर्ग	उपवर्ग	भेद	नाम	लक्षणों में विलक्षणता
२१ सादृश्यप्राण अलंकार	४ भेदाभेदप्रधान		१ उपमा	सादृश्य
			२ उपमेयोपमा	सादृश्य+तृतीयसदृशव्यवच्छेद
			३ अनन्वय	सादृश्य+द्वितीयसदृशव्यवच्छेद
			४ स्मरण	सादृश्य पुरोगामी स्मरण
	६ अभेदप्रधान	४ आरोपमूलक	१ रूपक	ऐच्छिक आरोप
			२ अपह्नुति	सापह्नव आरोप
			३ ससन्देह	सन्देहानुगत आरोप
			४ भ्रान्तिमान्	वास्तविक आरोप
		२ अध्यवसायमूलक	१ उत्प्रेक्षा	साध्य अध्यवसाय
			२ अतिशयोक्ति १	सिद्ध अध्यवसाय
	४ भेदप्रधान		१ सामान्य	भेदज्ञान रहित गुणसाम्य
			२ मीलित	निगूहनपुरःसर गुणसाम्य
			३ तद्गुण	उपमेय द्वारा उपमानगुण ग्रहण
			४ व्यतिरेक	उपमान से अधिक उपमेय
	७ गम्यौपम्याश्रय	२ पदार्थगत	१ तुल्ययोगिता	सभी पदार्थ प्रकृत या सभी अप्रकृत
			२ दीपक	कुछ पदार्थ प्रकृत, अन्य अप्रकृत
		३ वाक्यार्थगत	१ प्रतिवस्तूपमा	वस्तुप्रतिवस्तुभाव
			२ दृष्टान्त	बिम्बप्रतिबिम्बभाव
			३ निदर्शना	उपमा में पर्यवसित सम्बन्धानुपपत्ति
		२ श्लेषमूलक	१ समासोक्ति	केवल विशेषण श्लिष्ट
			२ श्लेष	विशेषण और विशेष्य दोनों श्लिष्ट

१८ विरोधमूला अलंकार

वर्ग	नाम	लक्षणों में विलक्षणता (नियम का भंग)
सामान्य	१ विरोधाभास	विरोध (साधारण
२ भेदाभेदहेतुक सम्बन्धासम्बन्ध	१ अतिशयोक्ति २	अभेद में भेद, भेद में अभेद, सम्बन्ध में असम्बन्ध, असम्बन्ध में सम्बन्ध
	२ अतिशयोक्ति ३	,, ,, ,,
११ कार्यकारणभाव हेतुक	१ अतद्गुण	तद्गुण का विपर्यय
	२ विशेपोक्ति	कारण सद्भाव में भी कार्य नहीं होना
	३ विपम २	अननुरूप संसर्ग (उत्पत्ति एवं संयोगादि)
	४ अतिशयोक्ति ४	,,
	५ विभावना	विना कारण के कार्य
	६ विपम ३	कार्यकारण में असमानगुणत्व
	७ विपम ४	कार्यकारण में असमानक्रियत्व
	८ असंगति	कार्यकारण में असमानदेशत्व
	९ विशेप ३	विना आधार के आधेय
	१० व्याघात	एक ने जिससे बनाया, दूसरे ने उसीसे उसके विरुद्ध किया
	११ अन्योन्य	परस्पर कार्य कारण भाव
४ आश्रयाश्रयिभाव हेतुक	१ विशेप १	एक आधार में युगपत् अनेक आधेय
	२ विशेप २	,, ,, ,,
	३ अधिक	आश्रय में आश्रयी का न समाना
	४ विपम १	आश्रय एवं आश्रयी में एक दूसरे के साथ विपमता।

नाम
लक्षणों में विलक्षणता
१० गूढार्थप्रतीतिहेतुक
गोप्ययुक्त
–१ आक्षेप
दृढता से निषेध
–२ व्याजोक्ति
गोप्यगोपन
–३ सूक्ष्म
रहस्य भेदन
३ वाच्योयुक्तिवै-चित्र्यपूर्ण
–१ पर्यायोक्त
वाच्य के समकक्ष व्यंग्य
–२ प्रतीप
प्रसिद्ध उपमान का उपमेय कथन
उपमान वैयर्थ्य
–३ परिकर
साभिप्राय विशेषण
४ प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीतिमूलक
–१ अप्रस्तुतप्रशंसा
स्पष्ट
–२ व्याजस्तुति
स्तुति एवं निन्दा (विषय)
–३ विनोक्ति
विना कथन
–४ परिसंख्या
प्रसिद्ध वस्तु कथन का निषेध
(व्यपोहन)
९ शृंखलाहेतुक
४ रशनारूप
–१ कारणमाला
रशना+कार्यकारणभाव
–२ एकावली
विशेषण विशेष्यभाव
–३ सार
रशना+तरतमभाव (क्रम)
–४ मालादीपक
रशना+एक क्रियायुक्तत्व
५ मालारूप
४ एकरूपेण सम्बन्ध
–१ उत्तर २
प्रश्नोत्तर की माला, उत्तर से
प्रश्न का अनुमान
–२ पर्याय
अनेक में एक की माला
–३ समुच्चय
युगपत् अनेकों का सम्बन्ध
–४ समाधि
आकस्मिक कारण से फलसिद्धि
क्रमिक सम्बन्ध
–१ यथासंख्य
क्रमिक सम्बन्ध का निरूपण

नाम
लक्षणों में विलक्षणता
५ तर्कन्यायमूलक
३ हेतुहेतुमद्भावयुक्त
१ काव्यलिंग
प्रकृतार्थोपपादक
२ अनुमान
कविप्रतिभोल्लिखित व्याप्तिप्रकारक पक्ष-धर्मतानिश्चयजन्य ज्ञान
३ उत्तर १
पूर्ववत्
२ समर्थ्यसमर्थकभावयुक्त
१ अर्थान्तर न्यास
सामान्य से विशेष, विशेष से सामान्य का समर्थन
२ दृष्टान्त
बिम्बप्रतिबिम्ब भाव
४ लोकन्यायमूलक
१ प्रत्यनीक
शत्रु के सम्बन्धी का तिरस्कार
२ परिवृत्ति
विनिमय (लेना-देना)
३ सहोक्ति
अतिशयोक्ति पर आधारित सहकथन
४ सम
अनुरूपसंसर्ग
३ प्रसादमूलक
१ स्वभावोक्ति
वस्तुस्वभाव का वास्तविक वर्णन
२ उदात्त
वस्तु का समृद्धिमय वर्णन और महापुरुषों का अंगभाव
३ भाविक
भूत और भावी पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण
२ संसर्गमूलक
१ संसृष्टि
तिलतण्डुलवत् संश्लेष
२ संकर
क्षीरनीरवत् संश्लेष

अलंकारों की परस्पर विभिन्नता का कारण

१. परिणाम एवं रूपक दोनों आरोप गर्भ हैं। किन्तु परिणाम में आरोप्यमाण जिसका आरोप करते हैं वह चन्द्रादि प्रकृत का उपयोगी होता है और रूपक में वह उपयोगी नहीं होता है किन्तु प्रकृत का उपरंजक होता है। यही इन दोनों का भेदक है।

२. उल्लेख एवं रूपक दोनों में आरोप होता है किन्तु उल्लेख में आरोप का विषय जिसके ऊपर आरोप करते हैं उसमें आरोप्य के रूप का स्वभाव सम्भव है और रूपक में वह स्वरूप या स्वभाव सम्भव नहीं है।

३, आरोप के विषय में सन्देह करना या भ्रांति होना एवं अपह्नव करना सन्देह, भ्रांतिमान् एवं अपह्नुति का परस्पर में भेदक है।

४. उपमा, अनन्वय एवं उपमेयोपमा में साधर्म्य वाच्य है और तुल्य-योगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, व्यतिरेक एवं दीपक में साधर्म्य गम्य है। अतः उपमादि तुल्ययोगितादि से भिन्न है। सादृश्य मूलकता दोनों में बराबर है।

५. उपमेयोपमा में सादृश्य वाच्य है, प्रतिवस्तूपमा में वह गम्य है। यही इन दोनों में भेद है।

६. धर्मों में जहाँ वस्तु प्रतिवस्तु भाव होता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है और जहाँ धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है वहाँ दृष्टान्त होता है। यही इनमें भेद है।

७. तुल्ययोगिता में दोनों प्रस्तुत रहें या दोनों अप्रस्तुत रहें इस तरह प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत व्यस्त ही अलग ही रहते हैं। किन्तु दीपक में एक प्रस्तुत दूसरा अप्रस्तुत इस तरह दोनों समस्त अर्थात् मिल कर रहते हैं, यही इनमें भेद है।

८. उपमा में उपमान लोक प्रसिद्ध होता है, उत्प्रेक्षा में वह अप्रसिद्ध है, यही इन दोनों में भेद है।

९. उपमा में अर्थ एवं शब्द का साम्य रहता है, श्लेष में केवल शब्द-साम्य होता है, यही इन दोनों में भेद का कारण है। उपमा में शब्दसाम्य भी हो सकता है, श्लेष में अर्थसाम्य नहीं।

१०. उपमा में उपमान एवं उपमेय स्वतो भिन्न हैं, अनन्वय में वे भेद की कल्पना से भिन्न हैं। यही इनके भेद का कारण है।

११. उपमा में उपमानोपमेय भाव युगपत् एक काल में होता है और उपमेयोपमा में वह भाव पर्याय से होता है। यही भेदक है।

१२. समासोक्ति में अप्रस्तुत गम्य होता है अर्थात् प्रस्तुत वाच्य है। अप्रस्तुत प्रशंसा में इसका विपरीत है अर्थात् अप्रस्तुत वाच्य एवं प्रस्तुत गम्य होता है। इसलिए दोनों परस्पर में भिन्न हैं।

१३. पर्यायोक्ति में वाच्य एवं व्यंग्य दोनों प्रस्तुत हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्य अप्रस्तुत होता है। अतः ये भिन्न हैं।

१४. अनुमान में हेतु की व्याप्ति एवं पक्षधर्मता होती है, काव्यलिंग में वे असम्भव है। अतः दोनों परस्पर भिन्न हैं।

१५. जहाँ साधारण गुणों के सम्बन्ध में भेद नहीं मालूम पड़े वह सामान्य होता है और जहाँ उत्कृष्ट गुण का सम्बन्ध एवं न्यून गुण की हीनता रहती है वह मीलन होता है।

१६. जहाँ अन्य के व्यवच्छेद याने हटाने में अभिप्राय नहीं होता है वह उदात्त होता है और जहाँ उसमें तात्पर्य रहता है वह परिसंख्या है। यही इन दोनों में भेदक है।

१७. जहाँ कार्य की सिद्धि में काकतालीयन्याय से दूसरे कारण की प्राप्ति हो वह समाधि है और जहाँ कार्य को सिद्ध करने में अहमहमिकया बहुत से कारणों का व्यापार हो वह द्वितीय समुच्चय है। इसीलिए दोनों भिन्न हैं।

१८. अपह्नुति में निह्नव वाच्य होता है और व्याजस्तुति में वह निह्नव गम्य होता है। यही दोनों का भेदक है।

१९. यद्यपि व्याजोक्ति, मीलन एवं सामान्य में कथंचित् सादृश्य है तथापि वह सादृश्य विवक्षित नहीं है। अतः सादृश्यमूलक अलंकारों में उनकी गणना नहीं है।

२०. और अलंकारों में परस्पर भेद स्पष्ट हैं, अतः विद्वान् स्वयं समझेंगे।

इस तरह प्रायः जिन अलंकारों को सभी ने माना है उनके विषय में यह उपर्युक्त श्रेणिविभाग एवं स्वरूप हमने लिखा है। और भी अलंकार हो सकते हैं। आचार्य दण्डी ने उसका निर्णय कर रखा है। 'कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति' कौन है ऐसा जो कि उन अलंकारों को सम्पूर्णतया कह सकता है। अतः यह अलंकारों का बहिरंग किन्तु सूक्ष्म निरूपण हुआ है।

अलंकारों का बहिरंग निरूपण करके अब अन्तरंग अर्थात् लक्षण के रूप में निरूण करते हैं। अलंकार शब्द के तीन अर्थ हैं। एक अर्थ है

सौन्दर्य। दूसरा अर्थ है सौन्दर्य करने वाले सौन्दर्य को वढ़ाने वाले। अनुप्रास उपमादि। तीसरा अर्थ है अलंकार संज्ञा को प्राप्त करने वाले अपरांग गुणीभूत व्यंग्य।

पहले अर्थ के आधार हैं (काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलंकार:) अलंकार के कारण काव्य ग्राह्य है उपादेय है। सौन्दर्य का नाम अलंकार है। ये वामनाचार्य के सूत्र। दूसरे अर्थ का आधार है लोक व्यवहार। लोक में सौन्दर्योपासक शौकीन या विलासी लोग अपने आप को सजाने के लिए या ठाठ वाठ से या सज धज से रहने के शौकीन लोग अपने आप को सजाने के लिए जिन तत्त्वों का उपादान करते हैं। उनको गहना आभूषण अलङ्कार कहते हैं। लोक में इनका नाम कटक, कुण्डल, हार, केयूर आदि आदि हैं। इसी तरह काव्य में भी शब्द और अर्थ को सजाने के लिए कवि लोग अलङ्कारों का विन्यास करते हैं। जिनके नाम अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार और उपमा आदि अर्थालङ्कार हैं।

तीसरे अर्थ का आधार है।

> स गुणीभूतव्यंग्यैः सालंकारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
> संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा
> सालंकारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसंकरैः।

ये ध्वनिकार एवं मम्मट की कारिकाएँ।

यहाँ सालंकारैः में भिन्न-भिन्न अर्थ से युक्त समान रूप वाले दो सालंकार शब्द हैं जिनमें एक का अर्थ है अपरांग गुणीभूतव्यंग्य, जो समासोक्ति १. आक्षेप, २. अप्रस्तुत प्रशंसा, ३. अनुक्त निमित्त। विशेपोक्ति, ४. व्याजस्तुति, ५. पर्यायोक्त, ६. अपह्नुति, ७. दीपक, ८. परिकर और ९. संकर अलंकार कहलाते हैं। दूसरे सालंकार शब्द का अर्थ है अलंकार सहित। वाच्य अनुप्रास उपमादि सहित ध्वनि, अलंकारता को प्राप्त अपरांग गुणी भूतव्यंग्य एवं अपने भेदों के साथ, संकर तथा संसृष्टि के द्वारा अनन्त प्रकार का हो जाता है।

इन तीनों में प्रथम के अनुसार ही भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट आदि आचार्यो ने अपने-अपने ग्रन्थों का काव्यालंकार यह नाम करण किया। क्योंकि काव्य का अलंकार याने सौंदर्य दोषों के हान और गुणों एवं अलंकारों के आदान से होता है। इसी तत्व को ध्यान में रख कर ही

उक्त आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में त्याग करने के लिए दोषों का और ग्रहण करने के लिए गुणों एवं अलंकारों का निरूपण किया है। इतना ही आवश्यक भी था।

बाद में मम्मट एवं उनके परवर्ती आचार्यों ने शब्द और अर्थ के निरूपण करने के प्रसंग में आवश्यक समझते हुए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध रूप शक्तियों का भी निरूपण किया। उन शक्तियों में भी व्यंजना को जो लोग नहीं मानते हैं उनके लिए भी उसकी मान्यता करवाना आवश्यक था अतः व्यंजना को सिद्ध करके उसके शाब्दी एवं आर्थी भेदों तथा ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य भेदों का भी निरूपण करना औचित्य प्राप्त हो गया। किन्तु यह सब अनुषंगतः निरूपण किया। काव्यालंकार नाम के अनुसार दोष, गुण एवं अलंकारों का निरूपण करना ही आवश्यक है। अस्तु।

अलंकारों में भी उपमा को प्रायः सभी ने माना है उनमें भी प्रायः प्रथम स्थान दिया है। प्रायः का मतलब है कि विष्णुधर्मोत्तर ने उपमा को अलंकार ही नहीं माना है। उसके प्राथम्य की चर्चा तो बाद की है। प्रथमता के विषय में भी भामह एवं उद्भट ने रूपक दीपक को प्रथम स्थान दिया है उपमा को तीसरा। यह सब पहले कहा जा चुका है।

उपमा पद में दो अंश है। एक उप है जिसका अर्थ है समीप। दूसरा मा जिसके अर्थ है कहना, और मापना। दोनों के मिलने से यह अर्थ हुआ कि मापने के समीप। यहाँ का भाव यह है कि तुला तराजू के द्वारा जो बटखरो से अन्नादि मापा होता है वह सदृश होता है बराबर होता है उसमें कमी या बेशी नहीं है। क्योंकि नियत संतुलित वस्तु बटखरों से तराज़ू के द्वारा मापी गयी घी चीनी अन्न आदि वस्तु नियत ही होंगी उनमें कमी बेशी होने का प्रश्न ही नहीं होता है किन्तु जो उपमा है माप के समीप है वह बराबर नहीं हो सकता है। जैसे चन्द्र और मुख दोनों बराबर नहीं है। उनमें कमी बेशी हैं। क्योंकि वहाँ दोनों वस्तुओं के सदृश होने के लिए प्रयोजक है तराजू। तराजू से मापने पर दोनों वस्तु वस्तुतः सदृश होते हैं, और यहाँ उन वस्तुओं के सदृश होने के लिए प्रयोजक है साधारण धर्म। जो गुण, क्रिया एवं स्वभाव रूप है। साधारण धर्म से वे सदृश होते हैं। जैसे गुण, क्रिया या स्वभाव एक में होंगे वैसे ही दूसरे में होंगे यह सम्भव नहीं है किन्तु तब भी वे दोनों गुण, क्रिया एवं स्वभाव के बदौलत साधारणतः सदृश होंगे। क्योंकि गुण, क्रिया एवं स्वभाव का अंशतः उपादान होना पूर्ण रूपेण नहीं होगा। अतः साधारणतः ही सदृश होंगे। इसी

लिए साधर्म्यही" उपमा का लक्षण हुआ। साधर्म्य का अर्थ है। (समानेन धर्मेण सम्बन्ध यहाँ तृतीया का अर्थ है प्रयोज्यत्व अर्थात्) समान धर्म से प्रयोज्य सम्बन्ध। वह सम्बन्ध कार्य कारण भाव रूप या वाच्य वाचक भाव रूप कोई भी नही हैं। वह सम्बन्ध है सादृश्य। क्योंकि धर्म से सदृश किये गये सदृशों में सादृश्य ही सम्बन्ध हो सकता है। दूसरा नहीं हो सकता है। इसी लिए वहुत लोगों ने सीधे ही फलितार्थ रूप सादृश्य को ही उपमा कहा, वस्तुतः साधर्म्य को उपमा कहना चाहिए। क्योंकि सादृश्य साधारण धर्म प्रयोज्य ही है न कि साधारण धर्म रूप सादृश्य है। यदि कहें समानेन धर्मेण में तृतीया अभेदार्थक है।

अतः साधारण धर्म रूप ही सादृश्य है ऐसा मानेंगे तो धर्मलुप्ता उपमा नहीं हो सकेगी। क्योंकि साधारण धर्म रूप सादृश्य ही उपमा है, और धर्म-लुप्ता में उसका लोप हो गया, अभाव हो गया। तो सादृश्य की निष्पत्ति नहीं होगी इस तरह जव सादृश्य की निष्पत्ति नहीं हुई तव उपमा कैसी। सादृश्य के अभाव में भी उपमा मानेंगे तब व्यतिरेक एवं अनन्वय को उपमा से वहिर्भूत करने में कौन तुक है। क्योंकि जैसे धर्मलुप्ता में साधारण धर्म रूप सादृश्य अभाव होने से प्रतिष्ठित नहीं है उसी तरह उनमें भी सादृश्य प्रतिष्ठित नहीं है अतः सादृश्य को साधारण धर्म रूप मानना नितान्त असंगत है।

एक वात और भी है कि सभी आचार्यों ने पूर्णोपमा का स्वरूप उपमान, उपमेय, इवादि एवं साधारण धर्म इन चारों के उपादान होने पर ही निष्पन्न हुआ माना है। जव साधारण धर्म रूप सादृश्य है तव कहना होगा कि उपमान उपमेय इवादि एवं सादृश्य के उपादान में उपमा होती है और सादृश्य उपमा एक ही पदार्थ है। फलतः उपमा के उपादान में उपमा हुई यही अर्थ हुआ। तव यह कौन संगति है। जो लक्षण है, वही लक्ष्य हो जाय, जो लक्ष्य है, वही लक्षण है। लक्षण तो असाधारण धर्म होता है और लक्ष्य धर्मी होता है। अन्तरं महदन्तरम्। तस्मात् साधारण धर्म रूप सादृश्य मानना अपदार्थ ही है।

विचार करने की वात है कि उपमा का निरूपण उपमान से होता है। उप-मान लुप्ता में जव उसका लोप ही हो गया तव निरूपक के अभाव में सादृश्य का पर्यवसान कैसे होगा अर्थात् उपमा की निष्पत्ति नहीं होगी तव उपमा असम्भव हो गई। अतः उपमानलुप्ता को लुप्तोपमा का भेद मानना नितान्त असंगत होगा। हाँ अनन्वय एवं व्यतिरेक की तरह उपमानलुप्ता उपमा से वहिर्भूत स्वतन्त्र भेद हो सकती है।

अनन्वय में सादृश्य का अन्वय उचित रूप से नहीं होता है। अतः सादृश्य का अभाव है। व्यतिरेक में निषेध कृत चमत्कार होने से सादृश्य का निषेध ही है। अतः अभाव है। उपमानलुप्ता में सादृश्य के निरूपक का अभाव है अर्थात् सादृश्य की जड़ ही कट गई। अतः इन तीनों का उपमा से वहिर्भाव स्वाभाविक ही है।

यही स्थिति धर्मोपमानलुप्ता की है। धर्म रूप सादृश्य है मानने वालों के मत में सादृश्य रूप उपमा एवं उसके निरूपक उपमान का जब लोप हो गया तब भी उपमा को मानना आश्चर्यं किमतः परम्। उपमेयोपमा को पृथक् अलंकार माना जाता है। उपमानोपमा को पृथक् नहीं ऐसा क्यों ? क्योंकि उपमा उपमान से पृथक् नहीं हैं। उपमान ही के सहारे उपमा होती है। इसी लिए अप्पय दीक्षित जी ने लिखा है कि—

व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः इत्यादि। फलतः उपमान के लोप होने पर अर्थात् उपमान के अभाव में उपमा नहीं होगी।

"अनन्वय एवं असम"

जैसे चन्द्र के जैसा मुख है ऐसा कहने पर मुख के जैसा चन्द्रमा है यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है। याने व्यक्त हो जाता है। उस व्यक्त को वाच्य कर देने पर उपमेयोपमा एक पृथक अलंकार माना जाता है उसी तरह हे मातः ? गंगे ? आप अपने ही जैसी है ऐसा कहने पर आपके जैसी दूसरी कोई नहीं है यह स्वतः सिद्ध हो जाता है अर्थात् व्यक्त होता है। उस व्यक्त को शब्द से वाच्य कर देने पर असमालंकार मानना पूर्णतः उचित है। बिल्कुल सरल कथा है। इस तरह अनन्वय एक पृथक् अलंकार है और असम एक पृथक् अलंकार है। अस्तु।

किन्तु एक चर्चा और है जिसको उपमानलुप्ता एवं असम के विषय में आचार्यों ने उठाई है। अलंकार रत्नाकरकार का कहना है कि "ढुण्ढुलन्तो" इसमें उपमानलुप्तोपमा नही है किन्तु असमालंकार है। इस पर पंडितराज का कहना है कि यह उपमानलुप्ता ही है असमालंकार नही है। क्योंकि जहां आत्यन्तिक निषेध होता है वहां असमालंकार होता है और जहां क्वाचित्क निषेध होता है वहां उपमान लुप्ता होती है। प्रकृत में आत्यन्तिक निषेध नहीं है। अतः उपमान लुप्ता है।

इस पर विचार है। ये दोनों ही कथन बिलकुल गड़बड़ हैं। क्योंकि पहले तो उपमानलुप्ता यह पद ही व्याकरण की दृष्टि से ठीक नही है। चपात्त विधः कृतकृत्यः इत्यादि उदाहरणों की तरह निष्ठान्त का पूर्व निपात

होने से लुप्तोपमाना पद ही ठीक है। न कि उपमानलुप्ता। "वाहिताग्न्या-दिषु" इस सूत्र के आधार पर भी वैकल्पिक ही प्रयोग हुआ। अस्तु।

लुप्तोपमाना उपमा ही नही है यह पृथक् अलंकार है। जो भी नाम कहें। जैसे वादी एवं प्रतिवादी दोनों कचहरी में जाते हैं तब तो अपने अपने मत के उपस्थापक दोनों होते हैं। यदि उनमें से कोई एक नही रहेगा। तो उसके मत का उपस्थापक कौन होगा। कोई नही होगा। अर्थात् उसका मत खतम हो जायगा। उसी तरह लुप्तोपमाना में सादृश्य के निरूपक उपस्थापक उपमान के लुप्त होने पर अर्थात् उपमान के अभाव में सादृश्य खतम हो गया तब उपमा कैसे होगी। क्योंकि सादृश्य ही का नाम उपमा है। वह सादृश्य खतम हो गया तब उपमा कैसी। दूसरी वात है कि आत्यन्तिक निषेध और अत्यन्ताभाव दोनों पर्याय हैं।

क्योंकि अत्यन्त जो अभाव है उसी का नाम अत्यन्ताभाव है। इसका आशय यह है कि जो अभाव वस्तु सत्ता के पूर्व में भी था बाद में भी रहेगा तथा वस्तु सद्भाव काल में भी रहता है वह अत्यन्ताभाव है। यही आत्य-न्तिक निषेध का स्वरूप है। इसी को पंडित राज ने लिखा है कि

'भुवनत्रितयेऽपि मानवैः परिपूर्णे विबुधैश्च दानवैः।
न भविष्यति नास्ति नाभवन्नृप ? यस्ते भजते तुलापदम्" ॥

तीनो भुवन देव दानव एवं मानवों से परिपूर्ण है भरे पड़े हैं किन्तु जो तुम्हारे साथ तराजू पर स्थान प्राप्त कर सके वैसा न हुआ न होगा और न अभी ही है अर्थात् तुम्हारे जैसे तुम ही हो दूसरा नही है। यह अनन्वय यहाँ व्यक्त हो रहा है। इसको पंडित राज ने असम का उदाहरण लिखा है। यहाँ उपमा का निषेध किया है। ठीक यही स्थिति काव्यप्रकाश के इस उदाहरण में है।

"ढुण्ढुलन्तो मरीहसि कण्टककलिआइं केअइवणाइं।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमंतो न पावहिसि ॥' इति

काटों से व्याप्त केतकी के वनों में घूम घूम कर खोजते हुए मर जाओगे। किन्तु हे भ्रमर ? मालती के पुष्प के जैसा पुष्प नही पाओगे। अर्थात् मालती के पुष्प के सदृश दूसरा पुष्प नही है मालती के पुष्प के जैसा मालती का पुष्प ही है। यह अनन्वय अलंकार यहाँ व्यक्त हो रहा है। और घूम-घूम कर खोजते हुए तुम मर जाओगे किन्तु नही पाओगे। इसका आशय यह है कि वर्तमान काल में भी उसके सदृश नहीं प्राप्त है तभी तो खोज हो रही

है। प्राप्त होता तो खोज क्यों होती अतः वर्तमान में नहीं प्राप्त है और भविष्य में प्राप्त नही होगा। इस तरह दो काल का निषेध वाच्य है। और घूम-घूम कर खोजते हुए कहने से सिद्ध है कि खोज पहले से ही चालू है। फलतः भूतकाल का निषेध भी स्वतः सिद्ध है।

यही हाल पण्डित राज के उदाहरण में भी है।

'भूमीनाथ ? शहावदीन ? भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावये-
न्न स्यादेव तथापि तावक तुलालेशं दधानो नरः॥"

हे भूमिनाथ ? शहावदीन ? आपके सदृश वर्तमान काल में नही है इसको क्या कहें। आगे भी नही होगा। यहाँ भूतकाल का निषेध वाच्य नही है अर्थात् सिद्ध करना पड़ रहा है। अतः जब दोनों उदाहरणों में समान स्थिति है तब इसको उपमानलुप्ता मानना और फिर उपमानलुप्ता को उपमा कहना तो नितान्त असंगत है अज्ञान है। हां असम अलंकार मानना पूर्णतः उचित है।

इसके सिवाय "कुसुम सदृश" इस शब्द का प्रयोग करते हैं और उपमान लुप्ता कहते हैं। कितनी भ्रान्ति है। सदृशादि शब्द नित्य प्रतियोगी सापेक्ष है। जैसे षष्ठी विभक्ति भेदक के परे ही होती है भेद्य के परे नहीं होती है। उसी तरह इवादि शब्द एवं सदृशादि शब्द प्रतियोगी के वाद ही उपस्थित होते हैं अनुयोगी के वाद नहीं। इसीलिए मम्मटाचार्य का नियम के रूप में फलितार्थ कथन है कि यथेवादि शब्दा यत्परास्तत्रैव उपमानतां द्योतयन्ति। अतः कुसुम सदृश में कुसुम उपमान ही है। फलतः उपमान लुप्ता का उदाहरण ही नहीं हो सकता है। यही हाल पण्डित राज के उदाहरणों का है।

'यस्य तुलामधिरोहसि लोकोत्तरवर्णपरिमलोद्गारैः।
कुसुमकुलतिलक?चम्पक?न वयं तं जातु जानीमः॥'

जिसकी तराजू में तुम चढ़ सको उसको हम नहीं जानते। यहाँ "वयं न जानीमः" इस तरह वहुवचन का उपादान किया है। अहं न जानामि इस तरह एक वचन का उपादान नहीं किया है। यदि एक वचन होता तो मैं नहीं जानता शायद तुम जानते होगे या वह जानता होगा यह भाव होता। किन्तु हम नहीं जानते इस वहुवचन का भाव है कि हम नहीं जानते तो क्या तुम जानोगे

या वह जान पायेगा। विश्व उसको विपथ कहे या सुपथ कहे पथ तो वही है जिस पर हम चलते हैं। अतः यह स्वतः सिद्ध होता है कि तुम बेजोड़ हो तुम्हारा शानी दूसरा नहीं है यह असमालंकार वाच्य है और अनन्वय व्यंग्य है किन्तु उपमान लुप्त नहीं है।

'गाहितमखिलं विपिनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
सहकार?न प्रपेदे मधुपेन तथापि ते समं जगति।:'

हे सहकार ! मधुपने पूरा वन खोज डाला चारो ओंर के सभी पेड़ देख लिए किन्तु तुम्हारे सदृश जगत् में उसको नहीं मिला। पूर्ववत् यहाँ भी सब वही बात है।

उदाहरण

यह अलंकार नया है शोभाकरमित्र ने इसका आविर्भाव किया है। ठीक है किन्तु पण्डितराज की कल्पित आशंका एवं उसका उत्तर दोनों ही जरा विचारणीय है। विषय यह है कि

किसी ने आशंका की है कि इव और यथा शब्द सादृश्य के वाचक हैं। अतः सामान्य विशेष स्वरूप अवयवावयविभाव अर्थ में उन शब्दों की शक्ति नहीं है। इसके उत्तर में पण्डित राज कहते हैं कि लक्षणा का साम्राज्य है अर्थात् लक्षणा के द्वारा वे उस अर्थ को कहेंगे। अन्यथा यदि लक्षणा का उपयोग नहीं करेंगे तो उन शब्दों में उत्प्रेक्षा बोधकता भी दुर्घट ही होगी। आपका आशय है कि उत्प्रेक्षा बोधकत्व भी उन शब्दों में लक्षणा के जरिये ही है।

यहाँ विचारणीय यह है कि इव और यथा शब्द सादृश्य ही के केवल वाचक होते तो आशंका जमती भी किन्तु इव शब्द के कोषकारों ने सादृश्य १ उत्प्रेक्षा २ वाक्यालंकार ३ एवार्थकत्व ४ एवं अवधारण ५ ये पाँच अर्थ लिखे हैं। जैसे उनके उदाहरण—चन्द्र इव मुखम्। चन्द्र के सदृश मुख है।१। दूरे तिष्ठन् देवदत्त इवाभाति। यह जो व्यक्ति वहाँ बैठा हुआ है वह दूर से ऐसा मालूम पड़ता है मानों देवदत्त है। मुखमेणीदृशो भाति पूर्णचन्द्र इवापरः। मृगनयना का मुख ऐसा मालूम पड़ता है मानों दूसरा पूर्ण चन्द्र है।२। किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्" (यह शाकुन्तल में कालिदासोक्ति है) मधुर आकृति के लिए कौन वस्तु मण्डन नहीं बन सकती है।३। श्रिये पूषन्निषुकृतेव देवाः (ऋग्वेद १।१८४।३) भाष्यकार सायण इसके भाष्य में लिखते हैं कि यहाँ इव शब्द एव के अर्थ में है। इव शब्द

एवार्थे ४। "श्लक्ष्णेव तु ईश्वरा" शतपथ ब्राह्मण। इसके भाष्य में लिखा है कि (इव शब्दोऽवधारणार्थः) इव शब्द यहाँ अवधारण निश्चय अर्थ में है। ५।

इस तरह इव शब्द अन्य अर्थों की तरह उत्प्रेक्षा रूप अर्थ का भी वाचक ही है। इसलिए यहाँ मुख्यार्थ बाधका अभाव है अतः लक्षणा का प्रसार नहीं है।

यथा शब्द के विषय में पाणिनि का सूत्र है कि यथाऽसादृश्ये। सादृश्य से भिन्न अर्थ में यथा शब्द का समास हो। सादृश्य से भिन्न अर्थ है योग्यता १ वीप्सा २ पदार्थानतिवृत्ति तीन। चौथा अर्थ सादृश्य है।

इस तरह यथा शब्द तो उत्प्रेक्षा बोधक है ही नहीं। अतः आशंका और उत्तर दोनों ही गड़बड़ हैं।

स्मरण

स्मृति भ्रान्ति एवं सन्देह :—

ये तीनों ज्ञान विशेष हैं। इनमें स्मृति का बीज निमित्त कारण है संस्कार। क्योंकि संस्कार जन्य ज्ञान को स्मृति कहा है। उस संस्कार के उद्‌बोधक सदृश वस्तु का दर्शन श्रवण मनन एवं कथन। तथा अदृष्ट (भाग्य) और चिन्ता आदि हैं जैसा कि लिखा है।

सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृति बीजस्य बोधकाः। अस्तु। इन उपर्युक्त कारणों में सदृश वस्तु के दर्शन, श्रवण, मनन एवं कथन से उद्‌बुद्ध संस्कार से जन्य सदृश वस्तु विषयक स्मृति को हृद्य होने पर अलंकार कहा है। ऐसा आलंकारिकों का सिद्धान्त है।

"भ्रान्तिमान्"

जैसे स्मृति को अलंकार कहते हैं किन्तु उस तरह भ्रान्ति को अलंकार नहीं कहा जाता है इसके विषय में रुय्यक, विमर्शिनी कार एवं पण्डित राज कहते हैं कि सादृश्य मूलक भ्रान्ति ही अलंकार है। भ्रांतिमान् अलंकार है यह व्यवहार औपचारिक लाक्षणिक है। आपका आशय है कि नैयायिक के अनुसार भ्रांति ज्ञान है। और ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। अतः भ्रांतिमान चेतन ही होगा या वेदान्त के मत में भ्रांति चित्त का धर्म है। अतः धर्मी चेतन ही भ्रान्तिमान् होगा। अलंकार भ्रांतिमान् कैसे होगा ? अतः अलंकार को भ्रांतिमान् लक्षणा के द्वारा कह सकते हैं।

पण्डितराज ने पशु पक्षि एवं पशु सदृश हालिक वगैरह की भ्रांति को अलंकार कहा है। यह भी उनका एक देशी कथन ही है। "भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात्" भ्रांति पुरुषों का धर्म है। यह चाणक्य का कथन है। कहते हैं कि भ्रांति सभी को हो सकती है अतः राजा को चाहिये कि अपने सभी व्यवहारों को वह लेख बद्ध करे। आगे लिखा है कि मुनीनां च मतिभ्रमः। मुनियों को भी भ्रम होता है। अतः सादृश्य मूलक कविप्रति भोत्थापित एवं हृद्य भ्रान्ति मात्र अलंकार है।

सन्देह-ससन्देह

ससन्देह और सन्देह ये दो नाम अलङ्कार शास्त्र में मिलते हैं। जिनमें पहला नाम भ्रान्तिमान् की तरह सन्देह सहित जो अलंकार वह ससन्देह है। दूसरा नाम स्मृति की तरह साक्षात् सन्देह है। यह सन्देह कहीं पर अनाहार्य और कहीं पर आहार्य होता है। जहाँ कवि परनिष्ठ सन्देह का निबन्धन करता है वहाँ प्राय; अनाहार्य ही होता है जहाँ स्वगत संशय होता है वहाँ आहार्य ही होता है। इसमें नानाकोटियों में कही पर एक ही समान धर्म रहता है और कहीं पर अलग २। वह भी कहीं पर अनुगामी कहीं पर विम्ब-प्रतिविम्बभावापन्न और कहीं पर अनिर्दिष्ट होता है।

"रूपक"

जिस सादृश्य वर्णन से उपमिति क्रिया तुलना की निष्पत्ति हो उस वर्णनारूढ़ सादृश्य को जैसे उपमा कहते हैं। वैसे ही जिस सादृश्य गर्भ अभेद से रूपण क्रिया आरोप व्यापार की निष्पत्ति हो उस अभेद परिणत सादृश्य को रूपक कहते हैं।

यहाँ आहार्य ताद्रूप्यनिश्चय होता है उदाहरण से समझाते हैं।

लोक में जिसको मुलम्ना कहते हैं उसी को आलंकारिक भाषा में रूपक कहते हैं। जो चान्दी नहीं है शुद्ध राँगा है उस पर पानी चढ़ा दिया मुलम्मा कर दिया चाँदी मालूम पड़ने लगा। शुद्ध ताँबा है पीतल है पानी चढ़ा दिया सोना मालूम होने लगा" इसी तरह मुख है चन्द्र नहीं है किन्तु चन्द्रत्वका आरोप कर दिया चन्द्र का अनुभव होने लगा। यह आरोप ऐच्छिक है। स्वरसतः जो आरोप होता है वह भ्रान्ति है। जैसे सीपी में रजत की प्रतीति आरोप ही हैं। यहाँ अर्थ में अर्थ का आरोप है शब्द में शब्द का आरोप नही है।

जब यह आरोप अवयवों में न होकर केवल अवयवी में होता है तब

निरवयव कहलाता है और अवयवों के सहित अवयवी में होता है तब सावयव कहाता हैं। जहाँ आरोप में परम्परा होती हैं। एक का आरोप दूसरे आरोप का कारण हो जाता है। वहाँ परम्परित होता है। जिनमें केवल निरवयव अर्थात् जो मालारूप में नही है। और जहाँ एक में अनेक काओर अनेक में अनेक का आरोप रहे वह मालारूपक है। जहाँ कुछ आरोप्यमाण वस्तु अभिधा का विषय हो और कुछ अभिधा का विषय नहीं हो अर्थात् आर्थ हो वह एक देश में विशेष रूप से रहने के कारण एक देश विवर्ती रूपक है। तृतीय परम्परित श्लिष्ट शब्दों और अश्लिष्ट शब्दों से रचित होकर भी केवल तथा माला रूा में होता है अतः चार प्रकार का है। दो प्रकार निरववव के और दो प्रकार सावयव के मिलकर चार प्रकार का हुआ। कुल योग आठ प्रकार का हुआ। उपमा की तरह यहाँ भी साधारण धर्म कहीं पर अनुगामी, कहीं पर बिम्ब प्रतिबिम्ब भावापन्न है। कहीं पर उपचरित है। कहीं केवल शब्द रूप है। अनुगामी रूप भी कहीं वाच्य होता है कहीं प्रतीयमान।

यह रूपक जो विषय और विषयी के समानविभक्तिकस्थल में होता हैं। और जहाँ विषय एवं विषयी का अभेद किसी पद का अर्थ नहीं है। किन्तु आकारक्षा आदि से भास्य है वह समानाधिकरण्येन निर्देश कहाता है और जो भिन्न विभक्तिकस्थल में होता है वह वैयधिकरण्येन निर्देश कहाता है यहाँ कहीं पर वह अभेद विशेष्य रहता है और कहीं पर विशेषण रहता है। सादृश्य हेतुक अभेद के लिए लक्षणा की आवश्यकता नहीं है। सम्बन्धान्तर हेतुक अभेद के लिए लक्षणा व्यंजना की आवश्यकता है।

परिणाम

रूपक में विषयी चन्द्र का अभेद सिद्धांत रूप से विवक्षित है और परिणाम में विषय मुख का अभेद विवक्षित है इतना ही नहीं है किन्तु उसका वहाँ की क्रिया में उपयोग भी है। दृगब्ज से देखती हैं यहाँ अब्ज कमल से देखा नहीं जा सकता है क्योंकि कमल देखने का साधन नहीं है। अतः जब उस कमल में दृष्टि का अभेद करते हैं तब दृष्टि रूप कमल से देखा जा सकता है। रूपक में विषय का अभेद नहीं होता है। यह उपात्त क्रियोपयोगित्व एवं प्रकृताभिन्नत्व ही परिणाम काजीवातु है।

उल्लेख

अनेक वस्तु को अनेक प्रकार से देखने में कोई विलक्षणता नहीं है हाँ एक वस्तु को अनेक प्रकार से समझने में चमत्कार होता है। अतः कहीं पर समझने में अनेकता होती है वहाँ उसी ज्ञान की अनेकता में चमत्कार होता है और कहीं पर समझने के प्रकार में अनेकता होती है वहाँ उसी प्रकार की अनेकता

में चमत्कार होता है। दोनों में कारण है समझने वाले की इच्छा अपना स्वार्थ एवं व्युत्पत्ति। जैसा कि कहा है।

यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धान साधिते।

यहाँ समझना ही उल्लेख है कल्पना उल्लेख नहीं है।

जहाँ उल्लेख होता है वहाँ भ्रांति, अतिशयोक्ति, रूपक, अपह्नुति, श्लेष आदि अलंकारों का जमघट बना ही रहता है किन्तु अनेकधा समझना, एवं समझने में अनेकता ही इतना चमत्कारी अंश है जो उनसे अलगाव करने में जब्बर पड़ जाता है अतः उल्लेख अलंकार अपना प्रभुत्व बनाये रखता है। अतः शुद्ध एवं संकीर्ण दो प्रकार का उल्लेख होता है।

"अपह्नुति"

अपह्नुति का अर्थ है निषेध। जहां एक का निषेध होता है वहां दूसरे का विधान होता है। यह नियम है तदनुसार विषय के निषेध होने पर विषयी का विधान होना स्वाभाविक हैं। अन्य में अन्य का विधान आरोप पदार्थ है। फलतः निषेधपुरः सर आरोप या आरोपपुरः सर निषेध या फिर मिष छल कपट अर्थ के वाचक शब्दों से याने विषय के असत्यत्व के प्रतिपादक शब्दों से निषेध का निर्देश ये तीन प्रकार इसमें होते हैं। उनमें भी विषयी का ताद्रूप्य और विषय का निषेध दोनों शब्द से कहे जाएं या दोनों आर्थ हों या एक शाब्द हो या एक आर्थ हो। वे भी कदाचित् विधेय हो या अनुवाद्य हो।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा का विषय बहुत जटिल है अतः इसको थोड़े विस्तार से लिखते हैं। पहिले पहल उद्भटाचार्य ने सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहा। तदनुसार आज तक के सभी आचार्यों ने वही शब्द कहे। अवान्तर समय में आचार्य रुय्यक ने "एवमभेदप्राधान्ये आरोपगर्भालंकानल्लक्षयित्वा अध्यवसायगर्भांल्लक्षयति, तत्र—

अध्यवसाये व्यापारप्रधान्ये उत्प्रेक्षा।

इस प्रकार अभेद की प्रधानता में आरोपगर्भ (रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रांतिमान्, उल्लेख और अपन्हुति) अलंकारों का लक्षण बतलाकर अब अध्यवसाय गर्भ अलंकारों का लक्षण कहते हैं। उनमें जहाँ अध्यवसाय हो किन्तु व्यापार की प्रधानता हो वहाँ उत्प्रेक्षा होती है ऐसा लिखा है, और आगे लिखते हैं कि—

अध्यवसाये त्रयं भवति। स्वरूपं विषयो विषयी च। विषयस्य च विषयिणाऽन्तर्निगीर्णत्वेऽध्यवसायस्य स्वरूपोत्थानम्। तत्र साध्यत्वे स्वरूप प्राधान्यम्। सिद्धत्वे त्वध्यवसितप्राधान्यम्। विषयप्राधान्यमध्यवसाये नैव संभवति।

अध्यवसाय में तीन बातें होती हैं। स्वरूप, विषय और विषयी। विषयी के द्वारा विषय के निगरण होने पर ही अध्यवसाय का अपना रूप प्रकट होता है। उसमें भी जब अध्यवसाय साध्य होता है तब अध्यवसाय स्वयं प्रधान होता है, और जब अध्यावसाय सिद्ध हो तब अध्यवसित विषयी प्रधान होता है। किन्तु अध्यवसाय में विषय की प्रधानता कभी नहीं होती है। इधर लिखते हैं कि

न चविषयस्य गम्यमानत्वं युक्तम्। तस्योत्प्रेक्षाधारत्वेन प्रस्तुतस्य अभिधातुमुचितत्वात्।

विषय को गम्यमान करना ठीक नहीं है क्योंकि वह उत्प्रेक्षा का आधार होने से प्रस्तुत है अतः उसका शब्दतः कहना उचित है।

यह सब परस्पर विरोधी कथन ऐसे हैं कि इनके विरोध का परिहार करना आवश्यक है।

प्रथम विरोध तो यह है कि अध्यवसाय का स्वरूप है जहां विषय का निगरण हो अनुच्चारण हो और उसके बाद विषय का निश्चय हो। किन्तु उत्प्रेक्षा में एक भी नहीं है। क्योंकि यहां विषय का उपादान रहता है और संभावना होने से निश्चय का अभाव रहता है। इसका परिहार यथापि विमर्शिनीकार ने किया है कि अध्यवसाय दो प्रकार का होता हैं एक स्वारसिक दूसरा उत्पादित। जिनमें स्वारसिक अध्यवसाय में विषय के ज्ञान नहीं रहने पर भी निमित्त के बल पर स्वरसतः अपने आप विषय की प्रतीति होती है। क्योंकि शुक्तिका के स्वरूप को समझ जाने पर कभी भी प्रमाता को रजत की प्रतीति नहीं होगी और उत्पादित अध्यवसाय में तो विषयी से विविक्त विषय को जानने वाला ही विषय में प्रयोजनाधीन होकर विषयी का अध्यवसाय करता है। जिनमें पहला स्वारसिक अध्यवसाय भ्रांति का स्थल है और दूसरा उत्पादित अध्यवसाय उत्प्रेक्षा का विषय है। वह उत्पादित अध्यवसाय भी सिद्ध और साध्य दो प्रकार का है। सिद्ध वह है जहां विषय का निगरण होता है अतः उसके उपादान नहीं होने से विषयी प्रधान होता है। साध्य वह है जहां विषय की सम्भावना ज्ञानात्मकता रूप निगीर्यमाणता के बदौलत अध्यवसाय क्रिया की प्रधानता हो और इवादि का उपादान हो।

इवादि के उपादान होने से निगीर्यमाणता की प्रधानता में भी सम्भावना का उद्रेक होता है। विषय की निगीर्यमाणता के कारण यहाँ आरोप नहीं है क्योंकि आरोप में विषय (मुख) की विषयी (चन्द्र) रूप से प्रतीति होती है। अध्यवसाय में विषय के निगरण से विषयी की ही प्रतीति होती है।

इस तरह विमर्शिनी कारने विरोध का परिहार किया कि अध्यवसाय में निश्चय रहता है और उत्प्रेक्षा अनिश्चयात्मक सम्भावना स्वरूप है अतः दोनों की सहस्थिति नहीं हो सकती है किन्तु निगीर्यमाणता की प्रधानता होने पर भी इवादि के उपादान से सम्भावना का उद्रेक हो ही जाता है। अतः अध्यवसाय में भी उत्प्रेक्षा हो जाती है। तथापि जहाँ इवादि का उपादान नहीं होता है वहाँ भी गम्योत्प्रेक्षा होती है ऐसी मान्यता है। किन्तु अब वह नहीं होगी क्योंकि अध्यवसाय स्थल में निश्चय होता है सम्भावना अनिश्चय रूपा है। भावाभाव का पूर्ण विरोध है। अध्यवसाय के रहने पर जिन इवादि के उपादान से सम्भावना का उद्रेक होता है उन इवादि का उपादान प्रतीयमानोत्प्रेक्षा होगा नहीं तो सम्भावना के विना कैसी उत्प्रेक्षा।

हाँ यदि यह कहें कि निगरण और निर्गीयमाणत्व दो पदार्थ हैं और निगीर्यमाणत्व का अर्थ है निगरणीयत्व अर्थात् निगरण नहीं है किन्तु निगीर्ण होने की योग्यता है अतः सम्भावना रूप ही वह है : इस तरह घुमा-फिराकर द्रविड प्राणायाम करके क्लिष्ट कल्पना करने की क्या आवश्यकता है सीधे-सीधे सम्भावना उत्प्रेक्षा है यही कहना चाहिए। सम्भावना का स्वरूप है एक कोटि जहाँ उत्कट हो। जैसे तमो घूमभरं शंके कोकीविरह शुष्मणाम् [यह निर्दुष्ट पाठ है। घूमस्तोमं तमः शंके में उद्देश्य तमको पहले नहीं कहकर विधेय घूम को पहिले कहा है अतः उद्देश्य वचनं पूर्वम् इस नियम की अवहेलना करके विधेय घूमस्तोम का अविमर्श किया गया है] इस उदाहरण में तम को घूम वतलाया गया। अतः घूम की कोटि उत्कट है। यही सम्भावनात्मक उत्प्रेक्षा है।

वह उत्प्रेक्षा दो प्रकार की है। वाच्या और प्रतीपमाना। उत्प्रेक्षा सामग्री और उत्प्रेक्षा के प्रतिपादक इव नूनं ध्रुवम् आदि अव्यय, मन्ये शंके आदि क्रियायें एवं क्यङ् आचार क्विप् आदि प्रत्यय जहाँ रहे वहाँ वाच्या होती है। जहाँ उक्त प्रतिपादक शब्द नहीं रहे किन्तु उत्प्रेक्षा सामग्री रहे वहाँ प्रतीयमाना रहती है। और जहाँ सामग्री नहीं रहे केवल प्रतिपादक रहे वहाँ सम्भावनामात्र है उत्प्रेक्षा नहीं है।

अब यहाँ शंका होती है कि गम्या या प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा को अलङ्कार नहीं कानना चाहिये किन्तु उसे ध्वनि कहना चाहिए। इस पर उत्तर देते है कि जैसे उपमान, उपमेय, साधारण और इवादि ये चारो जहाँ रहें वहाँ पूर्णोपमा रहती है और एक दो या तीन जहाँ नहीं रहें वहाँ लुप्तोपमा रहती है उसी तरह विषय, विषयी निमित्त एवं इवादि ये चारों जहां रहें वहां वाच्या उत्प्रेक्षा अलंकार होती है। और जहां विषय, विषयी एवं निमित्त ये तीन ही रहे केवल इवादि का प्रयोग नहीं रहे वहां वह अत्यन्त स्फुट है अतः वाच्यामान होने से गम्या या प्रतीयमाना भी उत्प्रेक्षा अलङ्कार होती है। किन्तु जहां इवादि के भी उपादान नहीं रहने से गम्या और विषयी के भी उपदान नहीं रहने से गूढा तथापि कविनिबद्ध वस्तु अथवा अलङ्कार से जो प्रकाश्या हो वही उत्प्रेक्षा ध्वन्यमाना होती है। जैसे—

युद्ध में जयलक्ष्मी समालिगित वीरों को देख कर जङ्गल में वृक्ष दुश्मनों की औरतों के केशों का आकर्षण करते हैं। यहाँ वृक्ष केशों का आकर्षण करते हैं। इससे व्यक्त होता है जयलक्ष्मी समालिङ्गित वीरों को देखने से मानों उनको भी कामोद्रेक हो गया है।

यहाँ इवादि का उपादान नहीं है और न वीरों में किसी की सम्भावना की गयी है अतः विषयी का भी उपादान नहीं है। वृक्षकर्त्तृक कचग्रहण रूप सुरतेच्छारूप काम के उद्रेक की सम्भावना की गयी है जो कि ध्वन्यमान है।

वह उत्प्रेक्षा पुनः तीन प्रकार की है स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा। जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य पदार्थों की इन्हीं जाति गुण क्रिया एवं द्रव्यों में इन्हीं जाति गुण क्रिया एवं द्रव्य रूप निमित्तों से तादात्म्य या तादाम्येतर सम्बन्ध रहने पर सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं। इन निमित्तों को धर्म माना गया है। अर्थात् इन निमित्तभूत धर्मों से सम्भावना करते हैं। ये धर्म अलग अलग रहे या एकत्रित रहे उसमें उपात्त रहे या अनुपात्त रहे, उसमें निष्पाद्य रहे या निष्पन्न रहें। इन षड् विधर्मों में से कोई तीन अवश्य रहने चाहिए। इनमें भी तादात्म्य अभेद सम्बन्ध से होने वाली उत्प्रेक्षा को धर्मी स्वरूपोत्प्रेक्षा कहते हैं। अभेद सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्धों से होने वाली उत्प्रेक्षा को धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा कहते हैं। यह सब उत्प्रेक्षायें भावरूप पदार्थों की, भावरूप पदार्थों में भावरूपपदार्थरूप निमित्त भूतधर्मों से उक्त सम्बन्धों के द्वारा होती है। इन्हीं सबके अभावरूप में उपस्थित होने पर भी होती है। अतः भावाभाव रूप हैं।

सरल रीति से कहना है कि जैसे अलंकार भी एक वस्तु ही है अतः वस्तु पद से अलंकार का भी ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार वस्तु ध्वनि के अन्तर्गत ही अलङ्कार ध्वनि सुतरां प्राप्त हो गई। फलतः वस्तु ध्वनि एवं अलङ्कार ध्वनि भिन्न-भिन्न दो पदार्थ नहीं होते हैं। किन्तु वस्तु पद से अलङ्कार से भिन्न वस्तु यहाँ विवक्षित है इसलिए वस्तु अलग है अलङ्कारध्वनि अलग है। इसी तरह वस्तु के ही भेद हेतु और फल है अतः वस्तूत्प्रेक्षा के अन्तर्गत ही हेतूत्प्रेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा भी आ जाती है। किन्तु वस्तु पद से यहाँ हेतु एवं फल से भिन्न वस्तु का ग्रहण है। इसी वस्तूत्प्रेक्षा को ही स्वरूपोत्प्रेक्षा कहते हैं। वह स्वरूप धर्म एवं धर्मी दोनों का है। अतः धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा धर्म स्वरूपोत्प्रेक्षा भी इसी को कहते हैं। जो हेतु नहीं है उसी में हेतुरूप की संभावना करना हेतूत्प्रेक्षा, जो फल नहीं है उसमें फलस्वरूप की सम्भावना करना फलोत्प्रेक्षा है।

विषय (उपमेय) में विषयी (उपमान) की आहार्य सम्भावना करते हैं। उसका निमित्त है हेतु है विषयी में रहने वाले धर्म का या उस धर्म के सहचरित धर्म का विषय के साथ सम्वन्ध। इन दोनों में से किसी धर्म का सम्वन्ध रहेगा तभी उत्प्रेक्षा होगी; यही उत्प्रेक्षा सामग्री है।

धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा धर्मसम्वन्ध प्रयुक्ता होती है और धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा धर्म-सहचरित धर्मसम्बन्ध प्रयुक्ता होती है। विषयी में रहने वाले या विषयी में रहने वाले धर्म का सहचारी इन दोनों में से एक धर्म। इस तरह धर्म में तन्निष्ठतत्समानाधिकरणान्यतरत्वेन का निवेश करके लक्षण का अनुगम करना है। प्राचीनों ने सर्वत्र विपय में विपयी की अभेदेन उत्प्रेक्षा मानी है दूसरे दूसरे सम्वन्धों से नहीं। जैसे "मुखं चन्द्रं मन्ये" इत्यादि में विपयी चन्द्र का अभेद विषय मुख में स्पष्ट ही है। इसी तरह

अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत्कुचशैलशीली।
नानारदाह्लादि मुखं श्रितोरूर्व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः॥

इस दमयन्ती के विपय में मुनियों के अर्थात् मननशील महा पुरुषों के भी मोह की सम्भावना करता हूँ। फिर विषय भोग परायण लोगों की तो बात ही क्या की जाय। क्योंकि महान् भृगु प्रपात (तट जिसमें नहीं हो ऐसे प्रपात को भृगु कहते हैं) शैल में नियम से रहता है। पक्षान्तर में भृगु ऋपि शैल सदृश विशाल कुच का अनुशीलन करता है। नाना अनेक दान्तों से मनोहारी मुख है। दूसरे पक्ष में, जो नारद नहीं है वह अनारद अर्थात्

नारद भिन्न हैं और जो अनारद नहीं है नारद भिन्न नहीं है अर्थात् नानारद है नारद भिन्न-भिन्न याने नारद है। उसके लिए मुख आह्लादी है। अतीव चमत्कारी सुरत की सृष्टि के योग्य व्यास विस्तार ऊरु में मौजूद है। दूसरी तरफ महाभारत ग्रन्थ के निर्माता व्यास जी ने ऊरूका आश्रयण किया है।

यहाँ मुनियों को दमयन्ती के विषय में मोह हो गया है। पण्डितराज लिखते हैं कि यहाँ धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा है जो कि अभेद सम्बन्ध से ही है। मुनियों का मोह धर्म है जो विषयी है। और उन्हीं मुनियों का मोह से दर्शनादि दूसरा धर्म विषय है जो कि अनुपात्त है क्योंकि उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय होता है अतः विषय का अनुपादान संगत है। दमयन्ती के कुच, मुख एवं ऊरू में क्रमशः अनुशीलन, मन का अनुहरण एवं आश्रयण रूप आसक्ति होने के कारण मुनियों का दमयन्ती के तरफ देखना उसकी बातें सुनना मानों उनको मोह हो गया है।

इसी तरह "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः" यहाँ पर भी प्रथमान्तार्थ कर्ता तम में लेपन कर्तृत्व अनुकूल व्यापार की भेदेन उत्प्रेक्षा नहीं है। क्योंकि वह कर्त्ता लिम्पति और वर्षति आख्यात के अर्थ व्यापार में विशेषण होने से एक देश है। पदार्थ का पदार्थ के साथ अन्वय होता है न कि एक देश से अतः एक देश भूत कर्त्ता का अन्वय उत्प्रेक्षा में नहीं होगा। और न तम रूप विशेष कर्त्ता में लिम्पतिगततिङर्थरूप सामान्य कर्त्ता की (सामान्य विशेषयोरभेदान्वय न्याय के अनुसार) अभेदेन उत्प्रेक्षा है। क्योंकि वह कर्त्ता लेपन एवं वर्षण क्रिया में विशेषण है अतः अप्रधान है। अर्थात् भाव-प्रधान आख्यात होता है अतः प्रधानीभूत क्रिया में उपसर्जनत्वेन अन्वित कर्त्ता का इवार्थ उत्प्रेक्षा में अन्वय नहीं होगा।

किन्तु तमः कर्तृक अंगकर्मक लेपन और नभः कर्तृक अंजन कर्मक वर्षण की उत्प्रेक्षा की जाती है। यहाँ लेपन एवं वर्षण रूप विषयी के द्वारा व्यापन एवं अधः प्रसरण रूप विषयों का निगरण है अतः अनुपादान है। उत्प्रेक्षा का निमित्त धर्म श्यामीकारकत्व है जो कि अनुपात्त है। इस तरह अनुपात्त विषया अनुपात्तनिमित्ता उत्प्रेक्षा है।

यहाँ पण्डितराज विचार करते हैं कि सभी जगह अभेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा की जाय इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है। बहुत से लक्ष्य ऐसे हैं जिनमें भेद सम्बन्ध से भी उत्प्रेक्षा होती है। जैसे मुनियों के देखने सुनने कहने रूप धर्म विषय में मुनियों के मोह रूप धर्म विषयी की अभेदेन उत्प्रेक्षा

है ऐसा नही कहना चाहिए। क्योंकि भेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा करने में कोई बाधक नहीं हैं अतः इस तरह की कल्पना करना निरर्थक ही है। अभेद सम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा की जानी चाहिए। यह वेद ने नहीं बतलाया है। अतः कहीं पर अभेदन उप्रेक्षा होगी और कहीं पर भेदेन। लक्ष्य के अनुसार व्यवस्था होना आवश्यक है।

यहाँ पर प्रतिविचार होता है कि अहो मोहस्य माहात्म्यम्। यहाँ पण्डित राज को बहुत भारी व्यामोह हो गया है। आप कहते हैं कि "अस्यां मुनीनामपि मोह मूहे" यहाँ मुनियों के दमयन्ती की तरफ ताकने रूप धर्म में उन्हीं (मुनियों) के मोह रूप धर्म की अभेद सम्बन्ध से सम्भावना की जाती है।

इस पर सेवा में निवेदन है कि यहाँ दमयन्ती के कुच, मुख एवं ऊरू में चित्त के आसक्त होने पर (आसक्त होना ही निमित्त है) भृगु, नारद एवं व्यास मुनियों विषयों में मोह विषयी की सम्भावना करता हूँ। मुनि लोग धर्मी विपय हैं और मोह धर्म विषयी है। अतः धर्मी में धर्म की उत्प्रेक्षा है (न कि धर्म में धर्म की जैसा कि आपने लिखा है) क्योंकि मूल पाठ है (अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे) मुनियों में दमयन्ती विषयक मोह की सम्भावना करता हूं। यह उक्त उत्प्रेक्षा भेद सम्बन्ध से होगी। अभेद संबंध से नहीं होगी। और आपके लेखनानुसार धर्म में धर्म की सम्भावना अभेद से ही होगी भेद से नहीं होगी। अगर भेद से होती तो आप लिखते। इतना प्रपंच तो लिख गये, इसके आकार को क्यों नहीं लिखा।

यह पदार्थो के स्वभाव एवं विद्वानों की व्युत्पत्ति के अनुसार व्यवस्था है। अतः मुनियों को मोह हुआ कि नहीं हुआ कौन जाने किन्तु आपको ही मोह क्या व्यामोह भी हो गया है। धर्मी में धर्म की भावना को आपने भी लिखा है जैसे लिम्पतीव तमोऽगानि इसमें भी तम और नभ धर्मी विपयों में लेपनादि कर्तृत्व अर्थात् लेपनानुकूल व्यापार वर्षणानुकूल व्यापार रूप धर्म की सम्भावना उत्प्रेक्षा है। पहले में तमो व्यापन निमित्त है। दूसरे में आकाश से भूमि पर्यन्त गाढ़ नीलिमा का व्यापन निमित्त है। इस तरह और भी समझना चाहिए। उत्प्रेक्षाओं के सम्बन्ध में अधिक विवेचना रस गंगाधर की हमारी टीकाओं में देखें।

अतिशयोक्ति

यहाँ अतिशय की उक्ति होती है। इसमें अतिशय पद का अर्थ है निगरण निगरण का विश्लेपण इस प्रकार है। तमालद्रुम सांसारिक पथिकों की भ्रान्ति

को दूर करे। यहाँ तमालद्रुम पद शक्यतावच्छेदक तमालद्रुमत्व रूप से श्रीकृष्ण का बोधन करता है। यह विषयी वाचक पद का शक्यतावच्छेदक रूप से विषय का बोध करना ही निगरण है। इसका कारण है विषय का बोध करने के लिए विषयी वाचक पद की लक्षणा। इस कारण का कार्य शक्यतावच्छेदकमात्रप्रकारक लक्ष्य विशेष्यक बोध। तादृश बोधत्व कार्यतावच्छेदक है। इस तरह का बोध मानने का फल है कि शक्य के असाधारण धर्म तमालद्रुमत्व का भान होगा और श्रीकृष्णत्व का भान नहीं होगा। यदि शक्यतावच्छेदक मात्र प्रकारक में से मात्र पद को हटा देवें तो श्रीकृष्णत्व लक्ष्यतावच्छेदक का भी भान होगा।

एक यह भी मत है कि लक्षणा के द्वारा लक्ष्यासाधारण धर्म प्रकारक लक्ष्यविशेष्यक की उपस्थिति होगी किन्तु बाद में व्यापारान्तर व्यंजना के द्वारा शक्यतावच्छेदक प्रकारक ही शाब्दबोध होगा।

नवीनों का मत है कि निगरण करके अध्यवसान करना ही अतिशयोक्ति है। भेद जो बतलाये गये हैं वे सब भिन्न-भिन्न अलङ्कार हैं। क्योंकि उनमें अध्यवसान नहीं है। कुछ आचार्यों ने यथापि उनका समन्वय किया है। किन्तु चमत्कारी नहीं है।

तुल्ययोगिता—दीपक

तुल्ययोगिता और दीपक में कोई भेद नहीं है। धर्म की सकृद् वृत्ति दोनों में साधारण है। अतः दोनों एक ही है। या फिर अलग-अलग कहा जाय तो तीन अलंकार मानने चाहिए या तुल्य योगिता के ही तीन भेद करने चाहिए। केवल प्रकृत, केवल अप्रकृत और प्रकृत एवं अप्रकृत।

औपम्य सादृश्य यहां गम्य रहता है। क्योंकि यहाँ सादृश्य के प्रयोजक साधारण धर्म का उपादान रहता है कारण के रहने पर कार्य का रहना आवश्यक है। अतः सादृश्य यहाँ अवश्य ही रहेगा किन्तु उसके वाचक इवादि के अभाव में वह गम्य है। अतएव प्रयोजक के सद्भाव में प्रयोज्य सादृश्य के अवश्य प्रतीत होने से सादृश्य साधारण धर्म से भिन्न ही पदार्थ है। साधारण धर्म रूप नही है। यह आलंकारिकों वैयाकरणों एवं मीमांसकों का सिद्धांत है। अन्यथा यदि साधारण धर्म से भिन्न नही मानेंगे तो सादृश्य को गम्य कहना अनुपपन्न हो जायगा।

प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना

जहाँ वस्तु प्रतिवस्तूभावापन्न साधारण धर्म वाले वाक्यार्थों में आर्थ औपम्य रहे वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है। वाक्यार्थ उपमा में औपम्य शाब्द

होता है। यहां सामान्य विशेष भावापन्न वाक्यार्थो में अर्थान्तिरन्यास ही होता है यह नहीं होती है। यह वैधर्म्य में भी होती है। दृष्टान्त में विम्बप्रतिविम्बभाव; साधारण धर्म, उपमान एवं उपमेय तीनों में रहता हैं। निदर्शना में आर्थ औपम्य रहते हुए भी अभेद मुखिया हैं। यह पदार्थ निदर्शना एवं वाक्यार्थ निदर्शना नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु पदार्थ निदर्शना में उपमान एवं उपमेय में एक के धर्म का दूसरे में आरोप रहता है। तथापि सादृश्य मूलक आर्थाभेद है अतः निदर्शना है।

तुल्ययोगिता एवं दीपक में आर्थ औपम्य रहता है किन्तु वह पदार्थ गत है। इन तीनों में वह वाक्यार्थगत है इनका विश्लेषण इस प्रकार है। जहाँ इवादि का उपादान नहीं हो और साधारण धर्म का एक वार निर्देश हो वे दीपक एवं तुल्ययोगिता कहाते हैं। धर्म का पृथक् निर्देश याने वार-वार निर्देश हो और धर्म में वस्तु प्रतिवस्तु भाव हो तब प्रतिवस्तूपमा होती है यहाँ प्रति वाक्यार्थ में आर्थ उपमा होती है। दृष्टान्त को कह चुके हैं। वाक्यार्थनिदर्शना एवं वाक्यार्थरूपक पदार्थ निदर्शना एवं पदार्थ रूपक इनमें भेद का कारण है कि निदर्शनाओं में परस्पर आर्थाभेद हैं। रूपकों में उपमान का उपमेय में अभेद हैं। परस्पर में अभेद नहीं होता है तथा वह भी शाब्द होता है। एक देशविवर्त्ती रूपक में शाब्द और आर्थ दोनों होते हैं।

व्यतिरेक

यह भेद प्रधान अलङ्कार है। भेद का अर्थ है वैधर्म्य या वैलक्षण्य।

वह अधिक गुण एवं न्यूनगुण दोनों से होता है जिसके फलस्वरूप उत्कर्ष यहाँ स्वतः प्राप्त हो जाता है। प्रतीप में उपमेय को उपमान बना देना मात्र उत्कर्ष है अन्य नहीं है। व्यतिरेक में उत्कर्ष और अपकर्ष क्रमशः उपमेय और उपमान में होते हैं।

सहोक्ति

यह भी भेद प्रधान अलङ्कार है। यहाँ भेद का कारण है पदार्थो में गुणप्रधान भाव। गुणप्रधानता का कारण है सहार्थ। जहाँ कारक विभक्ति का निर्देश होगा वह प्रधान होगा और जहाँ सहार्थक शब्द के योग में होने वाली उपपद विभक्ति का निर्देश होगा वह अप्रधान होगा। इसलिए नियमेन तृतीयान्त अप्रधान होगा और उपमान होगा अन्य प्रधान होगा और उपमेय होगा। यह गुणप्रधान भाव शाब्द होगा। सहोक्ति नियमेन अतिशयोक्ति मूलक होगी।

वह अतिशयोक्ति भी कार्य कारण विपर्यय रूपा एवं अभेदाध्यवसायरूपा होगी। अभेदाध्यवसाय भी श्लेष के कारण और श्लेष के विना भी होगा।

विनोक्ति

विना शब्दार्थवाचक शब्दों के योग में यह अलङ्कार होता है। विनाकृत वस्तु सुन्दर भी है और असुन्दर भी है।

समासोक्ति

प्रस्तुत, अप्रस्तुत एवं प्रस्तुताप्रस्तुत ये तीन कोटियाँ होती हैं। फिर इनमें प्रस्तुतों की जोड़ी एवं अप्रस्तुतों की जोड़ी और प्रस्तुताप्रस्तुतों की जोड़ी होती है। ये तीनों कोटि की भी तीनों जोड़ियाँ वाच्य हो सकती है। प्रथम दोनों में विशेषण एवं विशेष्य श्लिष्ट होते हैं। तीसरे में विशेषण श्लिष्ट होते हैं विशेष्य नहीं। किन्तु प्रस्तुताप्रस्तुत की तीसरी जोड़ी में दोनों गम्य नहीं हो सकते। कभी प्रस्तुत गम्य होगा और कभी अस्तुत गम्य होगा। इनमें जब प्रस्तुत गम्य हो और अप्रस्तुत वाच्य हो तब अप्रस्तुतप्रशंसा और जब प्रस्तुत वाच्य हो तथा अप्रस्तुतगम्य हो तब समासोक्ति होती है।

समासोक्ति में अप्रस्तुत के गम्य होने में कारण है विशेषण साम्य। विशेषण साम्य से जो अप्रस्तुत गम्य होता है वह प्रस्तुत की कुछ विशेष स्थिति को ला देता है। वह विशेष स्थिति है अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप। न कि रूप समारोप। क्योंकि रूप समारोम में तो रूपक होता है। विशेषण साम्य के लिए श्लेषादि कई प्रकार हैं।

"परिकर"

विशेषणों के विन्यास में कवि का गम्भीर अभिप्राय जहाँ रहे वहाँ यह अलंकार होता है। वस्तुत: कवि जो भी काव्य बनायेगा उसमें वर्णनीय तत्त्व के विशेषणों का संचयन गवेषणा पूर्वक ही करेगा। वह वेषणा पूर्वक विन्यास सहृदय हृदय हारी होने पर ही अलंकार बनता है। सभी अलंकारों का यही हाल है। उनमें से एक का नाम परिकर है।

श्लेष

(प्रत्यर्थं हि शब्दाभिनिवेशः) जब-जब अर्थों को समझायेंगे तब तब शब्दों का उच्चारण करना पड़ेगा और जब जब उच्चारण करेंगे तब तब

शब्दों में भिन्नता रहेगी (प्रत्युच्चारणं शब्दा भिद्यन्ते) यह न्याय है। दूसरा न्याय है (अर्थ भेदेन शब्द भेदः) अर्थ के भेद से भी शब्द का भेद होता है। इस तरह प्राप्त हुए भेद को जहाँ शब्द छिपा लेते हैं वह श्लेष है। यहाँ श्लिष्यन्ति का अर्थ छिपा लेना है। वस्तु स्थिति भी यही है कि जहां दो भिन्न पदार्थ मिलते हैं। आपस में आश्लेष आलिंगन करते हैं वहाँ यही भाव होता है कि हम आप दोनों एक हैं दो नहीं हैं। आश्लेष करने में अपने अलगाव को अपने भिन्न स्वरूप को छिपा लेते हैं वही भाव यहाँ शब्दों में भी है। इसी लिए काव्यप्रकाशकार ने लिखा है कि यत्र वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दाः भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः।

यह श्लेष सभंग एवं अभंग पदों में होता है और अर्थ में भी होता है।

अप्रस्तुत प्रशंसा

अप्रस्तुत की प्रशंसा माने अप्रस्तुत का वर्णन असंगत है। क्योंकि वह अप्रस्तुत है प्रशंशनीय नही है। हाँ वह प्रशंसा यदि प्रस्तुत परक हो तो संगति हो सकती है। उसमें भी यदि अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का कोई सम्बन्ध नहीं हो फिर भी उससे प्रस्तुत की प्रतीति होने लगे तो अति प्रसंग ही हो जायगा अर्थात् सबसे सबकी प्रतीति होने लगेगी। अतः मानना पड़ेगा कि सम्बन्ध होने पर ही अस्तुत् से प्रस्तुत की प्रतीति होगी याने वह सम्बन्ध ही अर्थान्तर की प्रतीति का हेतु है। विचार करने पर वह सम्बन्ध तीन तरह का है। सामान्य विशेप भाव १ कार्यकारण भाव २ एवं सारूप्य ३।

सामान्य विशेष भाव में सामान्य से विशेष की, विशेष से सामान्य की प्रतीति होती हैं। अतः दो भेद है। कार्य कारण भाव में भी कारण से कार्य की, कार्य से कारण की प्रतीति होने से दो भेद है। सारूप्य में एक। इस तरह पांच भेद हो गये। साधर्म्य एवं वैधर्म्य से तथा वाच्य अप्रस्तुत के सम्भव, असम्भव एवं उभयरूप से भी इसमें भेद होते हैं। प्रस्तुत इसमें व्यंग्य होता है।

पर्यायोक्त

पर्याय से वाक्य से भिन्न प्रकार से कहना ही पर्यायोक्त है यहाँ जो व्यंग्य होता है वही अभिधेय है किन्तु जैसे व्यग्य है वैसे अभिधेय नहीं है। राहु के वहू के कुचों को व्यर्थ करने वाले को नमस्कार है इसका मतलब है श्री

कृष्ण को नमस्कार है। राहुवधूकुच वैयर्थ्यकारी वाच्य है श्री कृष्ण व्यंग्य है किन्तु व्यर्थकारी है वह श्री कृष्ण ही है इस तरह जो वाच्य है वही व्यंग्य है। किन्तु जैसे व्यर्थकारित्वेन वाच्य है वैसे व्यंग्य नही है। क्योंकि व्यंग्य श्री कृष्णत्वेन है। क्योंकि उसका हीं, उसी समय, उसी शैली से वाच्यत्व एवं गम्यत्व सम्भव नही है हाँ कार्यादि के द्वारा हो सकता हैं। कार्यादि भी प्रस्तुत रूप में ही वर्णणीय होते है। अन्यथा नही। अतएव अस्तुप्रशंसा से यह भिन्न है। जिस आकार से व्यंग्य की प्रतीति होती है उससे भिन्न आकार से वाच्य की प्रतीति होना भंग्यन्तर है। इसलिये पर्याय का अर्थ यहां भंग्यन्तर है। यह मम्मट भट्ट जी का आशय है।

जिस रूप से अर्थ को कहना चाहते है उसके अतिरिक्त प्रकार का नाम भंग्यन्तर है। अथवा आक्षेप ही भंग्यन्तर है यह पण्डित राज का आशय है पर्याय माने वाच्य से अतिरिक्त प्रकार से जो व्यंग्य है उससे उपलक्षित हुआ कहा जाय वह पर्यायोक्त है। यह अभिनव गुप्ताचार्य का आशय है।

जो व्यंग्य हैं किन्तु वक्तव्य है उसी को भंग्यन्तर अर्थात् विवक्षित रूप की अपेक्षा किसी सुन्दरतर रूप से कथन का नाम पर्यायोक्त है। यह अप्पय्य दीक्षित जी का आशय है।

इस अलंकार के स्वरूप में भिन्न२ व्याख्यान है। इसका कारण यह है कि व्यंग्य और वाच्य दोनों का स्वरूप एक ही हो जाता है जो हो नहीं सकता था। यही चमत्कार है। क्योंकि कहने की जो भंगी है शैली है वह अनन्त है। जैसे आप यहां आइये कहना है उसकी शैलियाँ इस देश को अलंकृत करिये, पवित्र करिये, प्रकाशित करिये, इस जगह के भाग्य आपके आने से खुल जायेंगे। इत्यादि अनन्त हैं।

इस अलंकार में कहीं पर वाच्य कार्य से कारण गम्य होता है। कहीं पर वाच्य कारण से कार्य व्यंग्य होता है। कहीं पर उन दोनों पक्षों से उदासीन सम्बन्धिमात्र से सम्बन्धिमात्र गम्य होता है। प्रश्न होता है कि कारण से कार्य, कार्य से कारण की व्यंग्यता की स्थिति अप्रस्तुत प्रशंसा भी होती है अतः पर्यायोक्त का अप्रस्तुत प्रशंसा में ही अन्तर्भाव कर दिया जाना चाहिये। उत्तर। जहाँ कार्य और कारण दोनों प्रस्तुत रहें वह पर्यायोक्त है और जहाँ एक वाच्य अप्रस्तुत रहे और दूसरा व्यंग्य प्रस्तुत रहे वह अप्रस्तुत प्रशंसा है अतः दोनों का स्थल भिन्न-भिन्न है।

व्याजस्तुति

वहाने वहाने स्तुति की जाय याने निन्दा की समाप्ति स्तुति में ही है। इसमें व्याजेन स्तुतिः यह तृतीया तत्पुरुष समास है। व्याजरूपा स्तुति अर्थात् स्तुति का छल है वहाना है निन्दा ही करना लक्ष्य है। इसमें कर्मधारय समास है। यह व्याज स्तुति साधर्म्य में होती है यह पण्डितराज का मत है। अतः आरम्भ में जिसकी स्तुति या निन्दा करें। उपसंहार में उसी की निन्दा या स्तुति में होगी।

दीक्षित जीं का मत है कि यह वैयधिकरण्य में भी होती है। आरम्भ में स्तुति या निन्दा दूसरे की रहेगी और उपसंहार में निन्दा या स्तुति दूसरे की। जैसे—

हे साम्ब ? पुराराते !' जो तुम्हारा ध्यान करते हैं वे ही कृति है। किन्तु उनका जन्म व्यर्थ गया जो तुम्हारे से अन्य में बुद्धि करते हैं। यहाँ ध्यान करने वालों की स्तुति है। ध्यान नहीं करने वालों की निंदा है। यह प्रशंसा से प्रशंसा, निंदा से निंदा में भी यही अलंकार होगा। किन्तु ऐसी स्थिति में अप्रस्तुत प्रशंसा प्रधान होगी इसकी छाया मात्र रहेगी।

आक्षेप

इस अलंकार के विषय में आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं। उपमेय ही उपमान सम्वन्धी सकल प्रयोजनों के सम्पादन ये क्षम है अतः उपमान की क्या आवश्यकता है। ऐसा कोई कहते हैं।

पक्षान्तर का अवलम्वन करके पूर्व में उपन्यस्त अर्थ का निषेध ही आक्षेप है। यह दूसरे आचार्य का मत है।

कुछ विलक्षण कहने की इच्छा से जो कहना चाह रहे थे उसका निषेध ही आक्षेप है। इसका विषय कहीं पर वक्ष्यमाण होता है और कहीं पर उक्त होता है। यह मम्मट भट्ट का मत है। यह मत और दूसरा मत प्रायः एक है। दीक्षित जी का मत इसी में अन्तर्भूत हो जाता हैं। पृथक् नहीं है।

कोई कहते हैं निषेध मात्र आक्षेप है। याने जो-जो निषेध है वे सव आक्षेप हैं। या जो केवल निषेधांश है (विधिरूप अंश नहीं) वह आक्षेप है। यह मत स्पष्ट नहीं हुआ।

जिसका वर्णन करना अभीष्ट है अतः वह प्राकरणिक है या वह प्राकरणिक है अतः जिसका वर्णन करना अभीष्ट है। दोनों अवस्थाओं में वह विधेय

है उसका निषेध नहीं किया जा सकता है। फिर भी यदि निषेध करते हैं तो वह बाधित होने से आभास ही है। इस पर प्रश्न होता है कि यदि वह निषेध बाधित ही है तब निषेध क्यों किया जाता है। इसका मतलब है कि वर्णनीय प्राकरणिक में कुछ विलक्षणता बतलानी है।

इसमें भी वह निषेध उक्त पदार्थ का होता है या वक्ष्यमाण पदार्थ का। इस तरह उक्त आक्षेप एवं वक्ष्यमाण आक्षेप दो प्रकार का आक्षेप है। इनमें उक्त विषय स्थल में जिस इष्ट का निषेध है उसी में विशेषता होती है। वक्ष्यमाण विषय में तो निषेध इष्ट का होता है और विशेषता इष्ट सम्बन्धी किसी अन्य पदार्थ में होती है। किन्तु यह विशेषता शब्द से वाच्य नही होने से गम्य ही है। उसमें भी उक्त विषय में वह निषेध वस्तुमात्र का होता है या वस्तु के कथन का, और वक्ष्यमाण विषय में तो वस्तु कथन का ही निषेध होता है। साक्षात् वस्तु का निषेध नहीं है। वह निषेध भी कहीं पर (निर्विशेषं न सामान्यम् विशेष रहित सामान्य नहीं होता है इस न्याय के अनुसार) सामान्य में रहता हुआ भी विशेष में पर्यवसित होता है, और कहीं पर सामान्य का ही निषेध होता है विशेष का साक्षात् निषेध नहीं होता है किन्तु प्रतीत हो जाता है।

इन आक्षेपों में एक इष्ट अर्थ है १ उसका निषेध २। वह निषेध भी असंगत होने से असत्य ३ अतएवं उसमें भी कुछ विशेषताओं का कथन ४ ये चार बातें होती हैं। इस तरह यहां न निषेध का विधान होता है और न विहित का निषेध होता है। किन्तु निषेध से विधि का आक्षेप करते है क्योंकि निषेध के असत्य होने से उसका विधि में ही पर्यवसान होता है।

निषेध से विधि का आक्षेप एक भेद है। दूसरा भेद है विधि से निषेध का आक्षेप। क्योंकि जैसे इष्ट का निषेध अनुपपन्न है उसी तरह अनिष्ट का विधान भी असंगत है फिर भी यदि उसका विधान करते हैं तो उसका स्वरूप बाधित ही हुआ अतः अनिष्ट विधान की निषेध में ही समाप्ति होती है। इस तरह विधि का अंगभूत ही यह निषेध है। यह अलंकार सर्वस्वकार का मत है।

विधि से निषेध की निषेध से विधि की उक्ति को आक्षेप कहते हैं यह महाराज भोज का मत है।

विरोधाभास

इष्ट के निषेध में अनिष्ट के विधान में विरोध अनुस्यूत है अतः विरोधगर्भ अलंकारों के प्रकरण में पहले विरोध को बतलाते हैं।

जहाँ पदार्थ विरुद्ध जैसे मालूम पड़ते हो वह विरोध अलंकार है। यहाँ जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य प्रत्येक में जाति का जाति के साथ १ गुण का गुण के साथ २ क्रिया का क्रिया के साथ ३ द्रव्य का द्रव्य के साथ ४ अर्थात् सजातीय का सजातीय के साथ, और जाति का गुण, क्रिया एवं द्रव्य के साथ ७ गुण का क्रिया एवं द्रव्य के साथ ९ क्रिया का द्रव्य के साथ १० अर्थात् विजातीय का विजातीय के साथ विरोध होता है।

जिस विरोध का समाधान नहीं हो सकता है वह प्रखढ़ अर्थात् बाध बुद्धि से अनभिभूत विरोध दोष कहाता है। जो तो विरोध समाधेय हो किन्तु आमुख में आरम्भ में जहाँ उसका आभास होता है अतएव जो विरोधाभास है उसी को विरोधालंकार कहते हैं। यह विरोध समान स्थल में होने पर विरोधालंकार है।

विषमस्थल में यह विरोध असंगति अलंकार के नाम से प्रसिद्ध है। कार्यकारण भाव के ज्ञान में विरोध होने पर विभावना एवं विशेषोक्ति अलंकार होते हैं। अपि शब्द विरोध का उल्लासक होता है। उसी के सहारे विरोध उपस्थित होता है।

एक मत है कि विरोधप्रतिभोत्पत्ति हेतु श्लेष है; यह उद्भट के अनुयायियों का है। दूसरा मत है कि श्लेष प्रतिभोत्पत्तिहेतु विरोध है; यह दीक्षित जी का है। तीसरा मत है कि इन दोनों का सांकर्य है यह मम्मट एवं रुय्यक का मत है।

यहाँ विरोध के निरूपण प्रसंग में पण्डितराज ने एक विचार उठाया है कि हित करनेवाला भी अहित करता है या हित नहीं करता है। अग का उद्धारक हो कर भी अग का उद्धारक नहीं है। इत्यादि स्थलों में विरोध का केवल भान ही होता है। विरोध अलंकार नहीं है। अलंकार तो श्लेष ही है। क्योंकि वह श्लेष अपने विषय में प्रायः सभी अलंकारों का अपवादक है। कैसे ! अपवादक है बतलाते हैं।

जो हित करने में प्रवृत्त है वह हित नहीं करेगा या अहित करेगा यह कैसे हो सकता है। यहाँ हित और अहित का विरोध प्रतीत होता है। किन्तु ठहरता नहीं। जैसे हित करनेवाला व्यक्ति हित तभी कर सकता है जब अहित को अर्थात् प्रतिबन्धक को हटायेगा। इस लिए इस वाक्य के अर्थ को बदला जाता है। कि हित करनेवाला अहित को काट देता है।

(अग गोवर्द्धन पर्वत नाग कालीय सर्प या कुवलया पीड हाथी) इस तरह यहाँ एक श्रुति से अर्थद्वय का बोध होने के कारण श्लेष ही है विरोध नहीं है। इसका उत्तर देते हैं कि कवि सुनता है। जिसने इस काव्य को बनाया है। उसने किस आशय से इसको बनाया विरोध को व्यक्त करने के लिए या श्लेप को स्पष्ट करने के लिए उसको वह जानता है। कवि कहता है कि वस्तुत: विरोध होने पर पदार्थ की सत्ता ही नष्ट हो जायगी। जिससे मुख्य लक्ष्य चमत्कार की प्राप्ति नहीं होगी; इस लिए समन्वय करना पड़ेगा। समन्वय का आधार श्लेप है। इस लिए मुख्य लक्ष्य चमत्कार का आधार विरोध ही है। फलत: विरोध ही अलंकार है श्लेप नहीं। श्लेप तो समन्वयाधायक है।

इस पर विचार होता है। इन वाक्यों में जो विरोध है उसका मूल है अपि शब्द। अत: जहाँ विरोध के द्योतक अपि शब्दादि रहेंगे वहाँ विरोध शाब्द है जहाँ वह नहीं रहेगा वहाँ आर्थ है। यह प्राचीन का सिद्धान्त है। किन्तु यह स्थिर नहीं है। क्योंकि शब्द के द्वारा विरोध प्रतीत होता है। यह संगत नहीं होता है। जैसे—त्रयोऽपि अत्रय:। ये तीनों ही अत्रि हैं अर्थात् अत्रि गोत्रोत्पन्न है तब कोई विरोध नहीं है। किन्तु ये तीनों भी तीन नहीं है। तब विरोध है। यहाँ "ये" यह विशेष्य है। इसमें त्रित्व एवं त्रित्वाभाव विशेपण है। उनमें त्रित्व समवाय सम्बन्ध से तीन में रहता है और त्रित्वाभाव स्वरूप सम्बन्ध से स्वप्रतियोगी त्रित्व में रहता है। एतच्छब्दार्थ विशेष्य, त्रित्व और त्रित्वाभाव विशेपण एवं समवाय तथा स्वरूप सम्बन्ध तीनों में कहीं पर भी विरोध का समावेश नहीं है।

फिर कहते हैं कि तत् माने पटत्व उसके अधिकरण पट में घटत्व नहीं रह सकता है इस लिए घटत्व और पटत्व का समानाधिकरण नहीं है। अत: असामानाधिकरण रूप एक विरोध है। जैसे तदधिकरणा वृत्तित्व है उसी तरह एक जगह में दो की प्राप्ति हो तब वह दूसरा विरोध होता है। यहाँ तो एक जगह नहीं है। त्रित्व एवं त्रित्वाभाव का भी विरोध नहीं है। क्योंकि त्रित्व का अधिकरण त्रि और अभाव का अधिकरण त्रित्व है। भिन्न-भिन्न अधिकरण है तब विरोध कैसा।

अगर कहें कि जैसे तदधिकरणा वृत्तित्व रूप विरोध है। उसी तरह तत्प्रतियोगिकत्व भी विरोध है जैसे अघट: इसमें वह घट है प्रतियोगी विरोधी जिस अभाव का वह अभाव घट प्रतियोगिक है। इस प्रकार घट एवं अभाव का संसर्ग प्रतियोगिता नामक विरोध है। इस लिए घट विरोधी अभाव यह प्रतीत

होती है। उसी तरह प्रकृत तीनों भी तीन नहीं है। इस वाक्य में अत्रय: यहाँ पर नञर्थ अभाव और उत्तर पदार्थ त्रित्व का प्रतियोगित्व विरोध संसर्ग है इस लिए संसर्ग में विरोध है। यह भी आप नहीं कह सकते हैं क्योंकि जहाँ अभाव रूप अर्थ का बोधक नञ् घटित वाक्य है वहां यह स्थिति हो सकती है।

किन्तु जहाँ नञ् घटित वाक्य नहीं है वहाँ विरोध का समावेश कैसे होगा। जैसे—सुप्तोऽपि प्रबुद्ध;। (सुन्दर जटा वाला व्यक्ति प्रबुद्ध है। समझदार है यहाँ सा का अर्थ जटा है यह बाण भट्ट है) इस नञ् से अघटित वाक्य में विरोध नहीं है। क्योंकि किसी को भी यहाँ जो सुप्त है वह सुप्तत्व के विरुद्ध प्रबुद्धत्व वाला है। ऐसे शाब्दबोध का अनुभव नहीं होता है और अनुभव ही पदार्थ के स्वरूप को सिद्ध करता है। अनुभव के आधार पर ही विरोधविषयिणी या विरोधाभाव विषयणी बुद्धि होती है। अत: अनुभव के बल पर लक्षण; आदि पद ग्राह्य निर्वचन की कुसृष्टि कुत्सित निर्मिति में यत्न करें। स्वरसत: जब कोई निर्माण नहीं होता है तब लक्षण आदि की कुसृष्टि की जाती है। इसी को दिखाते हैं विविध रोध प्रतिद्वन्दिता जहाँ रहे अर्थात् एक प्रतिद्वन्दी अपने दूसरे प्रतियोगी को विविध प्रकारों से रोके यह निर्वचन-लब्ध तत्प्रतियोगिकत्व एक प्रकार का विरोध है। दूसरा विरोध प्राचीनाचार्य कृत लक्षण तदधिकरणावृत्तित्वरूप है।

इस पर कहते हैं कि जैसे तीनों भी तीन नहीं हैं यहाँ पर जो त्रित्व विशिष्ट है वे ही त्रित्वाभाव विशिष्ट हैं इस तरह परस्पर विभिन्न त्रित्व एवं त्रित्वाभाव का एक धर्मी त्रि में प्रतिपादन है और भान भी है। उसी तरह मित्था (पुरीतत्) नाड़ी में मन का योग सुषुप्ति और उसके योग का अभाव जाग्रद्रूप परस्पर विभिन्न अवस्थाओं का; एक व्यक्ति में एक काल में जो ुप्त है वही प्रबुद्ध है, इस प्रकार दो शब्दों से प्रतिपादन एवं भान है। इस तरह पदार्थोपस्थिति काल ही में, सम्बन्ध जैसे दोनों में रहता है। इस लिए उसमें दो सम्बन्धियों का ज्ञान आपेक्षित है। उसी तरह विरोध भी दो में रहता है इस लिए उसमें भी दो विरोधियों का ज्ञान आपेक्षित है। फलत: विरोध के सम्बन्धी शयितत्व और जागरितत्व के ज्ञान होने के बाद अपि शब्द के साहचर्य से उन दोनों सम्बन्धियों में रहनेवाले विरोध का भी स्मरण हो जाता है।

इस तरह सुप्त अपि प्रबुद्ध पदों से अपने-अपने अर्थों की उपस्थिति होने के अनन्तर जो त्रित्ववान् है वह त्रित्वाभाववान् कैसे। जिसका मित्था (पुरीतत्)

नाड़ी में मनोयोग नहीं है। उसका मित्या नाड़ी में मनोयोग कैसे हो सकता है। इस तद्वत्ता वुद्धि की तदभाववत्ता वुद्धि प्रतिवन्धक होती है की रीति से प्रतिवन्धक ज्ञान की सामग्री प्रवला है। अतः ये शयितत्व और जागरितत्व धर्म परस्पर विरुद्ध है। ऐसा नैयायिक के मत से मानस और आलंकारिक के मत से वैयञ्जनिक वोध हो जाता है।

तव इस विरोध वोध से, नामार्थो का अभेदान्वय होता है इस नियम के अनुसार प्राप्त शयितत्व और जागरितत्व का अभेदान्वय वोध रुक जाता है। इस लिए उसमें अभेद वोध नहीं होता है। किन्तु द्वितीय अभिधाशक्ति से प्रादुर्भावित प्रवुद्ध पण्डित स्वरूप और अत्रि पद के अत्रि गोत्रोत्पत्त्वरूप द्वितीय अर्थ को लेकर अन्वय वोध सुप्तत्ववदभिन्नपण्डित, त्रित्ववदभिन्न अत्रि-गोत्रोत्पन्न इस प्रकार अन्वय वोध हो जाता है। त्रित्वाभाव रूप और मित्या-नाड़ी में मनोयोगाव रूप प्रकृत प्रतिकूल अर्थ को लेकर अभेदान्वय वोध नहीं होता है।

इस तरह विरुद्धार्थ विषयक अन्वय वोध के नहीं होने से विरोध वुद्धि शिथिल होकर निवृत्त हो जाती है। परन्तु कवि ने इस तरह का ऐसा प्रयास क्यो किया ऐसी संदर्भविषयकविरोध वुद्धि, चमत्कार को पैदा करती है यह प्राचीनों का सिद्धान्त है। उनके मत का निष्कर्ष है।

नवीन लोग तो कहते हैं कि विरोधी दो अर्थों के प्रादुर्भाव के विना विरोधाभास ही नहीं हो सकता है। उनमें एक विरोध का उल्लासक है, और दूसरा अन्वय वोध का विषय है। यह सत्य है परन्तु भेद में श्लेषभित्तिक अभेद होता है। इस रीति से अन्वयवोध के विषय दितीय अर्थ में विरोध के उल्लासक अर्थ का भी अभेद हो जाता है। इस तरह अविरुद्ध द्वितीय अर्थ को लेकर अभेदान्वय वोध होने पर भी विरोधास्पदीभूत विरुद्ध अर्थ की विशेषतया निवृत्ति नहीं होती है अतः अर्धमृत की तरह स्वास लेता हुआ विरोध भी मानस वोध का विषय होता है। इसीलिए चमत्कारी कहलाता है। क्योंकि निःशेषतया निवृत्त हुआ अर्थ कभी चमत्कार पैदा नहीं कर सकता है और न चमत्कार पैदा किये विना अलंकार ही वन सकता है। इस लिए विरोध वुद्धि न तो शिथिल होती है और न उस विरोध की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है।

वैयाकरण निपातों में शक्ति नहीं मानते किन्तु निरूढ लक्षणा की तरह निरुढ़द्योतना को भी शक्ति के समकक्ष माना जाता है। अतः अपि शब्द विरोध का द्योतक है। जहाँ जाति का जाति के साथ द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध भी मालूम पड़ता है और आरोप भी मालूम पड़ता है। जैसे—कुसुमानि शराः

चन्द्रे वाडव: । इत्यादि स्थल में वहाँ चमत्कार के अधीन अलंकारों की व्यवस्था है । विरोध में चमत्कार होता है तो विरोध, आरोप में चमत्कार हो तो आरोप मानना चाहिए । अपि के अर्थ का गर्भ में रहना अत्यावश्यक है और कवि प्रतिभोत्थापितत्व का मूल कवि का संरभ (उद्योग) जिस तरफ प्रतीत हो वही वहाँ अलंकार है । यह काव्यगत वस्तु मात्र के लिए सिद्धान्त है ।

विभावना

कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति विभावना है । यहाँ कार्य और कारण में अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान है इसलिए कारण के विना कार्य का होना सम्भव नहीं है । जैसा कि कहा है ।—

यो हि येन विना नास्ति, यस्मिंश्च सति विक्रिया ।
तदेव कारणं तस्य, नान्यत्कारणमुच्यते ॥

जिस कारण के विना जो कार्य नही हो और जिस कारण के रहने पर उत्पन्न हो वही उसका कारण है उससे भिन्न कारण नहीं है अन्यथा यदि कारण के विना भी कार्य का सम्भव उपनिवद्ध किया जायगा तो विरोध का परिहार करना कठिन हो जायगा अर्थात् कोई व्यवस्था ही ठीक नही चलेगी । अगर ऐसी वात है तब विना कारण के कार्य की उत्पत्ति रूप विभावना अलकार कैसे होगी ।

इसलिए यदि किसी भंगी से कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का उपनिवन्धन किया जाय तो विभावना नामक अलंकार होता है । क्योंकि विशिष्ट रूप से अर्थात् कार्य कारण के अन्वय व्यतिरेक के अनुविधान के रहते हुए भी प्रसिद्ध कारण से निरपेक्ष कार्य की उत्पत्ति की भावना अनु-सन्धान किया गया है । जिस भंगी से कारणाभाव से कार्य का उपनिवन्धन किया गया है उस भंगी से विशिष्ट प्रस्तुत कारण के अभाव में कार्य का उल्लेख है । किन्तु अप्रस्तुत अप्रसिद्ध कारण तो यहाँ पर वस्तु का है ही; इसीलिए विरोध का परिहार हो जाता है ।

कारण का अभाव जो कि उपक्रान्त आरब्ध होने से वलवान् है उससे कार्य ही वाधित होकर प्रतीत हो रहा है न कि कार्य के वाधित होने से कारण का अभाव । अत: अन्योन्य वाधनात्मक विरोधालंकार से इसका भेद है । इसी प्रकार विशेषोक्ति में कार्याभाव उपक्रान्त है आरब्ध है जैसे दुकान में वेचने के लिए रक्खे हुए कटक कुण्डल को औपचारिक रूप में

अलंकार कहते हैं क्योंकि अलंकार वह है जो सजावे। सजावेगा तभी जब वह अंगों में संभृत हो धारण किया जावे पहिरा जावे। किन्तु यौवन धारणाभाव में भी अंगों का अलंकार है इस तरह कारणाभाव उपक्रान्त है आरब्ध है उसी तरह जल जाने पर कामदेव को अशक्त होना चाहिए। किन्तु जला हुआ भी शक्तिशाली है। इस तरह अशक्तत्व रूप कार्य का अभाव उपक्रान्त है आरब्ध है। उस कार्याभाव से कारण की सत्ता हीं बाध्यमान है ऐसा समझना चाहिए। जिससे विशेषोक्ति भी विरोध से भिन्न ही है यह सिद्ध हो जाय।

यहाँ लक्षण में यथापि अन्य आचार्यों उद्भट एवं मम्मट ने कारण पद की जगह पर क्रियापद का विन्यास किया है।

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि यत्फलस्य विभावनम्।
ज्ञेया विभावना द्वेधा ह्युक्तानुक्तनिमित्ततः। (उद्भट)
क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना। (मम्मट)

तथापि रुय्यक ने यहाँ कारण पद का ही विन्यास किया है। क्योंकि क्रिया का ही फल कार्य होता है ऐसा वैयाकरणों के सिवाय और लोग नहीं मानते। किन्तु लक्षण का निर्माण सर्व साधारण की दृष्टि में समन्वित होना चाहिए यही तत्व ध्यान। रखकर ऐसा किया गया है।

विशेषोक्ति

प्रतिबन्धक शून्य समग्र कारणों के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होना विशेषोक्ति है। जैसे कारण की विकलता में नियमेन कार्य नहीं होता है उसी तरह प्रतिबन्धक रहित कारण सामग्री अवश्य ही कार्य को पैदा करती है यह प्रसिद्धि है। कारण है तो कार्य अवश्य पैदा हो जायगा यह नियम नहीं है। किन्तु कारण सामग्री ही कार्य की जनक है यह नियम है। अन्यथा अर्थात् यह नियम नहीं माना जायगा तो सामग्री नाम की वस्तु की सत्ता ही नष्ट हो जायगी।

जब तो सामग्री के सद्भाव में भी यदि कारण, कार्य नहीं पैदा करते हैं तब इसका आशय है कि किसी विशेष लक्ष्य को व्यक्त करने के लिये जानबूझ कर ऐसी उक्ति की गई है। यही विशेषोक्ति हृद्य होने पर अलंकार है। यह विशेषोक्ति उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता एवं अचिन्त्य निमित्ता तीन प्रकार की है।

असंगति

कार्य एवं कारण की समान स्थलता आवश्यक है जिस जगह कारण होगा उसी जगह कार्य होगा ऐसा देखा जाता है। यह कभी नहीं होगा कि रसोई घर की आग से पहाड़ में धुआँ पैदा हो जाय। विषम स्थल में कारण से कार्य की उत्पत्ति का उपनिबन्धन किया जाय तो संगति में औचित्य का अभाव ही होगा। इसका नाम असंगति अलंकार है।

विषम

हृद्य अननुरूप संसर्ग विषमालंकार है। संसर्ग के दो अर्थ हैं एक अवयवार्थ है सं सम्यक् सर्ग सृष्टि उत्पत्ति। दूसरा रूढ़ अर्थ है संयोग। इस प्रकार का संसर्ग जहाँ अनुरूप योग्य नहीं हो वहाँ विषमालंकार है। कारण गुण के अनुसार ही कार्य में गुण होते हैं। इसमें यदि कारण गुण की अपेक्षा विलक्षण गुण वाले कार्य की उत्पत्ति हो जाय तो उत्पत्ति लक्षण संसर्ग की प्रथम अननुरूपता है और जो कारण इष्ट के साधन के लिए निश्चित है उससे अननुरूप कार्य की उत्पत्ति हो जाय तो उत्पत्ति लक्षण संसर्ग की द्वितीय अननुरूपता है।

अननुरूप की उत्पत्ति के दो अंश हैं एक अंश है इष्ट अर्थ सिद्ध नहीं होना, दूसरा है अनर्थ की प्राप्ति होना।

जहाँ एक दूसरे के गुण एक दूसरे के गुणों के तिरस्कार करनेवाले होवें वहां संयोगादि लक्षण संसर्ग होता है। अर्थात् अत्यन्त अननुरूप संघटन एवं विरूप संघटन न होने पर तृतीय भेद होता है।

सम

विषम का विपर्यय समालंकार है। यहां पण्डितराज ने जितने जैसे विषम के भेद हैं उतने और वैसे ही सम के भेद बतलाये हैं। किन्तु अलंकार सर्वस्वकार ने प्रथम दो भेदों को सम के भेद नहीं माना है केवल तृतीय भेद को ही समालंकार माना है। अर्थात् अत्यन्त अनुरूप संघटन का होना और विरूप संघटन का न होना ही समालंकार है।

विचित्र

जिस कारण का जो फल है उसके विपरीत जब उसका फल होता है तब उस विपरीत फल की निष्पत्ति के लिए जो प्रयत्न है उत्साह है वह विचित्रालंकार है।

अधिक

आधार एवं आधेय में किसी एक के अत्यन्त विस्तार की सिद्धि के लिए दूसरे की न्यूनता की कल्पना अधिक अलंकार है। अर्थात् आश्रय आधार एवं आश्रयी आधेय की परस्पर में अननुरूपता अधिक है।

अन्योन्य

दोनों में परस्पर का परस्पर में गुण एवं क्रिया रूप विशेष का आधान अन्योन्य अलंकार है।

विशेष

विना आधार के आधेय का वर्णन एक विशेष है। एक आधेय का परिच्छिन्न किसी आधार में होने पर भी युगपत् अनेक आधारों में वर्णन करना दूसरा विशेष है। किसी कार्य के करने का आरम्भ किया परन्तु असम्भावित अशक्य वस्तु का सम्पादन करना तृतीय विशेष है। इसमें से कोई एक विशेषालंकार है।

इसमें आधार के विना आधेय नहीं रह सकता है यह व्यवस्था है किन्तु इस व्यवस्था के लिए आधारान्तर में आधेय का उपनिवन्धन या विना आधार के आधेय का उपनिवन्धन विशेष है।

व्याघात

जहां एक कर्त्ता ने जिस कारण से किसी कार्य को वनाया या उसके वनाने की इच्छा की उसको, दूसरे ने उसी कारण से तद्विरूद्ध कार्य वनाकर या वनाने की इच्छा से, व्याहत कर दिया वहां व्याघात अलंकार है।

सार, शृंखलामूला कारणमाला, एकावली।

शृंखलामूलक अलंकार कारणमाला, एकावली एवं सार होते हैं। जिनमें पूर्व २ कारण हो और पर २ कार्य रहे तव प्रथम कारणमाला है, पूर्व २ में कार्य रहे और पर २ में कारण रहे तव द्वितीय कारणमाला है। यहां कार्य का[illegible]भाव की शृंखला है। पूर्व २ उत्तर के प्रति विशेष्य या विशेषण २ [illegible] दो प्रकार की एकावली होती है, वहां पहली एकावली में उत्तरोत्तर दि[illegible] स्थापक या अपोहक होता है। जो अपने सम्बन्ध [illegible] विशेष्यतावच्छे[illegible] का नियामक हो वह स्थापक होता है। जो अपने अभाव से

उसके अभाव की बुद्धि का जनक हो वह अपोहक होता है। पूर्व २ की अपेक्षा उत्तर उत्तर में उत्कर्ष रहे या अपकर्ष रहे तब दो प्रकार सार या उदार अलंकार होता है।

काव्यलिंग

जो अनुमिति का कारण नहीं हो और जो समान्य विशेष भाव से भी आलिङ्गित नहीं हो ऐसा प्रकृतार्थ का उपपादक पदार्थ रूप या वाक्यार्थ रूप हेतु काव्यलिंग अलंकार है।

कुछ लोग कहते हैं कि काव्यलिंग अलंकार ही नहीं है क्योंकि इसमें वैचित्र्य रूप विच्छित्तिविशेष नहीं हैं। क्योंकि वह विछित्ति कविप्रतिभा विशेष रूप हैं या प्रतिभा निर्मित चमत्कार विशेष है। इन दोनों में से एक की भी यहां सम्भूति नहीं है और जो तो पदार्थों में यहां हेतुहेतुमद्भाव है वह वास्तविक है अतः कवि प्रतिभा से सम्पादित नहीं है। फलतः चमत्कार नहीं है, और जो श्लेष के सम्मिश्रण से विच्छित्ति विशेष है वह श्लेष प्रयोज्य होने से काव्यलिंग नहीं है अलंकार में अलंकारत्व यही है कि जहाँ उपस्कारक के द्वारा उपस्कार्य में वैचित्र्य हो। यदि उपस्कारक के द्वारा उद्भूत वैचित्र्य उपस्कारक में ही विश्रान्त हो जाय वहां अलंकार नहीं होता है जैसे काव्यलिंग में। अतः निर्हेतुक दोष का अभाव ही काव्यलिंग है।

अर्थान्तरन्यास

सामान्य से विशेष का विशेष से सामान्य का जो समर्थन है वह अर्थान्तरन्यास है। वाक्य में पहले या पीछे निर्दिष्ट प्रकृत का समर्थन दृढ़ प्रयत्न यहां विवक्षित है। इसमें प्रश्न होता है कि (सामान्यान्यन्यथा सिद्धे विशेषं गमयन्ति हि) इस न्याय के अनुसार जहां सामान्य अर्थ विशेष अर्थ का समर्थक होता है। इसका आशय है कि सामान्य व्याप्तिज्ञान विशेष अनुमति का प्रयोजक है अतः सामान्य से विशेष का समर्थन अनुमिति है। अर्थान्तरन्यास नहीं है और जहाँ विशेष से सामान्य का समर्थन है उसका आशय है कि सामान्य की प्रतीति को विशद करने के लिए निर्विशेषं न सामान्यम् न्याय के अनुसार उसी के एक देश विशेष का उपादान किया गया अतः उदाहरणालंकार यहां है अर्थान्तरन्यास नहीं।

ये दो प्रश्न क्रमशः अलंकारसर्वस्वकार एवं विमर्शिनीकार के द्वारा उठाये गये हैं इनका उत्तर पण्डितराज ने दिया है। जो कि समभौवल है। उत्तर नहीं हो रहा है।

पण्डितराज कहते हैं जहाँ विशेष वाक्यार्थ सामान्य वाक्यार्थ का समर्थन करता है वहां दो गति है। पहली है कि वाक्य में दो अंश होते हैं एक अनुवाद्य उद्देश्य, दूसरा विधेय। जहां अनुवाद्य अंश विशेष रूप हो और विधेय अंश सामान्य रूप हो वहां उदाहरणालंकार है और जहां अनुवाद्य और विधेय दोनों विशेषरूप हो वहां अर्थान्तरन्यास अलंकार होगा।

वस्तुतः उत्तर यह है कि उदाहरण में सामान्य विशेष वाक्यार्थों में अवयवायवी भाव होता है; वह भी इव तथा दृष्टांत निदर्शादि शब्दों से उच्यमान होता है और एक वाक्य होता है।

अर्थान्तरन्यास में ये सब बातें विलक्षणताएँ नहीं होती हैं। अतः उदाहरण एवं अर्थान्तरन्यास भिन्न-भिन्न हैं। इवादि के अभाव में आर्थ उदाहरण नहीं हो सकता है। यदि मानेंगे तो उपमा में उपमेयोपमा आर्थ थी ही अनन्वय में असम, असम में अनन्वय आर्थ थे ही फिर क्यों पृथक्-पृथक् अलंकार मानें।

अनुमान दो तरह का होता है एक स्वार्थ दूसरा परार्थ। स्वार्थानुमान वह है जहां बोद्धा को मैंने इसको समझ लिया इस रूप में अपने परामर्श का निश्चय हो जाय। परार्थानुमान वह है जहां श्रोता को अनवगत अर्थ के समझाने के लिए जिस लिंग एवं उसके पक्षवृत्तित्व के प्रत्यायक वाक्य का प्रयोग किया जाय। यह स्थिति अर्थान्तरन्यास बोधक वाक्य की नहीं है। क्योंकि कवि ने वहां तल्लिंगकानुमिति बुबोधयिषा से तदात्मक वाक्यरूप काव्य का निर्माण नहीं किया है। और भी बात है यदि विषय विषयी के शब्दों से उपात्त होने पर होनेवाला रूपक, विषय के आर्थ होने पर भी होने लगेगा तो अतिशयोक्ति को खतम कर देगा अतः शाब्द एवं आर्थ का अपना अपना स्थल अलग है।

अनुमान

यह ऊपर के अलंकार में समझा दिया गया है फिर भी सामान्य संकेत करते हैं। जहां हृद्य साध्य एवं साधन का निर्देश हो वहां अनुमान अलंकार होता है। अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य नियत साहचर्य रूप व्याप्ति के आश्रय हेतु साधन के ज्ञान से, धर्मी पक्ष में साध्य का जो ज्ञान वह अनुमान है। यहां अनुमिति को ही अनुमान पद से कहा गया है। अनुमिति को ही चमत्कारजनक होने से अलंकार माना है। उसके बिना केवल परामर्श ज्ञान से

प्रकृत की सिद्धि नहीं है। यहां काव्य में व्याप्ति कवि कल्पित ही रहती है। वास्तविक भी हो सकती है।

यथासंख्य

उद्दिष्ट पदार्थों का क्रमशः अनुद्देश यथासंख्य है। जो पदार्थ पहले कहे जाते हैं वे उद्दिष्ट कहलाते हैं, और जिनका बाद में निर्देश है वह निर्देश अनुद्देश है। ये उद्दिष्ट एवं अनूद्दिष्ट पदार्थ भिन्न-भिन्न है। दोनों के एक होने पर पुनरुक्ति दोष हो जायगा। वाक्यार्थ पर्यालोचन के द्वारा प्रतीत होता है कि इन तथा कथित पदार्थों का कुछ सम्बन्ध अवश्य है। क्योंकि सम्बन्ध यदि उनमें नहीं रहेगा तो उनका तथा कथन व्यर्थ हो जयगा।

अतः सम्बन्ध मानना अत्यावश्यक है वह सम्बन्ध भी क्रमिक होगा। इसलिए उद्दिष्टों का अनूद्दिष्टों के साथ क्रमिक सम्बन्ध यथासंख्य है।

इस पर विचार होता है कि क्रम भंग या अपक्रम दोष का अभाव ही यथासंख्य है अतः अलकार नहीं है यह एक आक्षेप है। उनूद्दिष्ट अद्दिष्ट पदार्थों में क्रमशः अन्वयबोध के लिए नियामक कौन है यह दूसरी शंका है।

क्रमशः उत्तर। क्रमभंग या अपक्रम का कारण है व्यवहार ज्ञान की त्रुटि या प्रसिद्धि का व्याघात, और यथासंख्य का कारण है पदार्थों की उद्देश एवं अनूद्देश के साथ योग्यता। अतः कारण के भेद से कार्य का भेद होता है इस नियम के अनुसार अपक्रम या क्रमभंग भिन्न वस्तु है यथासंख्य भिन्न वस्तु है, और अलंकार का कारण है चमत्कार। वह चमत्कार जब स्वतः सिद्ध स्वतः संभवी वस्तु में भी मिलता है। तब वह कवि प्रतिभानिर्मित वस्तु में नहीं मिलेगा इसमें कौन तुक है और कविप्रतिभा निमितत्व ही अलंकारत्व है, यह आलंकारिक सिद्धान्त नहीं है। प्रकृत में वह चमत्कार निर्बाध है अतः यथासंख्य अलंकार है। दूसरी शंका का उत्तर कारण के निरूपण से स्वतः हो गया। पृथक् से उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है।

पर्याय

एक आधार में क्रम से अनेक आधेय और अनेक आधार में क्रमशः एक आधेय जहां हृद्यत्वेन कहा जाय वह पर्याय है। समुच्चय एवं विनिमय किया भेद में अतिव्याप्तिवारण के दोनों लक्षणों में क्रमशः पर्यायत्व की हैं। है। अलंकारत्व के लिए कविकल्पना की ही अपे[illegible] स्वतः सिद्ध को भी तो अलंकार माना है।

परिवृत्ति

सम या असम पदार्थों का सम या असम पदार्थों से जो हृद्य विनिमय उसको परिवृत्ति कहते हैं।

परिसंख्या

एक वस्तु की जब अनेक स्थल में युगपत् प्राप्ति की संभावना हो तब उस एक वस्तु का द्वितीय में परिहार करके एक स्थल में नियमन किया जाय उसको परिसंख्या कहते हैं। मीमांसा दर्शन में विधि, नियम एवं परिसंख्या ये तीन प्रकार कहें हैं।

वैयाकरण लोग परिसंख्या को भी नियम शब्द से कहते हैं। आलंकारिक लोग नियम को भी परिसंख्या कहते हैं। दोनों के यहां दोनों एक ही वस्तु हैं। पाक्षिक प्राप्ति और युगपत् प्राप्ति रूप अवान्तर विशेष की गणना यहां नहीं की गई है। यह परिसंख्या प्रश्नपूर्विका एवं विना प्रश्न के भी है।

अर्थापत्ति

किसी अर्थ से अर्थान्तर की आपत्ति अर्थापत्ति है। यह हृद्य होने पर अलंकार है अर्थात् जिस न्याय से एक अर्थ की सिद्धि हुई है उसी न्याय से दूसरा भी अर्थ सिद्ध हो सकता है यह तुल्यन्याय यहां पर है। इस अर्थापत्ति का मीमांसको के अर्थापत्ति प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं है। मीमांसको के यहां आपतित अर्थ के विना आपादक अर्थ की अनुपपत्ति होती है वह अनुपपत्ति आलंकारिकों के यहां नहीं होता होती है, और न अनुमान में इसका अन्तर्भाव है। क्योंकि आपतित अर्थ का आपादक अर्थ के साथ सामानाधिकरण्य नहीं होने से व्याप्ति एवं पक्षधर्मता का अभाव है। इसमें जो अर्थ लोक में भी नहीं है किन्तु कवि जब अपनी प्रतिभा से कल्पना करके आपादन करता है तब अर्थापत्ति अलंकार होता है।

विकल्प

प्रमाणों की तुल्यता के बदौलत तुल्य बलवाले विरोधियों की एक धर्मी में प्राप्ति [illegible] में युगपत् प्राप्ति असंभव है अतः पाक्षिकी अर्थात् वैकल्पित की [illegible] विकल्प [illegible] तुल्य है। फलतः दो विरोधियों की पाक्षिकी है। यहां अनुसार है [illegible] विकल्पाश्रित पदार्थों में औपम्य होने से ही चमत्कारजनक होने [illegible] का प्रयोजक है।

समुच्चय

गुण एवं क्रियारूप समस्त या व्यस्त पदार्थों का युगपत् अन्वय का नाम समुच्चय है। युगपत् का यहां विन्यास यह बतलाने के लिए है कि पदार्थों का अन्वय क्रम से नहीं होता हैं। इसका यह आशय नहीं है कि एक ही क्षण में पदार्थों का अन्वय होता है इसलिए किंचित् कालभेद में भी समुच्चय होता है। यह सद्योग, असद्योग, सदसद्योग तीनों में होता है।

यहां समुच्चय में एक किसी कार्य को सम्पादन करने के लिये खलिहान में कपोतों की तरह अनेक कारण युगपत् अहमहमिका से आ जाय किन्तु कार्य में कोई अतिशय नहीं हो यह वैलक्षण्य है।

समाधि

समाधि में एक किसी कारण से कार्य की निष्पत्ति हो रही है उसी समय अकस्मात् आये हुए दूसरे कारण से उसने सहूलियत हो जाय याने सुविधा हों जाय यह सौकर्यरूप अतिशय का सम्पादन ही वैलक्षण्य हैं।

प्रत्यनीक

दुश्मन के तिरस्कार करने में असामर्थ्य होने पर दुश्मन के सम्बन्धी का तिरस्कार करना ही प्रत्यनीक हैं।

प्रतीप

उपमेय ही उपमान के भार को वहन करने में समर्थ हैं तब उपमान की क्या आवश्यकता हैं इस तरह उपमान के विषय में आक्षेप अर्थात् आलोचन जहां करते हैं वह प्रथम प्रतीप है। उपमेय का उपमान के प्रतिकूल होने से प्रतीप होता है। उपमान के रूप में प्रसिद्ध पदार्थ का अनादर करने के लिए उपमेय बनाने की कल्पना करना और दूसरे को उपमान के रूप में प्रतिष्ठित करने की इच्छा यह दूसरा प्रतीप है। यहाँ भी उपमेय उपमान के प्रतिकूल होने से प्रतीप है। यह प्रतीप का द्विविध स्वरूप अलंकार सर्वस्वकार के मत से लिखा है।

पण्डितराज के मत में प्रतीप पाँच प्रकार का है जिनमें पहला है उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान बना देना है इस प्रतीप का फल है उपमेय की उपमान के अपेक्षा अधिकता है उत्कर्ष ... मान की उपमेय के अपेक्षा न्यूनता है ... पकर्ष है। ... [illegible] ... का वैलक्षण्य है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब की सादृश्य उपमान एवं उपमेय में समान है तब क्या हेतु है कि एक उपमेय में अधिकता और उपमान में न्यूनता होती है। उत्तर कहते हैं कि सुनिये। यह तो निर्विवाद है कि उपमान में साधारण धर्म का अनुवाद करके उपमेय में विधान करते हैं वह साधारण धर्म साध्य होने से विधेय कहलाता है और सिद्ध होने से अनुवाद। इन्हीं साध्यत्व और सिद्धत्व के कारण उपमान और उपमेय में क्रमशः न्यूनता और अधिकता होती है। सिद्धत्व उत्कर्ष का कारण है और साध्यत्व अपकर्ष का कारण है।

लोक में भी देखा जाता है कि निश्चित विद्या वाले की जैसी पूजा होती है वैसी अनिश्चित विद्या वाले की नहीं। इनके भी ये साध्यत्व और सिद्धत्व वक्ता के कहने की इच्छा के अधीन है। अतः कोई दोष नही है।

उपमान या उपमेय में किसी गुण विशेष के कारण अद्वितीयता का जो घमण्ड हो गया है उसको हटाने के लिए उसका जोड़ीदार खड़ा करके सादृश्य का उल्लास है यह दूसरा एवं तीसरा प्रतीप है। उपमान का कैमर्थ्य चौथा है। सादृश्य का विघटन जहाँ रहे वह पंचम है।

प्रौढ़ोक्ति

किसी पदार्थ में किसी प्रसिद्ध धर्मी गत धर्म के द्वारा अतिशय प्रतिपादन करने की इच्छा से प्रसिद्ध धर्मी के साथ सम्बन्ध का उद्भावन करना प्रौढ़ोक्ति है।

ललित

प्रकृत धर्मी में प्रकृत व्यवहार का उल्लेख किये बिना ही अप्रकृत व्यवहार के सम्बन्ध का निरूपण करना ललित है। नवीन इसको निदर्शना के अन्तर्गत ही मानते हैं।

प्रहर्पण

प्रत्यक्ष रूप से साक्षात् उसके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया किन्तु अभीष्ट अर्थ का लाभ हो गया। उसको प्रहर्पण कहते है। इसके तीन प्रकार हैं। अकस्मात् इष्ट अर्थ का लाभ एक है। किसी वाञ्छित अर्थ की सिद्धि के लिये प्रयत्न किया गया किन्तु [illegible] प्रयत्न से वाञ्छित अर्थ से भी अधिक अर्थ की सिद्धि होना द्वितीय [illegible] फल की प्राप्ति के लिए उपाय खोज रहे थे कि साक्षात् फल का [illegible] यह तीसरा है।

विषादन

अभीष्ट अर्थ के विरुद्ध लाभ होना विषादन है। विषम और विषादन दोनों संकीर्ण ही मिलते हैं।

उल्लास

दूसरे के गुण के कारण दूसरे में गुण का अथवा दोष का आधान याने तद्वत्तावुद्धि हो जाय या दूसरे के दोष के कारण दूसरे में गुण का अथवा दोष का आधान हो जाय। उसको उल्लास कहते हैं।

अवज्ञा

उक्त उल्लास का विपर्यय अवज्ञा है।

अनुज्ञा = तिरस्कार

उत्कट गुण विशेष की लालसा से दोषत्वेन प्रसिद्ध वस्तु की प्रार्थना अनुज्ञा है। इसी का उल्टा तिरस्कार है। दोष विशेष के अनुवन्ध से गुणों के द्वारा प्रसिद्ध गुणी से भी द्वेष तिरस्कार है। प्राचीनों की अपेक्षा यह अलंकार पंडितराज की नवीन सृष्टि है।

इन अनज्ञा और तिरस्कार के विषय में आपत्ति उठाई है कि ये दोनों अलंकार नहीं बन सकते। जहाँ तक विचार सम्भव है प्रार्थना इच्छा रूप है तिरस्कार द्वेष है। वहाँ दोष में इष्ट साधनता ज्ञान रूप कारण के अभाव में इच्छा नही हो सकती। इसी तरह गुण में द्विष्ट (द्वेष्य) साधनता ज्ञान के अभाव में द्वेष भी नही हो सकता। प्रत्युत दोष में अनिष्ट साधनता ज्ञान के कारण द्वेष और गुण में इष्ट साधनता ज्ञान के कारण प्रार्थना होनी चाहिए।

उत्तर। ऐसी बात नही है। क्योंकि दोष में भी गुणांश है गुण में भी दोषांश है। निर्गुण या निर्दुष्ट वस्तु जगत् में कोई नही है। उन अंशों को लेकर इष्ट साधनता ज्ञान या द्विष्ट साधनता ज्ञान के कारणों के रहने से उक्त प्रार्थना करना या द्वेष करना ठीक है [illegible] नही है। उत्कट द्वेष के विषय पदार्थ से अनुबन्धन लगाव रखने [illegible] इष्टसाधनताज्ञान उपायेच्छा के प्रति कारण है। उत्कट इष्ट के सा[illegible] हैं। [illegible] नही रखने वाला द्विष्टसाधनता

ज्ञान उपाय द्वेष के प्रति कारण है। यह मानना जब आवश्यक है तब विपरीत भाव करना उचित नही है। अन्यथा उक्त कार्यकारणभाव को नही मानेंगे तो सुख एवं दुःख उभय के साधन चान्द्रायण एवं कलंजभक्षण आदि तथा हरीतकी भक्षण और दही एवं ककड़ी खाना आदि में इच्छा और द्वेष का कोई नियम नही रहेगा। इसलिये इष्ट और अनिष्ट उभय के साधन किन्तु दोष एवं गुण से सम्मिलित गुण एवं दोष में सहृदयों की इच्छा या द्वेष का होना उचित ही है जैसे हरीतकी के खाने में स्वाद नही है किन्तु पेट के रोगों को दूर कर देती है। उसी तरह केले के खाने में स्वाद है किन्तु कब्जियत कर देता है। फलतः अनुज्ञा और तिरस्कार भी अलंकार हो सकते हैं।

लेश

गुण का अनिष्ट साधनता के कारण दोष के रूप में, दोष का इष्ट साधनता के कारण गुण के रूप में वर्णन करना लेश है। इस अलंकार का दो तरह की व्याज स्तुति में अन्तर्भाव नही हो सकता है। क्योंकि दोनों का विषय, स्थान भिन्न-भिन्न है। लेश का स्पर्शलेश भी जहां नही है वहाँ व्याज स्तुति सावकाश है। इसी तरह जहाँ उभयविध व्याजस्तुति का स्पर्शलेशभी नही है वहाँ लेश का पूर्णस्पर्श है।

तद्गुण=तद्गुण

अपने गुण का त्याग किन्तु स्वसन्निहित वस्त्वन्तर के गुणों का ग्रहण तद्गुण अलंकार है। इसी का उल्टा अपने गुण को नही छोड़ना किन्तु स्वसन्निहित वस्त्वन्तर के गुण को ग्रहण नहीं करना अतद्गुण है।

मीलित

स्पष्ट मालूम पड़ने वाली वस्तु के सहज अथवा आगन्तुक (कृत्रिम) चिन्हों के कारण अत्यन्त साम्य हो जाने से दूसरी वस्तु के चिन्हों के अलग भिन्न नहीं मालूम पड़ने के फलस्वरूप इतना निगूहन छिपाव हो जाता है कि वे लिग अपने कारण [illegible] ज्ञापक नहीं हो पाते हैं वहाँ मीलित है। अर्थात् सहज या आगन्तुक चिन्हों के कारण जो एक वस्तु से दूसरी वस्तु का निगूहन है वह मीलित अलंकार है।

"सामान्य"

प्रस्तुत वस्तु का अप्रस्तुत वस्तु के साथ साधारण गुणों के योग हो जाने से ऐकात्म्य अर्थात् भेद के ज्ञान नहीं होने से एक रूपत्व जहाँ निबद्ध हो वह सामान्य है।

कोई यहाँ शंका करते हैं कि मीलित, सामान्य एवं तद्गुण साधारण भेदाग्रह नामक एक अलंकार मान लिया जाय। अलग अलग तीन अलंकार मानने की क्या आवश्यकता है। क्योंकि मीलित में प्रकृत एवं अप्रकृत धर्मी के गुणों में भेदाग्रह बतलाया गया है। सामान्य में कहीं पर बलवत्सजातीय ग्रहण कृत भेदाग्रह और कहीं पर जातिमात्र भेदाग्रह और तद्गुण में रंगी हुई वस्तु के गुण में उपरञ्जक के गुणों का भेदाग्रह होता है।

यह कह नही सकते कि अवान्तर भेदों के बदौलत एक अलंकार नही है क्योंकि ऐशा कहने पर पूर्णोपमा से लुप्तोपमा को पृथक् अलंकार मानना पड़ेगा। इसलिए भेदाग्रह के ही अवान्तर भेद मीलितादि है। पृथक्-पृथक् अलंकार नही है।

पण्डितराज इसका प्रतिवन्दी उत्तार देते हैं कि इस तरह फिर अभेद भी एक अलंकार मान लिया जाय। और उसी के अवान्तर भेद रूपक परिणामादि एवं अतिशयोक्ति वगैरह अलंकार है ऐसा भी कहा जा सकता है। अगर कहें कि इनमें विच्छित्ति भेद है। अतः ये भिन्न-भिन्न अलंकार है, तब तो विच्छित्ति भेद यहाँ भी है। इनको भी अलग-अलग अलंकार मानिये।

दक्षित जी ने मीलित का प्रतिद्वन्द्वी अमीलित एवं सामान्य का प्रतिद्वन्द्वी विशेपक अलंकार पृथक् माने है। उनका कहना है कि मीलित की रीति से भेदाग्रह हो रहा था किन्तु किसी कारण से भेद ज्ञान हो गया। माने उन्मीलन हो गया। अतः उन्मीलित यह सार्थकनामा अलंकार मीलित से पृथक् है। सामान्य की रीति से गुणगुणि में भेदाग्रह या जातिमात्र में भेदाग्रह प्राप्त था किन्तु किसी कारण वश भेदग्रह हो गया मानें विशेप वात हो गई अत; विशेपक यह अन्वर्थनाम वाला अलंकार सामान्य से पृथक् हैं।

इसके उत्तर में पंडितराज कहते हैं कि ये दोनों अलंकार अनुमान में गतार्थ हो जाते हैं। अगर कहें कि यहां तो विशेप दर्शन हेतुक प्रत्यक्ष ही हैं अनुमान नही हैं। तव ठीक नही हैं। क्योंकि शब्द द्रव्य हैं परमाणु भी

द्रव्य हैं तथापि नैयायिकों की परिभाषा पृथक हैं अतः ये गुण माने जाते हैं। उसी तरह आलंकारिकों की परिभाषा भी पृथक् हैं। अतः प्रत्यक्षत्व से अनालिंगित अनुमिति की परिभाषा को हम आलंकारिक नही मानते हैं। फलतः विशेष दर्शन हेतुक प्रत्यक्ष भी अनुमिति हो सकती हैं अतः अनुमिति में उनका अन्तर्भाव हो जायगा।

उत्तर

जहाँ उत्तर से प्रश्न का उन्नयन हो वह उत्तर अलंकार हैं। अर्थात प्रश्न का उपनिवन्धन नही होने पर उत्तर वाक्य से प्रश्न समझ लिया वह उत्तर हैं यह एक भेद हैं। इसमें पक्षधर्मता वगैरह का कथन नही हैं अतः यह अनुमान नही हो सकता हैं।

जहाँ वार-वार प्रश्न और वार-वार उत्तर का उपनिवन्धन रहे वह दूसरा उत्तर अलंकार हैं। यह परिसंख्या अलंकार नही हैं। क्योंकि यहाँ व्यवच्छेद्य व्यवच्छेदक भाव नहीं हैं। यह अलंकार सर्वस्वकार का कथन हैं।

पंडितराज का कथन हैं कि प्रश्न को रोक देनेवाला जो ज्ञान हैं उस ज्ञान का विषय भूत अर्थ उत्तर हैं। इसका आशय हैं। प्रश्न शब्द भाव में नङ् होने पर बना हैं। जिसका अर्थ है ज्ञानविषयक इच्छा, ज्ञीप्सा, जिज्ञासा अर्थात् साधारणतः जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा। जो उत्तर वाक्य से जनित ज्ञान से हट जाती हैं। अतः प्रश्न का प्रतिवन्धक जो उत्तर वाक्य जनित ज्ञान, तद्विषयीभूत अर्थ उत्तर हैं।

× × ×

इच्छा, ज्ञान एवं द्वेष तथा कृति ये चार पदार्थ सविषय कहे जाते हैं इसके फलस्वरूप जैसे धन के विषय में इच्छा होती हैं वैसे ही ज्ञान के विषय में इच्छा होती हैं। इसी ज्ञान विषयक इच्छा को जिज्ञासा, ज्ञीप्सा एवं प्रश्न कहते हैं। उसमें इच्छा का स्वभाव हैं निसर्ग है कि जिस विषय की इच्छा होती हैं। उस इच्छा के विषय पदार्थ के प्राप्त होने पर वह इच्छा निवृत्त हो जाती है। जैसे धन के विषय में इच्छा होती है। वह इच्छा तीव्र होती हैं। वह इच्छा धन के प्राप्त होने पर निवृत्त हो जाती हैं। इसी प्रकार ज्ञान विषयक इच्छा भी ज्ञान के प्राप्त होने पर निवृत्त हो जाती हैं।

प्रश्न—कारण के सद्भाव में कार्य उत्पन्न होता हैं; इच्छा कार्य हैं। ज्ञान कारण है। अतः ज्ञान के होने पर अर्थात् ज्ञानरूप कारण के सद्भाव

में इच्छा रूप कार्य को पैदा होना चाहिये निवृत क्यों होना चाहिए। उत्तर। सर्ग निसर्ग ही ऐसा हैं। सृष्टि का क्रम ही ऐसा है जैसे (नानुपमृद्य घटो- भवेत्) मट्टी वगैरह उपादान कारण से जब घट आदि कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। तब वहाँ घट के उत्पन्न होने पर मृत्तिकारूप कारण का अभाव विलयन हो जाता है किन्तु इसके विपरीत; ज्ञान से पैदा होने वाली इच्छा में करण भूत ज्ञान के उत्पन्न होने पर कार्यभूत इच्छा का अपगम हो जाता है।

क्यों ऐसा हो जाता है इसको बतलाते हैं। पुरुष की प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की हैं। कभी अपनी इच्छा से प्रवृत्ति होती है और कभी दूसरों की प्रेरणा से जैसे अमुक की आज्ञा से मैं इस कार्य को करता हूँ न कि अपनी इच्छा से वह व्यवहार है। अस्तु ! जहां अपनी इच्छा से प्रवृत्ति होती है। वहाँ इष्ट साधनता का ज्ञान पहले है। अर्थात् इष्ट साधनता का ज्ञान उस स्वेच्छा का हेतु है। क्योंकि नियम है कि पहले किसी विषय की जानकारी होती है तब उस विषय की इच्छा होनी है। बाद में उस विषय को प्राप्त करने के लिए यत्न होता है। जैसे पहले (धनं में इष्ट साधनम्) धन से मेरा इष्ट सिद्ध होगा यह ज्ञान होता है तब धन की चाह करता है। फिर उसके लिए यत्न करता है। इसी प्रकार पहिले शास्त्र ज्ञान मेरा इष्ट साधन है। विद्वान् होने से मेरी इष्ट सिद्धि होगी ऐसा ज्ञान होता है। तब शास्त्र ज्ञान मुझे हो जाय विद्वान् मैं हो जाऊँ यह इच्छा होती है। फिर इसके बाद शास्त्रज्ञान के लिए विद्वान् होने के लिए गुरु से अध्ययन रूप प्रयत्न को करता है।

एक नियम है कि कार्य के अव्यवहित पूर्व में कारण रहता है। अतः नियमानुसार शास्त्रज्ञान मुझे हो जाय, विद्वान् मैं हो जाऊँ इस इच्छा रूपी कार्य के पहिले शास्त्रज्ञान मेरा इष्ट साधन है। विद्वान् होने से मेरा इष्ट सिद्ध होगा ऐसे ज्ञानरूपी कारण का सद्भाव है। इस सद्भाव से अर्थात् शास्त्र ज्ञानेष्ट साधनता ज्ञान के हो जाने पर तद्रूप (शास्त्र ज्ञानेष्ट साधनता ज्ञान रूप) के विषयी भूत ज्ञान का भी सद्भाव है। क्योंकि पहले ज्ञान का जो विषय होता है। वह ज्ञान के ज्ञान का भी विषय हो जाता है। यहां दो ज्ञान है। पहला ज्ञान है शास्त्र विषयक ज्ञान।

दूसरा ज्ञान है। शास्त्रज्ञान से मेरा इष्ट सिद्ध होगा यह ज्ञान। जब विषयी भूत शास्त्र ज्ञान सिद्ध हो गया तब शास्त्रज्ञान मुझे हो जाय यह इच्छा नष्ट हो गयी अतः नष्ट हुई इच्छा की उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

इसके विषय में कहते हैं कि नहीं ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि सामान्य-रूप से शास्त्र विषय का ज्ञान होने पर भी विशेष रूप से शास्त्र का ज्ञान नहीं हुआ और इसी विशेष रूप से शास्त्र को जानने की इच्छा का ही नाम जिज्ञासा है। अतः सामान्य रूप से ज्ञान होने पर विशेष रूप से शास्त्र के ज्ञान नहीं होने की इच्छा बनी ही रह गयी; नष्ट नहीं हुई। फलतः कैसे इच्छा उत्पन्न हो सकती है यह कहना ठीक नहीं है।

इसी बात को परिडतराज के अक्षरों में स्पष्ट करने का प्रयत्न हम करते हैं। मुख्य देवता कौन है। वह्माण्ड में वहुत देवता हैं। ३३ करोड़ देवता हैं। उन सबकी उपासना कोई भी नहीं कर सकता है। अतः "एक मुख्य प्रधान देवता कौन है।" यह जानना चाहता है। उक्त प्रश्न वाक्य में वाक्य प्रयोक्ता के मन में एक इच्छा का अनुमान होता है। एक मुख्य देवता को जानने की इच्छा ही एक दैवत जिज्ञासा है। (यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि जानता है। इच्छा करता है और यत्न करता है। इनका कार्यकारणभाव है और ये गुण हैं तथा स-विषय पदार्थ है) अतः मुख्य देवता के जानने की इच्छा के जनकीभूतज्ञान की अपेक्षा है। वह जनकीभूतज्ञान है। मुख्य देवता का ज्ञान मेरी इष्ट सिद्धि का साधन है। अर्थात् जिस ज्ञान में मुख्य दैवतत्व के व्याप्य अवान्तर धर्म, प्रकार है विशेपण है। वह ज्ञान मेरा इष्ट साधन है। ऐसा ज्ञान।

इस जनकीभूतज्ञान से पैदा होनेवाली इच्छा प्रश्न कर्ता के हृदय में उत्पन्न होती है उसकी उत्पत्ति का प्रकार वतलाते हैं। पहिले कभी उपासना के प्रसंग में देवता के विषय में चिन्तन किया। उसमें दैवतत्व प्रकारिका उप-स्थिति हुई। यह पहली उपस्थिति है। इसके बाद एक सम्बन्धी का ज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारक होता है, और सदृश, अदृष्ट और चिन्तन; संस्कार के उद्बोधक होते हैं। इन नियमों के अनुसार स्मृति के हेतु भूत संस्कारों के उद्बोधक मुख्य दैवत सम्बन्धी चिन्तन से दैवतत्व के व्याप्य विष्णुत्व शिवत्व, गणेत्वादि अवान्तर धर्मों की सामान्य एक दैवतत्व व्याप्य धर्मत्व रूप से उपस्थिति भी हुई यह द्वितीयोपस्थिति है।

यहाँ बहुत से धर्मों की उपस्थिति होने पर भी उपास्य तो कोई एक धर्मा वच्छिन्न ही होगा इस लिए किसी महापुरुष के समीप जाकर पूछता है कि लोक में मुख्य देवता कौन है। क्योंकि महापुरुष के उत्तर से विशेप देवता के ज्ञान होने से उक्त जिज्ञासा की शान्ति हो जायगी।

(उन उपस्थितियों में दैवतत्व व्याप्य धर्म प्रकारक ज्ञानत्व रूप से सामान्य ज्ञान का ही ग्रहण हुआ विशेप ज्ञान का ग्रहण नहीं हुआ। इस लिए उत्तर

वाक्य से जन्य ज्ञान में रहनेवाली जो इष्टसाधनता है। उसके ज्ञान से इच्छा उत्पन्न हो ही जयगी।

इस इच्छा के विषय हैं विष्णु देवता, शिवदेवता इत्यादि विशेषज्ञान जो कि दैवतत्व व्याप्य धर्मप्रकारक ज्ञानत्व रूप सामान्य ज्ञान से गृहीत हुए हैं। क्योंकि (निर्विशेषं न सामान्यम् सामान्यान्यथासिद्धे विशेषं गमयन्तिहि) विशेष को छोड़कर सामान्य नहीं रहता है। परन्तु इतनी विशेषता है कि एक दैवत विषयक ज्ञानीया एक दैवतत्वव्याप्यधर्मनिष्ठा प्रकारता एक दैवतत्वव्याप्यधर्मत्वावच्छिन्ना है इस प्रकार सावच्छिन्ना प्रकारता है। किन्तु विष्णु मुख्य देवता है इस उत्तर वाक्य से जन्य ज्ञान में रहनेवाली एक दैवतत्व व्याप्य धर्मनिष्ठा प्रकारता निरवच्छिन्ना है। क्योंकि वह प्रकारता किसी धर्म से अवच्छिन्न होगी तो विष्णु त्वत्व से अवच्छिन्न होगी। किन्तु ऐसा होता नहीं है अतः वह प्रकारता निरवच्छिन्ना होगी।

इस प्रकार विष्णु मुख्य देवता हैं इस उत्तर वाक्य से जन्य ज्ञान से वह इच्छा शान्त हो जाती हैं। इच्छाकाजनकीभूतज्ञान हैं विष्णु मुख्य देवता हैं इस उत्तर वाक्य विशेष ज्ञाननिष्ठेष्टसाधनाता का ज्ञान। वह ज्ञान इच्छा का विषय नहीं हो सकता हैं। क्योंकि इच्छा कार्य है अतः उसमें पश्चाद् भावित्व हैं याने वह बाद में पैदा होगी, और ज्ञान कारण हैं अतः वह पहले रहेगा। फलतः पहले रहनेवाला ज्ञान पीछे पैदा होनेवाली इच्छा का विषय नहीं हो सकता हैं।

प्रश्न होता हैं कि पहले आपने कहा था कि विषयीभूत ज्ञान के सिद्ध हो जाने से इच्छा कैसे उत्पन्न होगी अर्थात् वह ज्ञान इच्छा का प्रतिबन्धक हैं, और अब कहते हैं कि उस ज्ञान की सिद्धि इच्छा की प्रतिवन्धिका हैं। यह तो पूर्व कथन और उत्तर कथन में विरोध हुआ। उत्तर। नहीं। विरोध नहीं हुआ। पहले सामान्य ज्ञान की सिद्धि कहा था अब विशेष ज्ञान की सिद्धि कहते हैं। इसमें प्रश्न उन्नीत रहता हैं और निबद्ध भी रहता हैं अतः दो प्रकार का है। यहां उत्तर वाक्य से प्रश्न का उन्नयन होता है अतः उत्तर वाक्य प्रश्न का हेतु हैं। तब काव्य लि। अलंकार का प्रसंग हो सकता है किन्तु प्रश्न एवं उत्तर में जन्य जनक भाव नहीं हैं अतः काव्य लिंग नहीं है। ज्ञाप्य ज्ञापक भाव उनमें होने पर भी धर्मी में उनका निर्देश नहीं है अतः अनुमान नहीं हैं। यहां प्रश्नोत्तर का नियम होने पर भी परिसंख्या अलंकार नहीं है। क्योंकि जहां अन्यव्यपोद में तात्पर्य होता है वहां परिसंख्या होती हैं। वह व्यपोह वाच्य

एवं व्यंग्य दोनों होता है। यहां अन्य व्यपोह नहीं होता हैं, और वाच्य में विश्रान्त है।

सूक्ष्म

यहां सूक्ष्म अर्थ जिसको स्थूलमति लोग नहीं समझ सकते उसको जब कुशाग्र बुद्धि लोग इङ्गित, आकार, गति (चाल ढाल) चेष्टा, भाषण, नेत्र एवं मुख विकार से समझ लेते हैं तब उस समझे हुए अर्थ का विदग्धों के प्रति जो प्रकाशन हैं वह सूक्ष्म अलंकार है।

व्याजोक्ति

जहां छिपी हुई वस्तु किसी कारण से प्रकट हो जाय और उस प्रकट हुई वस्तु को किसी अन्य वस्तु के प्रक्षेप से छिपा दे या अपलाप कर दे तब वहां उस वस्त्वन्तर प्रक्षेप रूप व्याज को कहना व्याजोक्ति है। गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, छलोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, अत्युक्ति, छेकोक्ति ये भी उक्तियां दीक्षित जी ने लिखी हैं।

वक्रोक्ति

किसी वक्ता ने जिस वाक्य को अन्य अभिप्राय से कहा था दूसरा वक्ता उसको काकु या श्लेष के प्रयोग से अन्यथा अन्य अभिप्राय से कह दे तब उस कथन को वक्रोक्ति कहते हैं।

स्वभावोक्ति

यहां केवल वस्तु के स्वभाव का वर्णन अलंकार नहीं है। यदि केवल वस्तुके स्वभाव के वर्णन को अलंकार मानेंगे तो सभी काव्य अलंकार युक्त हो जायेगें। क्योंकि ऐसा कोई काव्य नहीं हैं जहां वस्तु के स्वभाव का वर्णन नहीं है। इस पर कहते हैं कि (तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः) वस्तु स्वभाव को अलंकार नहीं कह सकते। (क्योंकि वस्तु के अतिशय दायी धर्मों को अलंकार कहते हैं। ठीक है किन्तु इसी अतिशय को प्राप्त करने के लिए सूक्ष्म पदका ग्रहण किया है। इस पर फिर प्रश्न होता है कि क्या सूक्ष्म ग्रहण करने से समाधान हो गया। उत्तर। सूक्ष्म पदार्थ को केवल कवि ही समझ सकता है। प्रसिद्धि भी है कि जहां न जाय रवि वहां जाय कवि। क्योंकि कवि की बुद्धि कुशाग्र की तरह तीक्ष्ण होती है। स्थूलमति अकवि या कुकवि पहले तो

वस्तु के सूक्ष्म तत्त्व को समझेगें ही नहीं। अगर कदाचित् कुछ समझें भी तो विश्लेषण करने में अक्षम रहेंगे। इस लिए कवि निर्मित अर्थात् कवि प्रतिभो-त्थापित जो वस्तु का सूक्ष्म स्वभाव है निजी धर्म है उसका यथावत् जिसमें न किसी तरह की कमी हो और न किसी तरह का अतिरेक हो ठीक-ठीक वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार है।

भाविक

अतीत एवं अनागत पदार्थ जहां प्रत्यक्ष जैसे प्रतीत होगें वह भाविक हैं। यह भूत एवं भावी पदार्थों का प्रत्यक्ष जैसे मालूम पड़ने में तीन हेतुओं का उपन्यास भामह; उद्भट आदि आचार्यों ने किया है। प्रथम हेतु अलौकिकत्व हैं जो पदार्थ लोक साधारण न हो याने सर्व साधारण जनता की बुद्धि से परे हो। दूसरा हेतु है वे पदार्थ आश्चर्यजनक हों। जिनको देख-भालकर जनता आश्चर्य में विभोर हो जाय। तीसरा हेतु जो पदार्थ व्यस्त, सम्बन्ध रहित अर्थात् अनाकुल शब्द संदर्भ (रचना) से समर्प्यमाण हो। शब्दों से प्रतिपाद्य अर्थों का परस्पर में सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत हो अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थ इतने उलझे रहें कि एक दूसरे से सम्बन्ध ही नही करते हों जिसके फलस्वरूप विशेष रूप से तात्विक रूप से पदार्थों के समझने में विघ्न हो जाय आकुलता हो जाय कि क्या यहां प्रतिपाद्य है। अत: अनाकुल रचना से जहां भूत भावी अर्थ स्फुट मालूम पड़ते हों वह भाविक हैं।

काव्य ऐसा होना चाहिए जो सुनते-सुनते स्पष्ट हो जाय। इसी का नाम हैं वाच्य एवं वाचक का रामणीयक याने सौन्दर्य। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं कि जो काव्य के सुनते ही स्पष्ट मालूम हो जाय किन्तु उनका अपना निजी सौभाग्य नहीं होने से कूड़े करकट की तरह सहृदयों के अवहेलनीय हो जाते हैं सहृदय लोग उस तरफ कुछ मनोयोग नहीं देते। कुछ ऐसे हैं जो स्वयं सुभग है किन्तु दुर्भग शब्दों से प्रतिपाद्य होने से सहृदयों को आकृष्ट नही कर पाते हैं।

भाविक शब्द का अर्थ हैं कि कवि का भाव आशय श्रोता के हृदय में प्रतिबिम्बित हो जाय। अथवा भाव भावना अर्थात् भावुक के मानस पटल पर पुन: पुन: निवेशन जहां रहे वह भाविक हैं।

यहां प्रश्न होता है कि अप्रत्यक्ष अतीत एवं भावी पदार्थों का प्रत्यक्ष जैसा प्रतीत होना भ्रांति क्यों नहीं। उत्तर। भ्रांति होती है अतत् में तत् की

बुद्धि। यहां तो भूत भावी का भूत भावितया ही प्रकाशन है। अतः तथा प्रकाशन भ्रांति नहीं हैं। प्रश्न = अगर भूत, भूत ही भावी, भावी ही प्रतीत होता हैं तब साधारण वस्तु ही प्रतीत हुई अलंकार नहीं होगी। उत्तर। राम हुआ इस तरह केवल वस्तु भी नहीं प्रतीत होती हैं। किन्तु भूत एवं भावी पदार्थों का स्वरूप प्रत्यक्ष और अधिक स्फुट मालूम पड़ता हैं। प्रश्न = कई सहस्र वर्ष पूर्व जो व्यक्ति हुआ उसका प्रत्यक्ष कैसे होगा। कहना होगा कि आधुनिक किसी व्यक्ति को नाटकीय ढंग से राम समझा जायगा तब तो अन्य में अन्य का अध्यवसाय किया फलतः अतिशयोक्ति हुई। उत्तर—यहाँ अन्य को अन्य रूप से नहीं समझा गया किन्तु भूत को भूतरूप से भावी को भावी रूप से ही समझा गया है। यह नहीं है कि जो हुआ ही नहीं उसको हुआ है, जो भावी नहीं है उसको भावी, जो प्रत्यक्ष है उसको प्रत्यक्ष नहीं है। जो अप्रत्यक्ष है उसको प्रत्यक्ष है ऐसा समझा गया है।

क्योंकि प्रत्यक्षत्व किसी वस्तु का धर्म नहीं है। वह तो प्रतिपत्ति सापेक्ष है। ज्ञान के अधीन है। अतः वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर वस्तु में प्रत्यक्षत्व रहेगा। क्योकि वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए प्रमाता प्रत्यक्षकर्ता की सामग्री का उपयोग होता है। वह सामग्री लोकयात्रा में चक्षुरादि इन्द्रियाँ है और अतीन्द्रिय वस्तु के ज्ञान के लिये योगियों की भावना है। काव्यार्थ वेत्ता भावुकों की भी वह सामग्री भावना स्वभाव ही है। वह भावना प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा नहीं है। क्योंकि यहाँ अध्यवसाय नहीं है। यह काव्यलिंग भी नहीं हैं। क्योंकि लिंगलिंगिभाव से प्रतीति नहीं है। किन्तु योगि की तरह प्रत्यक्ष प्रतीति होती है।

जैसे पुरः स्फुटद्रूपतया चमत्कारी प्रतीति रसवदलंकार में होता है वैसे ही चमत्कारी प्रतीति भाविक में भी होती है अतः रसवत् अलंकार ही इसको क्यों न मान लिया जाय। इस पर कहते हैं कि नहीं। रसवत् अलंकार यह नहीं है। क्योंकि रत्यादि चित्तवृत्तियों एवं तदनुपक्त विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों की साधारणता अर्थात् अपने पराये के भेद और देश, काल, अवस्था एवं वय के परिच्छेद के नहीं होने पर व्यापकता और हृदय संवाद के सहारे परम अद्वैत प्रतीति की तरह प्रतीति होने पर रसवत् अलंकार होना है। और भाविक में तो भूत और भावी पदार्थों की तटस्थ रूप से और स्फुटता से प्रतीति होती है। हाँ स्फुट प्रतीति के बाद साधारण्येन प्रतीति

होती है अतः साधारण रूप से प्रतीति के कारण उत्तर काल में रसवत् अलंकार हो सकता है।

यह सूक्ष्म रूप से वस्तु के स्वभाव के वर्णन करने के कारण स्वभावोक्ति भी नहीं है क्योंकि स्वभावोक्ति में लौकिक वस्तु के सूक्ष्मधर्मों के वर्णन करने पर साधारण रूप से हृदय संवाद हो सकता है और भाविक में लोकोत्तर वस्तुओं की स्फुटता और तटस्थता से प्रतीति होती हो तो भाविक और स्व-वोक्तिका एकत्र समावेश हो सकता है अर्थात् संकर या संसृष्टि हो सकती है।

यह नहीं समझना कि केवल संवाद हो जाने से स्वभावोक्ति वस्तुसम्वाद रूप है और रसवदलंकार चित्तवृत्ति सवाद रूप है। किन्तु भिन्न-भिन्न है। हाँ दोनों संवादों का जहां सम्मेलन हो वहाँ समावेश हो सकता है।

वस्तुनश्चितवृत्तेश्च संवादः स्फुटता प्रथा।
स्वभावोक्ते रसवतो भाविकस्य च लक्षणम् ॥

इस तरह जो स्वभावोक्ति में रसवत् एवं भाविक के लक्षणों की एकता का विवाद था वह दूर हो गया। वस्तुओं का संवाद स्वभावोक्ति है। चित्तवृत्ति का सम्वाद रसवत् है और उन दोनों की जहां प्रथा स्फुटता हो जाय वह भाविक है।

मुद्रा

जहाँ प्रकृतार्थक पदों से सूच्य अर्थ की सूचना हो वह मुद्रा अलंकार है।

रत्नावली

प्रकृत अर्थों का क्रमिक विन्यास रत्नावली अलंकार है।

पूर्वरूप

पुनः अपने गुण को प्राप्ति जहाँ रहे वह पूर्वरूप है और वस्तु के विकृत होने पर निकल जाने पर भो पूर्व आस्था की अनुवृत्ति हो वह भी पूर्वरूप है।

अनुगुण

दूसरे के सन्निधान से पूर्वसिद्ध अपने ही गुण का जहां उत्कर्ष हो जाय वह अनुगुण है।

गूढोत्तर

कुछ अभिप्राय लिये हुए उत्तर को गूढोत्तर कहते हैं।

चित्र

किसी ने प्रश्न किया दूसरे ने उसका उत्तर दिया ये दोनों जहां मिलकर रहें वह चित्र है।

पिहित

दूसरे के हृत्तन्त्र को लक्षित करके जान करके जहां कुछ साभिप्राय चेष्टा की जाय वह पिहित अलंकार है।

उदात्त

समृद्धिशाली वस्तु का वर्णन तथा महापुरुषों के चरित जो किसी प्रधान का अंगभूत हो तो वह उदात्त अलंकार है।

रसवत्

रस जहां दूसरे का अंग हो जाय वह रसवन्। व्यापार अर्थात् रचनारूप निबन्ध में जहां रस रहे वह रसवत् है। यह अलंकार सर्वस्वकार का मत है।

भाव

विभावानुभावों के द्वारा अभिव्यक्त हुए तेंतीस निर्वेदादि भाव एवं देव, गुरु, शिष्य, ब्राह्मण एवं पुत्रादि में अभिव्यक्त हुई रति भी भाव है। यह भाव जहां दूसरे का अंग हो जाय वह प्रेय अलंकार है। प्रियतर की जहां रचना हो वह प्रेय है।

रसाभास, भावाभास बनाम उर्जस्वी

जिसमें सहृदयों को अनुचित है यह मालूम पड़े ऐसी रति या ऐसे भाव का जहां उपनिबन्ध हो वह रसाभास और भावाभास है। अनुचित कार्य करने में बलप्रयोग किया जाता है अतः रसाभास एवं भावाभास के अंग हो जाने पर ऊर्जस्वी अलंकार माना है।

भावप्रशम वनाम समाहित

भावों की प्रशाम्यदवस्था भावशान्ति है। वह जहाँ अंग हो जाय वहाँ समाहित अलंकार है।

भावोदय, भावसंधि एवं भावशवलता

उक्तरूप भाव की उद्‌गमावस्था भावोदय है। दो भावों की जहां परस्पर में स्पर्द्धा हो वह भावसंधि है। वहुत से भावों का पूर्व पूर्वोपमर्दन उपनिवन्धन भावशवलता है। ये तीन पृथक् अलंकार है।

संसृष्टि एवं संकर

अव इन पहले कहे हुए अलंकारों के संश्लेप सम्मेलन से उत्थापित दो अलंकारों की संसृष्टि एवं संकर को वतलाते हैं। उनमें संश्लेप सम्मेलन दो प्रकार से है। एक में संयोग विधया दूसरे में समवाय प्रकार से संश्लेप है। जहां संयोग न्याय है वहां अलंकारों में भेद उत्कट दिखाई देता है। जहाँ समवाय न्याय है वहां अलंकारों में भेद उत्कटावस्था में नहीं है। उनमें जहां वह भेद उत्कट रूप से स्थित है वहां अलंकारों की तिल तण्डुल न्याय से संसृष्टि है और जहां वह भेद अनुत्कट रूप से स्थित हैं वहां अलंकारों का पांसूदकन्याय एवं नीरक्षीर न्याय से संकर है।

विचारचातुरी या विमर्शसंघर्ष

विमर्शिनीकार ने यहां संसृष्टि एवं संकर के विपय में दो विचारों का या दो विमर्शों का उल्लेख किया है। इसका मूल है अलंकारसर्वस्वकार का विवेचन कि जिन अलंकारों को हम पहले कह चुके हैं उन अलंकारों का यदि यथासंभव किसी एक जगह में कथन हो तो क्या वे पृथक्-पृथक् अलग-अलग नाम से कहे जायेंगे या इनको एक नाम वाला कोई भिन्न अलंकार मानेंगे उनकी पंक्तिया ये है—

> उक्तालंकाराणां यथासंभवं यदि क्वचिद्वचनं स्यात्,
> तदा ते किं पृथक्त्वेन पर्यवसिताः,
> उत तदलंकारान्तरमेव किञ्चिदिति ।

पहला विचार है कि शब्दगत एवं अर्थगत अलंकारों के संघटन कर देने मात्र से कैसे भिन्न एक अलंकार मानेंगे क्योंकि ये अलंकार तथा इन अलंकारों की कक्षा भिन्न-भिन्न है। कोई भेद मूलक है कोई अभेद मूलक हैं इत्यादि

श्रेणियां भिन्न-भिन्न है। अतएव इनका एक बुद्धि में विपय होना कठिन है फलतः पूर्वापेक्षया विलक्षण चमत्कार नहीं हो पाया। इन अलंकारों के संघटित होने पर भी अलकारों में चारुता उसी प्रकार विद्वानों को भिन्न २ मालूम पड़ती है। यह संघटना एक वाक्य में या एक छन्द में होती है। कुलक वगैरह में नही होती है। उनमें वह संघटना दूर पड़ जाती है। कुलकादि में भी यदि एक वाक्य में हो तो संकर या संसृष्टि हो सकती है।

दूसरा विचार है कि समग्रता प्रत्यक्ष में एकेन्द्रिय ग्राह्य होने से समान जातीय स्थाली, जल, ज्वलन एवं ज्वलन रत तण्डुलों का एक बुद्धि में उपारोहण के बल पर समता से एक वस्तु का अवगम होता है।

शब्दालंकार और अर्थालंकारों मे तो भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से शब्दों के श्रोत्रेन्द्रिय से और अर्थो के नाटक मे चक्षुरिन्द्रिय से पठ्य मे मन इन्द्रिय से ग्राह्य होने से एक बुद्धि विषयता नहीं है अतएव उन अलंकारों की युगपत् प्रतीति नहीं होती है फलतः एक संसर्ग का भान कैसे हो सकता है। जिनमें संसृष्टि एवं सकर अलंकार के व्ययदेश की योग्यता होवे।

इस पर उत्तर देते हैं कि शब्द का ज्ञान श्रोत्ररूप एक इन्द्रिय से ग्राह्य है अतः शब्दालंकारों के सजातीयत्व मे कोई विवाद नहीं है। अतएव उनमे एक बुद्धि के विषय होने में युगपत्प्रतीति के आधार पर संसर्ग का ज्ञान होता है, और चारुता के अतिशय या उपसर्जन अंगत्व के विषय मे संशय होने पर वह संसर्ग संसृष्टि या संकर अलंकार व्यपदेश के योग्य है।

काव्य मे (शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः) शब्दों से ही प्रतिपाद्य हुए अर्थ ज्ञेय होते हैं अतः अर्थो का मानस ज्ञान होता है। फलतः मन रूपी एक इन्द्रिय से ग्राह्य होने से अर्थालंकारों में सजातीयत्व है अतएव उनमें एक बुद्धि के विषय होने से युगपत्प्रतीति के आधार पर संसृष्टि या संकर अलंकार बन जाते हैं।

यह भी यहां समझना चाहिये कि संकरालंकार में अंगागिभाव संकर होता है। वह अंगागिभाव दो प्रकार का है एक निमित्तनिमित्तभाव दूसरा उपकार्योपकारकभाव। उनमे निमित्तनिमित्तीभाव भी दो प्रकार का है सार्वत्रिक एवं प्रादेशिक।

जिस प्रकार ईख, गुड एवं चीनी मे मिठास भिन्न२ मालूम पड़ती है। इस नीति के अनुसार उनमें भिन्न२ ही चारुता प्रतीत होती है। इस लिए

इन अलंकारों को भिन्न२ मानना ही ठीक है। क्योंकि किसी भी सहृदय को इन अनुप्रास एवं उपमादि में लौकिक अलंकारों की तरह संघटना कृत विलक्षण सौन्दर्य मिलता है, और न मोती पुखराज एवं नीलमणि की तरह परभाग (उत्कर्ष) प्रतीत होता है। किन्तु भिन्न२ इन्द्रियों से (शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से और अर्थ चक्षुकारिन्द्रिय या त्वगिन्द्रिय से) ग्राह्य होने के कारण भिन्न जातीय ही है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि यह सब असत् है समीचीन नहीं है क्योंकि जैसे पृथगवस्थित वटलोई, जल, ज्वलन एवं ज्वलनरत तन्दुल में समता का ज्ञान नहीं होता है किन्तु समुदित हुए उन्हीं उक्त पदार्थों में "समग्र पदार्थ सन्निहित है" इस तरह के एक सन्निधान नामक धर्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। उसी प्रकार भिन्न२ कक्षा वाले अलंकारों के संघटन से पहले पीछे के सभी पदार्थों के एकीकरण के बल पर एक बुद्धि में उपारोहण से कोई संसर्ग जो संसृष्टि एवं संकर नाम से कहे जाने के योग्य मिलता ही है।

और भी जैसे फोटो में रंगों में वर्णों में भेद होने पर भी विच्छेद के नहीं होने से एक ही फोटो है ऐसा मालूम पड़ता है और फोटो में जो स्वरूप हैं वे जैसे अन्य रूपों से (शकलों से) अलग ही है। किन्तु भेद के नही मालूम पड़ने से एक चित्रपट श्लिष्ट एकाकार होते हैं। वस्तुओं में चित्ररूप एक ही भासता है उसी प्रकार भिन्न२ कक्षावाले अलंकारों में संघटना के बल से एकता की प्रतीति हो जाती है अत. ठीक ही है कि संसृष्टि एवं संकर; माने हुए अलंकारों से अलग ही एक अलंकार है उसी तरह इक्षु आदि में मिठास के भेद रहने पर भी मिलन होने से प्रपाणक में कोई विलक्षण अतिशय मालूम पड़ता हैं।

उनमें सार्वत्रिक जैसे विभावना और अतिशयोक्ति का हैं। आश्लिष्टाति-शयोक्तिस्तु सर्वत्रैव विभावना। इस सिद्धांत के अनुसार विभावना को सभी जगहों में अतिशयोक्ति की अपेक्षा हैं; और प्रादेशिक जैसे श्लेष एवं अति-शयोक्ति में है। पश्य रक्तेन चन्द्रेण चुम्ब्यते रजनीमुखम् इत्यादि स्थल में कहीं पर श्लेप के साथ भी उसका संभव है। किन्तु ये भेद संकर के विषय नहीं होते हैं। अपने२ कारण के बल पर सत्ता को प्राप्त करनेवाले अलंकारों के संसर्ग में संकर को आगे चलकर कहेंगे।

उपकार्योपकारक भाव रूप अंगागिभाव जैसे "अंगुलीभिरिव केशसंचयम्" यहां अपने२ हेतु के आधार पर सत्ता को प्राप्त करनेवाले उपमादि में परस्पर

उपकार्योपकारक भाव है अतएव अङ्गाङ्गिभाव है। कोई जब अपने स्वरूप में स्थित रहेगा तभी वह दूसरे का उपकार कर सकेगा। अन्यथा स्वरूप में स्थिति के अभाव में उपकारक नहीं हो सकता है। प्रकृत में उपमाओं में स्वरूप निष्पत्ति के लिए परस्पर की उपेक्षा नहीं है। एक के अभाव में भी एक का स्वरूप निखर जाता हैं, और भी है कि इस प्रकार दो उपमाओं को नहीं मानकर उपमा एवं उत्प्रेक्षा दोनों ही भिन्न-भिन्न मानी जा सकती है।

स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया के अनुसार स्थित पदार्थों में यह चिन्ता होती है। जैसे चुम्बन में मुख के ग्रहण करते समय केशों का भी अंगुलियों से बटोरना औचित्य प्राप्त है। अतः उपमा उपस्कारक है उत्प्रेक्षा उपस्कार्या है। फलतः इनमें अङ्गागिभाव बन जाता है। इस प्रकार प्रधानता में उपमा आदि का अपना २ नाम है, और संकरालंकार में अङ्गता के आधार पर अङ्गाङ्गिभाव भी है। आचार्य दण्डी के मतानसार। कस्तान् कात्स्न्र्येन बोधयेत्। पूर्णतया अलंकारों की इयत्ता को कौन बतला सकता है अतः यथाज्ञान प्रायः सभी अलंकारों का सिद्धांत यहां बतला दिया है।

शक्ति निरूपण

अब अलंकारों के बाद शक्तियों का निरूपण क्रम प्राप्त है। पहले कह आये हैं कि "सुखार्थाः सर्वभूतानां प्रवृत्तिः" सुख के लिए सब प्राणियों की चेष्टा होती है। वह सुख, आत्मा रस ये सब पर्याय हैं। उसके विषय में श्रुति ने कहा कि "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इस आत्मा सुख या रस को बल-हीन अर्थात् शक्तिहीन नहीं प्राप्त कर सकता हैं, अतः शक्ति का संचय करना अतीव उपयोगी होने से शक्तियों का निरूपण करते हैं।

सम्पूर्ण प्राणियों की चेष्टा के विषय सुख को प्राप्त करने के साधनों व उपायों का भिन्न-भिन्न निर्देश भिन्न२ आचार्यों ने किया है। किन्तु हमारे यहां साहित्यशास्त्र में सुख को प्राप्त करने का साधन उपाय काव्य है। काव्य शब्दार्थ रूप है। इस शब्द और अर्थ रूप काव्य के ज्ञान से सुख प्राप्त होता है। यहां पहले शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष होने पर उस ज्ञात शब्द से अर्थ की उपस्थिति ज्ञान होता है। इसके बाद शाब्दबोध होता है। इस प्रकार शब्द से होनेवाले शाब्दबोध के लिए अर्थोपस्थिति का कारण शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध है। इसी का नाम शक्ति या वृत्ति है। यह शक्ति तीन प्रकार की है—अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना।

अभिधा

अभिधा के विषय में आचार्यों के भिन्न२ मत हैं। इस विषय में यह बतलाना आवश्यक है कि शक्ति वगैरह के सम्बन्ध में नैयायिक, वैयाकरण, मीमांसक, वेदान्ती एवं साहित्यिक ने अपने२ ग्रन्थों में विचार किया है। हम यहां संक्षेप में पाचों का मत बतला कर साहित्यिक का सिद्धांत बतलाएंगे। शक्तियां भी दो हैं या तीन हैं, इसमें भी मतभेद है।

वैयाकरण अभिधा ही मानते हैं। लक्षणा अभिधा का ही स्वरूप है। यह प्राचीन मत है। नवीन नागेश प्रभृति तो लक्षणा मानने लगे हैं। नैयायिक व्यंजना नहीं मानते। अभिधा एवं लक्षणा दो मानते हैं। वे अभिधा नाम न देकर संकेत पद से व्यवहार करते हैं।

मीमांसक भी अभिधा और लक्षणा दो शक्तियाँ मानते हैं। ये लोग लक्षणा को पद एवं वाक्य में मानते हैं। अन्य लोग जो अभिधा के प्रसार के रुक जाने पर लक्षणा मानते हैं वे लोग वाक्य में अभिधा के नहीं होने से वाक्य में लक्षणा नहीं मानते हैं। क्योंकि अभिधा पद की शक्ति है।

जो तो अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं। उन लोगों का कहना है पदार्थों का संसर्ग ही अन्वय है जो कि वाक्यार्थ है अतः अन्वय के अनुपपन्न होने पर आने वाली लक्षणा वाक्य में भी हो सकती है, होती ही है।

साहित्यिक तीनों मानते हैं। कुछ लोग गौणी अलग हैं, लक्षणा अलग है, ऐसा मानते हैं। किन्तु साहित्यशास्त्र मे लक्षणा एक शक्ति है, उसका अवान्तर भेद गौणी है, ऐसा माना है।

नैयायिक के मत से शक्ति का विचार

सभी को सभी शब्द सुनाई पड़ते हैं किन्तु सब को सर्वदा उन शब्दों से अर्थ का बोध नहीं होता है और वह बोध भी तत्काल नहीं होता है। किन्तु थोड़ी देर से होता है और किसी२ को ही वह बोध होता है। इस लिए कल्पना करते हैं कि इस बोधका कारण है शब्द और अर्थ के सम्बन्ध विशेष के ज्ञान से पदार्थ की उपस्थिति। दूसरे किसी कारण की कल्पना नहीं हो सकती है। अब जिज्ञासा होती है कि उस उपस्थिति का हेतु जो शब्द और अर्थ का

सम्बन्ध है उसका स्वरूप क्या है ? इस पर नैयायिक कहता है कि उस सम्बन्ध का स्वरूप है संकेत। "इस पद से इस अर्थ को समझो" ऐसी या "यह पद इस अर्थ को बतलावें" ऐसी ईश्वर की इच्छा का नाम संकेत है।

यद्यपि इस इच्छा का विषय पद, अर्थ और उनसे होनेवाला बोध अथच बोध और शब्दार्थ में परस्पर में रहनेवाले जन्य जनक भावरूप सम्बन्ध भी हैं अतः निर्णय नहीं हो सकता है कि कौन वाचक है और कौन वाच्य है। तद्यपि बोधजनकतया जो विषय है वह वाचक है और बोधविषयतया जो विषय है वह वाच्य है।

इस पर शंका—इसका नियमक कौन है कि ऐसी ईश्वर की इच्छा ही संकेत हैं, ऐसा ईश्वर का ज्ञान या कृति क्यों न ली जाए ? इसके सिवाय सिद्धान्त भी है कि 'जानाति इच्छति यतते' पहले जानता है तब इच्छा करता है। इसलिए भी ईश्वर की इच्छा ही क्यों ली जाए, प्रत्युत प्रथम प्राप्त ज्ञान को ही लेना उचित और युक्तिसंगत भी है। और भी बाधक कारण है। यदि ईश्वर की इच्छा ही संकेत माना जाएगा तो 'दशमेह्नि पिता नाम कुर्यात्' दशम दिन में पिता पुत्र का नामकरण करे, इस श्रुति के अनुसार नामकरण के लिए उपयोगी आधुनिक इच्छाएँ संकेत नहीं हो सकेंगी।

इसका उत्तर—श्रुति भगवान् का वाक्य हैं। कोई भी वक्ता किसी को कुछ समझाने के लिए वाक्य का प्रयोग करता है। अतः ईश्वर के वाक्य में ईश्वर की इच्छा रहने से आधुनिक नामकरण की इच्छाओं में भी ईश्वरेच्छा मूल है। अतः उपर्युक्त दोनों शंकाएँ निर्मूल हैं। यहाँ का भाव यह है कि जगत व्यवहार प्रधान है। व्यवहार है प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप। यह प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप व्यवहार या तो चेष्टा से हो सकता है या शब्द से। चेष्टा से व्यवहार अधूरा ही होता है, पूर्णता उसमें नहीं आती है। क्योंकि उसमें समझानें की क्षमता नहीं है, अतएव आचार्य दण्डी ने कहा है कि—

> इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
> यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥

यह समस्त त्रिलोकी अन्धकार से व्याप्त हो जाती यदि यह शब्द नाम की ज्योति सृष्टि के पूर्व में प्रकाशित न होती। अतः शब्द ही व्यवहार का प्रधान कारण है। उस शब्द का प्रयोग दूसरे को समझाने के लिए ही होता है।

ईश्वर के ज्ञान को संकेत इसीलिए नहीं कह सकते हैं कि ईश्वर अपने आप जो समझता है वही ईश्वर का ज्ञान हुआ। मेरे इस ज्ञान को मेरी सृष्टि समझें यह ईश्वर की इच्छा होती है। तब सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर शब्द प्रयोग करता है। फलतः ज्ञान को समझाने की इच्छा से शब्द का प्रयोग होता है। अतः शब्द के मूल में इच्छा कारण है, हेतु है और ज्ञान फल है। क्योंकि 'ज्ञाने परिसमाप्यते' ज्ञान में समाप्ति है। उसके बाद कुछ प्राप्तव्य नहीं है। इसीलिए चित् रूप ज्ञानमय ही ब्रह्म है यह कहा जाता है। इसलिए इच्छा ही संकेत है, ज्ञान संकेत नहीं है।

शंका—ईश्वर यह संकेत सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक उच्चारण में करते हैं क्या वह भी प्रत्येक पुरुष के लिए करते हैं और वह भी एक बार या अनेक बार करते हैं। इसमें प्रश्न होता है कि आरम्भ में शब्द पहले है या अर्थ पहले है। क्योंकि दोनों की सृष्टि समकाल में मानना व्यवहार में दिखाई नहीं पड़ता हैं। और ईश्वर जो संकेत को करते हैं वह किसी शब्द से किसी अर्थ के लिए अवश्य करते हैं। तब फिर प्रश्न होता है कि उस शब्द का संकेत किससे किया ? शब्दान्तर से किया कहने पर तो कोई अवधि नहीं होगी। इसलिए अवश्य ही व्यवहार से जिनका सम्बन्ध नहीं हुआ है ऐसे शब्द मानने पड़ेंगे। जब अन्त में व्यवहार ही मुख्य हुआ तो इच्छा को मानने की क्या आवश्यकता है।

पुनः शंका : यदि ईश्वर की इच्छा ही संकेत है तो 'धूम से वह्नि का ज्ञान हो जाए ?' इस तरह सभी जगह शब्द प्रमाण से काम चल जाएगा। तब अनुमान प्रमाण की क्या आवश्यकता है ? लक्षणा की भी क्या आवश्यकता है ? गंगापद से तीर अर्थ का ज्ञान हो जाए ऐसी इच्छारूप संकेत से काम चल जाएगा। इत्यादि आपत्तियाँ इस मत में होती हैं। अनीश्वरवादी को भी शाब्दबोध होता है अतः ईश्वरेच्छा को संकेत मानना कठिन है।

वैयाकरण के मत से शक्ति का विचार

महावैयाकरण नागेश जी कहते हैं कि शब्द और अर्थ में जो सम्बन्ध है जिसका नाम है वाच्यवाचक भाव वह अभिधा शक्ति है। शब्द में वाचकता-रूपा और अर्थ में वाच्यतारूपा जो शक्ति है उसका कारण शब्द और अर्थ का परस्पर में जो शब्द है वह अर्थ है जो अर्थ है वह शब्द हैं इस प्रकार का तादात्म्य है। वह अध्यास ही है। जैसे धूम और वह्नि का स्वाभाविक अविनाभाव रूप व्याप्ति सम्बन्ध है तथापि धूम से वह्नि के ज्ञान के लिए उन

दोनों के लिए भूयः साहचर्येण दर्शन को उस सम्बन्ध का उद्‌बोधक होने से व्याप्तिरूप सम्बन्ध मान लिया है। उसी प्रकार पद में अर्थ बोधकत्वरूप शक्ति स्वाभाविक है। उस शक्ति का उद्‌बोधक यह तादात्म्य है अतः इस तादात्म्य को शक्ति मान लिया गया है तादात्म्य वस्तुतः नहीं है।

क्योंकि शब्द और अर्थ का यदि तादात्म्य होगा तो छुरा बोलने से मुँह चीरा जाना चाहिए। मोदक बालने से मुँह भर कर मीठा हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसके लिए कहते हैं कि भेद वास्तविक है, अभेद आरोपित है। अतः भेद सहिष्णु अभेद ही तादात्म्य है। इसपर कुछ लोग कहते हैं कि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है। सम्बन्धियों से भिन्न हो और उनमें रहता हो उसका नाम सम्बन्ध है। इस तरह सम्बन्धि भेद नियत ही सम्बन्ध होता है। अतः अभेद सम्बन्ध बन नहीं सकता है। तब इस तरह आपकी यह शक्ति केवल कल्पना मात्र ही है, ऐसी आपत्तियाँ वैयाकरणों के मत में हो जाती हैं।

मीमांसक के मत से शक्ति का विचार

मीमांसक का मत है कि कारण में कार्य जननानुकूला शक्ति रहती है और वह शक्ति पदार्थान्तर है। यह शक्ति तीन प्रकार की है—सहजा, आधेया और पदगा। जैसे वह्नि में दाहानुकूला शक्ति है प्रकाशक में प्रकाशनानुकूला शक्ति है, वह सहजा है।

वसन्त पंचमी के समय खेत में हल चला देने से उसमें उत्तम सस्यों के उत्पादन की शक्ति आ जाती है, यह शक्ति खेत में लाई जाती है, अतः आधेय है।

घट पद में घटत्व विषयक शब्द बोध के जनन के अनुकूल शक्ति है, अतः इसको पदगा शक्ति कहते हैं। जैसा कि कहा है कि "व्युत्पन्नस्य हि बुद्धिजन्म सहसा वाक्यश्रुतौ जायते"। व्युत्पन्न अर्थात् पद एवं पदार्थ के सम्बन्ध को जानने वाले व्यक्ति को वाक्य के सुनने पर सहसा अर्थ का ज्ञान हो जाता है, यहाँ का आशय यह है कि वेद अनादि हैं अतः अपौरुषेय हैं। पुरुष द्वारा वेद का निर्माण नहीं होने से शब्द में उसकी इच्छा होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। इसलिए शब्द निष्ठ सामर्थ्य ही तात्पर्य है। अतः अभिधा, शक्ति, सामर्थ्य या तात्पर्य सब पर्याय हैं।

वेदान्तियों के मत में शक्ति

पदों की अर्थों में मुख्या वृत्ति शक्ति है। यह पदार्थान्तर है। कारण में कार्यजननानुकूला शक्ति मात्र पदार्थान्तर है। पदनिष्ठा शक्ति एक भिन्न

पदार्थ है, इसके विषय में प्रमाण है अनुमान। जैसे वह्नि में दाहानुकूला शक्ति है। यह दाहरूप कार्य से अनुमेय है वैसे ही पदों से होने वाले पदार्थ ज्ञान रूप कार्य से पदों में शक्ति का अनुमान होता है। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, शक्तय: सर्वभावानामचिन्त्या ज्ञानगोचरा इत्यादि श्रुति एवं स्मृतियां इसमें प्रमाण हैं। अन्य शक्तियां स्वरूप सती कार्य करती है। पद की शक्ति ज्ञात होकर ही अर्थ का बोध करती है। इन दोनों मतों में लक्षणा मानने का क्या आधार होगा जबकि पदों में पदार्थ बोधनानुकूला शक्ति मानने से सभी का वाच्य एवं लक्ष्य अर्थो का बोध हो ही जाएगा।

साहित्यिक के मत से सिद्धान्तभूत अभिधा का निरूपण

साहित्य शास्त्र में अभिधादि शक्तियों का निरूपण मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित एवं पंडितराज आदि ने किया है। जिनमें मम्मट का लक्षण साक्षात्सकेतित अर्थ की उपस्थिति का जनक जो शब्द का स्वाभाविक व्यापार है, वह अभिधा है। संकेत पद का अर्थ है समय अर्थात् इस शब्द का यह वाच्य है, इस अर्थ का यह वाचक है। ऐसा शक्ति ग्राहक प्रमाण। यहां समय या सकेत का अर्थ ज्ञान नही है क्योंकि ज्ञान आत्मा में रहता है, शब्द और अर्थ में नही रहता है। अत: ज्ञान समय नहीं बन सकता है। विश्वनाथ मम्मटानुयायी है।

अप्पय दीक्षित का 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा' यह लक्षण संदिग्ध है। क्योंकि अर्थ का प्रतिपादक शक्त्यभिन्न व्यापार अभिधा है ऐसा अर्थ करने पर तो लक्षण की संगति होती है। परन्तु आगे चलकर जो वे लिखते हैं कि "सा त्रिधा रूढ़िरित्यादि: अखण्डशक्ति मात्रेण एकार्थप्रतिपादकत्वं रूढ़ि:"। वह अभिधा तीन प्रकार ही है, रूढ़ि आदि भेद से। जिसमें केवल अखंड शक्ति से एकार्थ की प्रतिपादिका हो वह रूढ़ि है। इससे शक्ति पद में तृतीया का अर्थ हेतु है ऐसा मालूम पड़ता है। क्योंकि आगे के निरूपण में "अवयव शक्ति सापेक्ष" इत्यादि रूप से सापेक्ष पद का प्रयोग किया है जिससे आत्माश्रय दोष हो जाता है। शक्ति और अभिधा पर्याय शब्द है अत: अभिधा से प्रतिपादन करनेवाला व्यापार अभिधा है। "धान्येन धनवान्" में जैसे तृतीया का अर्थ अभेद है (धान्यरूप धन वाला है), उस तरह शक्त्या पद में तृतीया अभेदार्थक नही मालूम होती है। अत: यह लक्षण संदिग्ध है।

प्रदीपकार के वाचक लक्षण की व्याख्या की समीक्षा

प्रदीपकार ने "साक्षात्संकेतितमर्थमभिधत्ते स वाचकः" इस कारिका की व्याख्या में लिखा है कि न च साक्षात्संकेतितवान् वाचक इत्येतावतैव सुस्थत्वे अभिधत्ते इत्यस्य वैयर्थ्यम "जो साक्षात्संकेत विषयीभूत अर्थ वाला हो वह वाचक है" इतने से ही काम चल जायगा तब अभिधत्ते कहने की क्या आवश्यकता है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि नाना अर्थों वाला एक शब्द है वह जब अपनी शक्ति के द्वारा नाना अर्थों को उपस्थित करने लगता है उस समय संयोगादि नियामक एक अर्थ में उसकी अभिधा नामक शक्ति का नियमन करते हैं। तब नाना अर्थों में से वह शब्द एक ही अर्थ का प्रतिपादन करता है किन्तु अन्य अर्थ भी तो उसी से मालूम पड़ते हैं। उस अवस्था में वह शब्द साक्षात्संकेत रखता है अतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो गयी। अर्थात् उसको अन्य अर्थ का व्यंजक न कह कर वाचक ही कहना होगा। अतः दोष हटाने के लिए अभिधत्ते कहा।

इसका हृदय यह है कि अभिधत्ते कहने से जो अभिधा शक्ति का विषय हो वही संकेतित होता है। अतः यह अर्थ हुआ कि जो शब्द साक्षात् संकेत विषयीभूत अर्थ को अभिधा से कहता है वह शब्द वाचक है और उसी अर्थ को व्यंजना से कहता है तब वह शब्द व्यंजक होता है। दोष हट गया। अब इसके बाद तथापि अतिव्याप्ति हो जायगी ऐसा लिखना और वस्तुतस्तु कह कर व्याख्यान्तर करना सब का प्रयोजन है?

औरों ने भी वाचक शब्द की व्याख्या ऐसी ही लिखी है जैसे शक्तिवाद में ईश्वर संकेतः शक्तिः तया नार्थबोधकं पदं वाचकम् ईश्वर संकेत शक्ति है। उससे अर्थ बोध करनेवाला पद वाचक है।

पंडितराजीय अभिधा शक्ति के स्वरूप की समीक्षा

अर्थ का शब्द में रहनेवाला, शब्द का अर्थ में रहनेवाला शक्तिनामक सम्बन्ध विशेष अभिधा है इसपर प्रश्न होता है कि "शक्य सम्बन्धो लक्षणा" शक्ति के विषयीभूत अर्थ का सम्बन्ध लक्षणा है। इस तरह अभिधा भी सम्बन्ध रूप है और लक्षणा भी सम्बन्धरूप है। तब दोनों का भेद कैसे होगा? अगर कहें कि अभि[illegible] शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध है तथा लक्षणा (गंगा पद की) [illegible]य (प्रवाह) अर्थ का (तीर) अर्थ के साथ सम्बन्ध है। अतः प्रतियोगी

अनुयोगी सम्बन्धियों के भेद से दोनों भिन्न हैं। तब भी दोष हैं। लक्षणा एवं शब्द निष्ठा शक्ति मानी गयी है। उक्त रीति से लक्षणा को अर्थों मे परस्पर सम्बन्धरूप मानेगे तो लक्षणा शब्द व्यापार नहीं रहेगी। माने इस तरह लक्षणा शब्द शक्ति नहीं रहेगी। यह दोष लक्षणा में रहेगा। किन्तु अभिधा और लक्षणा दोनों शब्द-निष्ठ हैं और भिन्न-भिन्न हैं।

इस पर पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि वह सम्बन्ध संयोग है या समवाय है ? यह प्रत्यक्ष से मालूम नहीं पड़ता है और न अनुमान से मालूम पड़ता है। क्योंकि जहाँ भूमि में घड़ा है वहाँ घट शब्द के कारण, स्थान, करण और प्रयत्नों का होना असम्भव है। क्योंकि जहाँ मुख में घट शब्द है वहां अर्थ घट के कारण मृदादि नहीं है। नियम है कार्य साध्य के अधिकरण में हेतु को रहना चाहिए। अतः प्रत्यक्ष एवं अनुमान गम्य भी वह सम्बन्ध नहीं है। शब्द से अर्थ पैदा नहीं होता है अतः कार्यकारण भाव या निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बन्ध भी नहीं है। आश्रयाश्रयीभाव भी नहीं है। शब्द अर्थ का आश्रय नहीं है। अविनाभाव सम्बन्ध भी नहीं है। क्योंकि उस सम्बन्ध के मानने पर शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव करना पड़ेगा। पंडितराज ने शब्द को अनुमान से पृथक् माना है। प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध मानने पर अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजनाओं का भेदक क्या ? वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया है। वह इष्ट होता तो स्पष्ट ही लिखते। तस्मात् पंडित-राज की अभिधा का लक्षण सुस्पष्ट नहीं है। यदि कहें कि जब अन्य सम्बन्ध नहीं बन पाते तब परिशेषात् वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध ही प्राप्त होता है। अस्तु। किन्तु इस तरह का अस्पष्ट लेख प्रामाणिक कैसे माना जायगा ?

अभिधा के भेद

वह अभिधा चार प्रकार की है—१—रूढ़ि, यौगिकी, योगरूढ़ि और यौगिकरूढ़ि। यद्यपि जयदेव, दीक्षित एवं पंडितराज वगैरह ने तीन भेद लिखे हैं किन्तु अश्वगन्धादि पदों की शक्ति का संग्रह करने के लिए चतुर्थ भेद भी मानना आवश्यक है। क्योंकि इन रूढ़यादि शक्तियों से अर्थों का प्रतिपादन करने वाले शब्द चार प्रकार के हैं—रूढ़, यौगिक, योगरूढ़ एवं यौगिकरूढ़। केवल समुदायशक्तिक रूढ़, केवलावयवशक्तिक यौगिक, समुदायावयवशक्ति संकर योगरूढ़ अर्थात् रूढ़ एवं योग दोनों शक्तियों के द्वारा मिल कर अर्थ का प्रति-पादक शब्द योगरूढ़ और परस्पर उदासीन समुदायावयवशक्ति संकर अर्थात्

रूढ़ि एवं योग के द्वारा स्वतन्त्र २ रूप से अर्थ का प्रतिपादक शब्द यौगिकरूढ़ कहाता है। क्रमशः उदाहरण देते हैं।

रूढ़ का दूसरा नाम संज्ञा है, इसके चार भेद हैं। जाति से जिसका संकेत होता है वह नैमित्तिकी१ जैसे गौ प्रभृति। उपाधि से जिसका संकेत होता है औपाधिकी२ जैसे समाचार ही ले जाने वाला दूत। यहाँ समाचार कर्म है और ले जाना क्रिया है। दो खण्डों के हो जाने से सखण्डोपाधि है। प्रतियोगित्व अनुयोगित्व आदि अखण्डोपाधि है। इनका खण्ड अर्थात् निर्वचन नहीं होता है। लोक व्यवहारोपयोगिनी आधुनिकी३ देवदत्त, चैत्र, मैत्रादि तथा तत्तच्छास्त्रीय व्यवहारोपयोगिनी घि घु टि आदि परिभाषिकी संज्ञा।

गुण से जिसका संकेत होता है वह गुणवाचक शब्द है, जैसे शुक्ल, नील आदि। यौगिक दो प्रकारका है, एक प्रकृति एवं प्रत्यय के योग से बना हुआ जैसे पाचक, पाठक आदि। दूसरा पद का पद से योग होने पर बना हुआ जैसे त्रिगुण आदि निखिल समस्त पद। योगरूढ़ जैसे पंकज, इस तरह के पदों में आकांक्षादि के द्वारा योग से भी रूढ़ि प्राप्त अर्थ का और रूढ़ि से भी योग प्राप्त अर्थ का ही बोध होता है। उससे विरुद्ध अर्थ का बोध नहीं होता है। अतः पंक से पैदा होनेवाला कमल पंकज पद का अर्थ है। "पंकजं कुमुदम्" ऐसे स्थलों में तो लक्षणा के ही द्वारा कुमुद का बोध होता है।

मीमांसक का मत इस विषय में ऐसा है। वे कहते हैं कि योगरूढ़ पद में जो अर्थ रूढ़ि से उपस्थित होता है यदि उससे भिन्न अर्थ योग से उपस्थित होता हो तब "योग से रूढ़ि बलवती है" यह न्याय प्रयुक्त होता है। किन्तु जहाँ तो रूढ़ि का स्मरण नहीं होता है, केवल योग ही अर्थोपस्थापक होता है। वहां पंकज पद में योग के द्वारा ही कुमुद की उपस्थिति हो जाती है। इसी तरह जहां योग का स्मरण नहीं हुआ वहां रूढ़ि से ही पद्म का बोध हो जाता है। लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है। तत्वचिन्तामणिकार गंगेशोपाध्याय का मत है कि "जिसकी प्रतीति के बाद जिसकी प्रतीति नियम से होती है वह उसका अर्थ है"। फलतः "पंकजं" पद के सुनने के बाद नियम से रूढ़ि के द्वारा पद्म ही उपस्थित होता है और कर्तृवाचक "ड" प्रत्यय से भी पंक से पैदा होनेवाले के रूप में पद्म ही उपस्थित होता है। क्योंकि नियम है कि अगर कोई बाधक नहीं हो तो किसी व्यक्ति विशेष को कहने के लिए आए हुए शब्द प्रथमोपस्थित व्यक्ति को ही कहेंगे, अन्य को नहीं। इस लिए पंकज शब्द से कुमुद का बोध नहीं होगा।

यौगिक रूढ़

उद्भिद पेड को भी कहते हैं और "उद्भिदा यजेत" इस श्रुति के अनुसार याग को भी कहते हैं। "अश्वगन्धा के रस को पीओ" यहां असगन्ध एक औषधि को लेते हैं। अश्व का गन्ध जहां मलूम पड़ता हो वह अश्वगन्धा घुडसाल कहलाती है। इस तरह योग से जहां दूसरा अर्थ और रूढ़ि से दूसरा अर्थ लिया जाता है ऐसे अश्वगन्धा, अश्वकर्ण हयपुच्छा (हय के समान पुच्छ वाली और मापपर्णी औषधि), तपस्विनी (तप करनेवाली स्त्री और जटामांसी औषधि), निशान्त (गृह और प्रातःकाल), कुवलय (कमल और पृथ्वी मण्डल) आदि शब्द इसके उदाहरण हैं।

इसके विषय में यह भी मत है कि चार भेदों की कोई आवश्यकता नहीं है। समासों में पदों का कृत्, तद्धित, सुप् और तिङ् एवं प्रकृति प्रत्ययों का विभाग काल्पनिक है अतः कहीं भी योगशक्ति नहीं है किन्तु विशिष्ट अर्थ में शब्द की शक्ति है अतः ये सभी भेद रूढ़ि के ही हैं।

और भी एक मत है। पाचक का पाक करनेवाला रसोइया, मनुष्य अर्थ है और पाचक औषध को भी कहते हैं। सगर (सागर स्यापत्यम) सगर राजा का लड़का अर्थ है और सगर के पुत्रों के द्वारा खोदा गया समुद्र भी अर्थ है, अश्वगन्धा घोड़े की गन्ध जहाँ जाती है वह घुड़साल एवं असगन्ध औषध, इस तरह क्रमशः यौगिक, योगरूढ़ एवं यौगिकरूढ़ ये सब वाक्य हैं। इनको पद कहना संगत नहीं है। अखण्ड अर्थ है और अखण्ड शब्द वाचक है। इस लिए एक रूढ़ ही शब्द है, उसके जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा ये चार [illegible] हैं।

[illegible] मत है सभी शब्द यौगिक हैं "नाम च धातुज माहुः निरुक्ताः" सभी [illegible] से बने हैं ऐसा निरुक्तकार का मत है। इस लिए रूढ़ वगैरह चार [illegible]-कल्पना है। "गमेर्डोः", "दाभाभ्यां नु", "धेट इच्च" इत्यादि [illegible] से केवल गौ, दानु भानु, धेनु प्रभृति शब्दों की साधुता बोधन के [illegible] प्रत्यय का निर्देश है। उनमें प्रकृति एवं प्रत्यय का कोई अर्थ [illegible]च्छतीति गौः जो चले वह गौ ऐसा अर्थ मानने पर गौः [illegible]ऐसा अर्थ नहीं हो सकेगा इत्यादि शंकाएँ निर्मूल हैं।

[illegible] के कई प्रकार से भेद करते हैं। जैसे पूर्वपदपरिवृत्तिसह, [illegible] उभयपदपरिवृत्तिसह, उभयपदपरिवृत्यसह। पहले यौगिक

दो प्रकार का हैं—सिद्ध एवं साध्य । सिद्ध के उदाहरण वसुदेव, बलदेव वगैरह हैं । साध्य के उपरिनिर्दिष्ट चार भेद हैं ।

इस तरह शब्द एवं उसकी अभिधा शक्ति का मतभेद से निरूपण सम्पन्न हुआ । अब वह शब्द अभिधाशक्ति के द्वारा किस अर्थ का बोधन करता है अथवा किस अर्थ में शब्द की शक्ति है इसका निरूपण करते हैं ।

शब्द का संकेत विषयीभूत अर्थ

किस अर्थ में शब्द की शक्ति है इसका ज्ञान व्याकरणादि आठ संकेतों के अधीन है । जैसा कि कहा है (शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानेत्यादि) । यहाँ ग्रह पद का अर्थ ज्ञान है । वृद्ध लोग कहते हैं कि इस शब्द की अमुक अर्थ में शक्ति है, इसका ज्ञान व्याकरणादि आठों से होता है । इन व्याकरणादि आठों की संकेत या समय संज्ञा है ।

यह संकेत १–व्यक्ति में, या २–व्यक्ति की उपाधि जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा में, ३–या जाति में, या ४–जाति विशिष्ट व्यक्ति में, ५–या व्यक्ति, जाति एवं उसकी विशिष्टता अर्थात् सम्बन्ध में, ६–या व्यक्ति एवं जाति दोनों में, ७–या अन्वित में, ८–या इतरान्वित में, ९–या कार्यान्वित में, १०–या अपोह में, इस तरह मानने वाले आचार्यों के १० मत हैं ।

व्यक्तिशक्तिवाद (प्रथम मत)

व्यक्ति में संकेत माननेवालों का कहना पांच प्रकार का है । १–जिसके सुनने पर जिसकी नियमेन प्रतीति होती है वह उस (शब्द) का अर्थ होता है जैसे गौ को बान्ध दो, अश्व को ले आवो, इन वाक्यों के सुनने पर गौ व्यक्ति ही का बान्धना और अश्व व्यक्ति का ही लाना नियम से प्रतीत होता है अतः व्यक्ति ही में संकेत हैं ।

२—किसी भी प्रयोजन के लिए कोई कुछ करता है वह करनेवाला व्यक्ति ही है जाति नहीं । अतः व्यक्ति में संकेत है । यह अर्थ क्रिया कारिता व्यक्ति में है, न कि जाति में ।

३—ऐसा करो, ऐसा मत करो इस तरह के वाक्यों से प्रवृत्ति या निवृत्ति व्यक्ति ही की है न कि जाति की । अतः व्यक्ति में संकेत है ।

४—शक्तिग्राहक प्रमाणों में मुख्य प्रमाण व्यवहार है। उस व्यवहार से व्यक्ति में संकेत मालूम होता है जैसे एक उत्तम वृद्ध ने मध्यम वृद्ध से कहा कि "घड़ा लाओ" तब मध्यम वृद्ध घड़े को ले आया। उस कहने और लाने को एक अबोध बालक ने अपनी आँखों के सामने होता हुआ पाया, तब उस बालक ने इस शब्द का यह घड़ा (व्यक्ति) अर्थ है ऐसा ही समझा अतः व्यक्ति में ही संकेत है।

५—"गंगायां घोषः" इत्यादि लक्षणा के उदाहरणों में यद्यपि लक्ष्यतावच्छेदक तीरत्वादि में लक्षणा नहीं है, तीर में लक्षणा है तद्यपि लक्ष्यतावच्छेदक तीरत्वप्रकारक लक्ष्य तीर विशेष्यक बोध होता है। यहाँ का आशय है कि शक्य सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। गंगापद का शक्य प्रवाह है उसका सम्बन्ध संयोग तीर में है। यह तीर विशेष्य है और तीरत्व विशेषण है। इस विशेष्य तीरगत सम्बन्ध ज्ञान, तीरत्व प्रकारक तीर विशेष्यक शब्दबोध का कारण है। किन्तु लक्षणा से तीर मात्र की उपस्थिति हुई, तीरत्व की नहीं हुई है। तथापि तीरत्व का भान शाब्द बोध में होता है। उसी प्रकार शक्यतावच्छेदक घटत्व में शक्ति न होने पर भी घटत्वप्रकारक घट विशेष्यक बोध सम्भव है। अतः व्यक्ति में ही संकेत है।

व्यक्ति की उपाधि, जाति, गुण, क्रिया एवं संज्ञा (द्रव्य) में शक्तिवाद (द्वितीय मत)

व्यक्ति की उपाधियों में शक्ति माननेवालों का कहना है कि शब्द के सुनने के बाद अर्थ का ज्ञान होता है अतः शब्द अर्थ का हेतु है। यह आपका कहना ठीक है किन्तु शब्द, अर्थ का कारक अर्थात् पैदा करनेवाला हेतु नहीं है क्योंकि शब्द अर्थ का प्रकाश करता है अतः ज्ञापक हेतु है, और वह शब्द ज्ञापक भी अज्ञात होकर नहीं बनता है, किन्तु ज्ञात होकर ही। इसमें भी शब्द का स्वरूपमात्र से ज्ञान होना कुछ फलप्रद नहीं होता। क्योंकि स्वरूपमात्र के ज्ञान होने पर यदि शब्द अर्थ को बतलाने लगे तो मूर्ख एवं पंडित का कोई भेद ही नहीं रहेगा। अर्थात् सबको सब काल में शब्द सुनते ही अर्थ का ज्ञान होने लगेगा। इसके सिवाय प्रत्यक्ष से भिन्न सभी अनुमान वगैरह प्रमाण ज्ञात ही अर्थ के बोधक होते हैं, यह नियम भी भग्न हो जाएगा। फलतः इस शब्द से इस अर्थ का बोध होता है अथवा इस अर्थ का प्रकाशक यह शब्द है, यह जानना आवश्यक है। इसे जानने का साधन है संकेत।

अब प्रश्न उठता है कि यह संकेत जिस अर्थ में होता है वह अर्थ कौन, क्या व्यक्ति है ? यदि कहें कि हाँ वह अर्थ व्यक्ति है तब शंका होती है कि जितनी व्यक्तियाँ हैं उन सब में संकेत करेंगे या किसी एक व्यक्ति में ? सब में संकेत करने का फल होगा नाना व्यक्तियों में नाना शक्ति। तब तो अनन्त कार्यकारण भाव की कल्पना करनी पड़ेगी। अर्थात् अनन्त उपस्थिति और अनन्त शाब्द बोध करने होंगे। यह तो कार्यकारण भावगत आनन्त्य नामक दोष है। यदि कहें कि परिस्थिति ही ऐसी है, फलप्राप्ति के लिए सभी कुछ करना पड़ता है अतः उस कल्पना में आनन्त्य होना दोषघायक नहीं है। तब कहते हैं कि सब व्यक्तियों में संकेत करना असम्भव है क्योंकि तब तो सब व्यक्तियों का एक काल में उपस्थित होना सम्भव नहीं है। प्रत्युत प्रतिदिन नई-नई उत्पन्न होनेवाली व्यक्तियों का एक काल में उपस्थित होना और भी असम्भव है। अतः व्यक्ति संकेत पथ ठीक नहीं है।

इस पर कहते हैं कि असम्भव रूप दोष को वारण करने के लिए सब व्यक्तियों में संकेत न करके चक्षुः सन्निकृष्ट दृष्ट तत्तद् व्यक्तियों में संकेत करेंगे। तब इस पर आपत्ति होती है कि यदि दृष्ट व्यक्ति में संकेत करेंगे तो प्रातःकाल काशी में रहनेवाले को सायंकाल प्रयाग में गौ है, रात्रि में कलकत्ते में गौ है, इन वाक्यों से अदृष्ट गौ का शाब्द बोध नहीं होगा क्योंकि अदृष्ट गौ में संकेत नहीं होने से गौ शब्द से गौरूप अर्थ की उपस्थिति नहीं हुई है। इसके उत्तर में कहते हैं देशांतरीय एवं कालान्तरीय सब व्यक्तियों की उपस्थिति के लिए प्रत्यासत्ति नामक "सामान्य लक्षण" एक अलौकिक संन्निकर्ष सम्बन्ध नैयायिकों ने माना है। उस सम्बन्ध के द्वारा भिन्न कालिक भिन्न देशिक सब व्यक्तियों की उपस्थिति हो जाती है। क्योंकि नियम है कि सामान्य लक्षणा से जब ज्ञान करना है तब किसी घट धर्मी में किसी घट व्यक्ति में उसके सामान्य घटत्व का ज्ञान अपेक्षित है। उसके बाद उस सामान्य घटत्व के द्वारा यावद् घटों की उपस्थिति हो जाती है। फलतः प्रातःकाल काशी में रहनेवाले को प्रयागस्थ सायंकालिक गौ का शाब्द बोध हो जाएगा, अतः व्यक्ति संकेत पक्ष ठीक है।

इस पर पुनः कहते हैं कि सामान्यलक्षणा को प्रत्यासत्ति अर्थात् सम्बन्ध ही नहीं मानते हैं। तब कैसे चक्षुः सन्निकृष्ट दृष्ट गौ व्यक्ति में संकेत करके देशान्तरीय एवं कालान्तरीय असंकेतित गौ व्यक्तियों का बोध होगा। अतः प्रति व्यक्ति में संकेत करने से अनन्त उपस्थिति तथा अनन्त शाब्दबोध रूप

अनन्त कार्यकारण भावों की कल्पना करनी पड़ेगी, यह गौरवरूप दोष होगा। इस लिए व्यक्ति संकेत पक्ष ठीक नहीं है।

किसी व्यक्ति में संकेत करेंगे तब जिन गौ व्यक्तियों में संकेत नहीं हुआ है उनका बोध कैसे होगा, अर्थात् उसको गौ नहीं कहा जायगा। अगर असंकेतित गौ व्यक्ति का बोध मानते है तो संकेतित का ही बोध होता है। असंकेतित का नहीं, यह नियम भग्न हो जाएगा, और जैसे असंकेतित गौ व्यक्ति का गो पद से बोध होने पर असंकेतितत्वरूप समानता के कारण अश्व का भी गोपद से बोध होने लगेगा, यह व्यभिचार रूप दोष होगा। अतः व्यक्ति संकेत पथ ठीक नहीं है।

और भी दोष है। व्यक्ति में संकेत करने पर सभी जगह व्यक्ति, यह व्यवहार होगा, यह जाति है, यह गुण है, यह क्रिया है, यह संज्ञा है इस रूप से पदार्थों में विभाग नहीं होगा अर्थात् भेद नहीं होगा। फलतः ये चारो शब्द पर्याय हो जाएंगे। इससे यह दोष होगा कि डित्थ नामक शुक्ल गौ चलती है, यह सहप्रयोग नहीं होगा। अतः व्यक्ति संकेत पक्ष ठीक नहीं है।

"सह-प्रयोग नहीं होगा" इस दोष को देने का यह भाव है कि जिस अर्थ को एक पद बतलाता है उसी अर्थ को यदि दूसरा पद भी बतलाए तो वे दोनों पद पर्याय (वाचक) कहलाते हैं। यह बात दो पदों में ही सीमित नहीं है। जितने पर्याय वाचक पद होंगे उन सब में यह स्थिति है। उदाहरण जैसे घट, कलश। पृथुबुध्नोदर कम्बुग्रीवादि प्रति व्यक्ति रूप अर्थ को जो घट कहता है वैसे ही कलश भी कहता है, अतः दोनों पर्याय हैं। उसी तरह व्यक्ति में संकेत करने पर गो शब्द का अर्थ गौ व्यक्ति, शुक्ल गुण पद का अर्थ गौ व्यक्ति, चलना क्रिया पद का अर्थ गौ व्यक्ति, डित्थ संज्ञा शब्द का अर्थ गौ व्यक्ति, अतः तद्बोध्य व्यक्ति मात्र बोधकत्व होने से वे शब्द पर्याय होंगे। फलतः इनका सहप्रयोग नहीं होगा। वस्तुतस्तु यह दोष नहीं भी हो सकता है, जब कि इन पदों का घट कलश की तरह उसी सामान्य व्यक्ति का बोध होता हो। किन्तु जब विशेष व्यक्तियों का बोध होता हो तब यहाँ दोष नहीं होता है। अतः यहां उस जाति वाले, गुण वाले, उस क्रिया वाले, भिन्न-भिन्न संज्ञा वाले विशेष व्यक्ति को बतलाने के कारण पर्यायत्व नहीं हुआ, अतः सहप्रयोग हो सकता है, दोष नहीं है।

व्यक्ति की उपाधि में शक्ति माननेवालों के मत का निष्कर्ष

शब्द का स्वभाव है कि यत्किंचिद् धर्म का पुरस्कार करके अर्थात् किसी धर्म को बतलाता हुआ ही शब्द अर्थ का बोध कराता है। इसी लिए "नवा-

गच्छति तत्र", "यतो वाचा निवर्तन्ते" इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म के विषय में संगत होती है क्योंकि ब्रह्म निर्धर्म हैं, ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है और शब्द अर्थ का प्रतिपादन करता है किसी धर्म के द्वारा ही, फलत: उस ब्रह्म में वाणी नही जाती, वाणी वहाँ से लौट आती है। अर्थात् ब्रह्म के धर्म रहित होने से धर्म द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करने का स्वभाव वाला शब्द उस ब्रह्म का प्रतिपाद नहीं कर सकता। अस्तु। जिस धर्म को द्वार बनाकर शब्द अर्थ का प्रतिपादन करता है वह उपाधि कहलाता है। वे उपाधियाँ चार है—जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा। इसी भाव को लेकर महाभाष्यकार ने कहा कि चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः।

जिनमें जाति रूप उपाधि, प्राणप्रद कहलाती है क्योंकि कोई भी पदार्थ जाति के द्वारा ही स्वरूप प्राप्त करता है, जाति के बिना उसको स्वरूप प्राप्ति नहीं। जैसा कि भार्तृहरि ने कहा है "न हि स्वरूपेण गौः नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धातु गौः' गल सास्नादि वाला कोई भी धर्मी अपने रूप से अर्थात् गोत्व के बिना केवल धर्मी के आकार से गौ नहीं है, और न गौ से पृथक् है। गोत्व के जाने बिना यह गौ है, यह भी नहीं कह सकते और यह गौ नहीं है यह भी नही कह सकते। क्योंकि अभाव के जानने के लिए प्रतियोगी का जानना आवश्यक है। जब गौ को ही नहीं जाना तब गौ नहीं है, कैसे कह सकता हैं? जब गोत्व वाला यह है ऐसा ज्ञान हुआ, तब गौ का गोशब्द से व्यवहार हुआ।

उसके बाद जब व्यक्ति अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तब उसमें विलक्षणता का आधान करना गुण का काम है। इस तरह सिद्ध धर्मों से युक्त हुआ व्यक्ति साध्य धर्म क्रिया का आश्रय होता है। इसी व्यक्ति की डित्थ, डवित्थ, चैत्र, मैत्रादि संज्ञाएँ हैं।

यहां इतना बतला देना आवश्यक है कि जैसे अनन्त गौ व्यक्तियों में गोत्व जाति एक रूप है उसी तरह गुण और क्रिया भी एक रूप ही है। वस्तुत: मुख एक ही वस्तु है किन्तु मणि में गोलाकार, मुकुर में प्रकृतिस्थ, खड्ग में लम्बा, तेल में चिकना मालूम होता है। यह भिन्नता प्रतीति केवल आधार भेद से होती है, वास्तविक नहीं है।

अवान्तर प्रश्न एवं उत्तर

परमाणु क्या है? जाति शब्द है या गुण शब्द है या और कुछ है? परमाणु द्रव्य शब्द है। न जाति शब्द है और न गुण शब्द है क्योंकि परमाणुत्व

जाति नहीं हैं। अगर इसको जाति मानें तो कौन जाति ? जातियाँ दो है— एक पर जाति, दूसरी अपर जाति। यदि परमाणुत्व पर है तब कहना पड़ेगा कि पार्थिवत्व या तैजसत्व या जलीयत्व, इनमें से कोई एक अपर कहलाएगी। इस अवस्था में परमाणुत्व के पर मानने और पार्थिवत्वादि के अपर मानने पर सम्पूर्ण पृथ्वी या जल या तेज परमाणु रूप हो जाएँगे और पार्थिवत्वादि को पर माना जाए तथा परमाणुत्व को अपर माना जाए तो सम्पूर्ण परमाणु या तो पार्थिव ही कहलाएँगे या जलीय ही या तैजस ही कहलाएँगे। अपर के अपेक्षा पर व्यापक होता है। उसी पर के नाम से व्यवहार होगा, फलतः परमाणुत्व और पार्थिवत्वादि में कौन पर है और कौन अपर है यह परस्पर व्यवहार नहीं बनेगा।

परमाणु गुण भी नही है क्योंकि गुण कार्य हैं और उसका समवायी कारण द्रव्य है। कारण पहले होता हैं और कार्य पीछे होता है। किन्तु परमाणु तथा परमाणुत्व नित्य हैं। इनमें पूर्वापरीभाव नहीं बन सकता फलतः स्वरूप प्राप्त वस्तु में विलक्षणता को ला देने वाला गुण होता है यह लक्षण परमाणु में नहीं गया, अतः गुण भी नहीं है। केवल अणु महद् ह्रस्व एवं दीर्घ परिमाण के भेद मानकर गुणों में परमाणु का पाठ कर लिया है। अतः परमाणु को पारिभाषिक गुण नैयायिकों ने कहा हैं।

वक्ता अपनी इच्छा से किसी व्यक्ति में किसी शब्द का जो संकेत करता है वह शब्द उपाधिरूप है, वही यदृच्छात्मक शब्द है। वह स्फोट रूप है। क्योंकि प्रथम वर्ण की प्रतीति से कुछ प्रकाशित और अन्तिम वर्ण के ज्ञान से स्पष्ट प्रकाशित, किन्तु वर्ण क्रम के ज्ञान से शून्य यह शब्दस्वरूप ही स्फोट नाम से व्यवहृत है। इसमें यह आचार्य का उल्लेख प्रमाण हैं—विद्वानों में व्याहृप से विद्वान् वैयाकरण है। क्योंकि सभी विद्याओं के मूल में शब्द है और शब्द को बतलानेवाला शास्त्र व्यकरण है। अस्तु। वैयाकरण मानते हैं कि प्रत्येक वर्ण या वर्ण समुदाय अर्थ को बतलाता है यह विकल्प बन नहीं सकता है। क्योंकि उपपत्ति नहीं हो पाती है। इसलिए वर्ण से अर्थ क ज्ञान नहीं होता है फलतः वर्ण शब्द नहीं है किन्तु जिससे अर्थ की प्रतीति स्फुट होती है वह स्फोट शब्द है।

प्रश्न=यदि स्फोट ही शब्द है तब वर्णों का उच्चारण करना व्यर्थ है। उत्तर। नही। अनभिव्यक्त स्फोट अर्थ का ज्ञापक नहीं हो सकता। वर्ण से ही स्फोट अभिव्यक्त होता है। वर्ण के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतः वर्णोच्चारण व्यर्थ नहीं हैं। पुनः प्रश्न=उस स्फोट की अभिव्यक्ति

प्रथम ही वर्ण से हो सकती है तब उत्तर के सब वर्ण व्यर्थ हैं। उत्तर। नहीं। उत्तरवर्णोचारण व्यर्थ नहीं है। क्योंकि पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से जनित जो अखिल वर्णों का संस्कार है उस संस्कार सहकृत अन्त्यवर्ण का अनुभव स्फोट के अभिव्यंजन में हेतु है। इसी अभिप्राय से मम्मटाचार्य ने लिखा है कि अन्त्य बुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमम्। इस विषय में यह कारिका काफी है।

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्ति परिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते।

जिसमें क्रम का संहार है और जो अन्तिम वर्ण विषयक बुद्धि से निःशेष ग्राह्य हैं जिसमें क्रम का पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनित संस्कार का संहार माने मिलाव हैं। प्रदीपकार का मत हैं। संज्ञा शब्द, यदृच्छा शब्द एवं द्रव्य शब्द ये सब पर्याय हैं।

जाति शक्ति वाद—तृतीय मत

सब शब्दों का संकेत जाति में ही है, गुणादि में नहीं। हिम, दुग्ध, शंख वगैरह में शुक्लता के वस्तुतः भिन्न होते हुए भी एकाकारा प्रतीति यह शुक्ल है, यह शुक्ल है जो होती है उसका कारण है शुक्लत्व जाति। गुड़ एवं तण्डुल वगैरह में खर पाक, मृदु पाक, मध्य पाक रूप से पाकों के भिन्न होते हुए भी अभिन्न प्रतीति की हेतु पाकत्व जाति है।

किसी शरीर का किसी पिण्ड का व्यवहार के लिए नामकरण किया जाता है, वह नाम, शब्द रूप है जो उसी एक व्यक्ति में एक वस्तु में संकेवित है। अतः एक व्यक्तिवाचक होने से वह शब्द जाति नहीं हैं। इस पर कहते हैं कि जैसा डित्यादि शब्दों का वाच्य डित्यादि रूप अर्थ शरीर, बालादि अवस्थाओं में छोटा, बड़ा, स्थूल, कृश एवं क्षीण होने से वस्तुतः भिन्न है उसी तरह एक ही शब्द बाल, पौगण्ड, कुमार, युवा, वृद्ध एवं शुक आदि पुरुष तथा स्त्रियों के द्वारा उच्चारित कल, काकली, मन्द्र, तार रूप से विभिन्न है। तथापि वह शब्द शब्द इस अनुगत प्रत्यय का विषय होता है, उसका हेतु जाति है।

इस तरह मीमांसकों के मत में यह जाति शक्तिवाद का स्वरूप है। अस्तु। अब इनके मत में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अभिधा विशेष्य व्यक्ति को अवगम नहीं करा सकती। क्योंकि विशेषण रूप जाति का प्रतिपादन करके उसका सामर्थ्य क्षीण हो जाता है। अतः गोत्व जाति में पद की शक्ति है। किन्तु प्रश्न होता है कि विशेष्य व्यक्ति का भान कैसे होगा ? उत्तरः—कृष्ण

भट्ट कहते हैं कि जाति धर्म है, अतः आश्रय के बिना अनुपपन्न है। अनुपपद्य माना जाति अपने आश्रय व्यक्ति का आक्षेप कर लेती है। इस तरह अर्थापत्ति प्रमाण से व्यक्ति की प्रतीति होती है। इस पर दीक्षित जी कहते हैं कि 'गौरस्ति' 'गां पश्य' गौ है, गौ को देखो, इन वाक्यों से गोत्व जाति है, गोत्व जाति को देखो ऐसी उपपत्तियुक्त प्रतीति होती है, कोई अनुपपत्ति नहीं है। अतः अर्थापत्ति प्रमाण से व्यक्ति का भान ठीक नहीं है।

इस विषय में मंडन मिश्र कहते हैं कि गोत्व में शक्ति है, व्यक्ति की प्रतीति लक्षणा से होती है। जैसा कि उन्होंने कहा है :—

जातावस्तित्वनास्तित्वे नहि कश्चिद् विवक्षति।
नित्यत्वाल्लक्ष्यमाणाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे॥

जाति नित्य है अतः उसमें अस्तित्व या नास्तित्व उत्पाद या विनाश की विवक्षा नहीं है। वे लक्षणा से उपस्थित होनेवाली व्यक्ति के विशेषण हैं, व्यक्ति के धर्म हैं। यहाँ 'लक्ष्यमाणाया व्यक्तेः' कहने का आशय है कि व्यक्ति लक्षणा से बोध्य है।

पुनः शंका हो सकती है कि युगपत् एक साथ एक पद में दो वृत्तियाँ स्वीकार करनी पड़ेगी। उत्तर :—जब 'गंगायां घोषमत्स्यौ स्तः' गंगा में घोष एवं मछली है, ऐसे स्थलों में दो वृत्तियाँ अनुभूत हैं, तब वैसा मानने में कोई बाधक नहीं है।

आचार्य मम्मट कहते हैं कि लक्षणा से व्यक्ति की प्रतीति नहीं हो सकती है क्योंकि लक्षणा के तृतीय कारण रूढ़ि या प्रयोजन के अभाव में, कार्य 'लक्षणा से व्यक्ति का प्रत्यय' नहीं हो सकता है।

तब व्यक्ति की प्रतीति कैसे हो, इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए कहा कि व्यक्ति के बिना जाति रह नहीं सकती है। इसी अविनाभाव का नाम व्याप्ति है। अतः जाति से व्यक्ति का अनुमान कर लेंगे।

इस पर आपत्ति उठती है कि वृत्ति के द्वारा पद से जिसकी प्रतीति हो, उसी का शाब्द बोध में भान होता है और तभी शब्द से उपस्थित होने वाले संख्या कर्मत्व आदि के साथ उसका अन्वय होता है क्योंकि शब्द विषयिणी आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण होती है। उत्तर :—इस नियम में गौरव के भय से वृत्ति के द्वारा इस अंश का लक्षण में निवेश नहीं करेंगे। केवल अनुमान सहकृत पद से प्रतीति के विषय अर्थ का शाब्द बोध में भान होता है, ऐसा नियम मानने मे सब ठीक है।

जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्तिवाद—४ था मत

जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानने वालों का कहना है कि केवल व्यक्ति में शक्ति मानने में पूर्वोक्त गौरव असम्भव एवं व्यभिचार दोष है। जाति में यदि मानें तो 'गौ को दूहता है' यहाँ जाति का दोहना बनता नहीं है और 'घोड़ा हमारा वाहन है' यहां जाति का वाहन में उपयोग नहीं होता है। इन वाक्यों की संगति नहीं होगी। लक्षणा से भी व्यक्ति का संबोध नहीं होगा। क्योंकि 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' लक्षणा का स्वरूप है शक्य का सम्बन्ध, अतः वह भी व्यक्तिबोधिका नहीं हो सकती है। व्यक्ति रहित केवल गोत्व एवं अश्वत्वादि जाति में गोपद एवं अश्वादि पदों का प्रयोग असम्भव है, यह बात ऊपर निर्दिष्ट 'गौ को दूहता है, अश्व वाहन है' वाक्यों से स्पष्ट है। अतः केवल गोत्व शक्य नहीं है। जब गोत्व शक्य नहीं है तब उसका सम्बन्ध व्यक्ति में कैसे जाएगा। फलतः शक्य का सम्बन्ध रूप लक्षणा के द्वारा व्यक्ति का भान कैसे हो सकता है। शब्द से उपस्थित अर्थ का ही शाब्द बोध में भान होता है। इस नियम के कारण अनुमित का शाब्द बोध में भान नहीं हो सकता है। अतः व्यक्ति की अनुमिति नहीं हो सकती है। फलतः जाति-विशिष्ट व्यक्ति में ही संकेत है। यह मत भी नैयायिकों का है।

जाति, व्यक्ति एवं उनके सम्बन्ध में शक्तिवाद—५वाँ मत

न्यायशास्त्र का सूत्र है 'व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थः।' इसका अर्थ है व्यक्ति गो घट आदि, आकृति संयोगसमवायादि सम्बन्ध एवं जाति गोत्व घटत्व द्रव्यत्वादि ये तीनों पद के अर्थ हैं। ये तीनों।

पद के शक्य (शक्ति विषय) हैं। अर्थात् इन तीनों में पदशक्यत्वरूप पद की शक्ति एक है। जैसे पकाने वाले पाचक में पाचकत्व धर्म पकाना है, उसी तरह पदनिष्ठ शक्ति के विषय शक्य में विशेषणीभूत शक्यत्व में शक्ति है। वह शक्ति तीनों में एक है। इसी लिए 'पदार्थः इसमें एक वचन का प्रयोग किया है। विशकलित शक्ति अर्थात् शक्तिभेद होने पर कभी किसी अर्थ की और कभी किसी अर्थ की उपस्थिति होने लगेगी। यहाँ जाति पद से वह धर्म लेना चाहिए जिसके शक्यतावच्छेदक मानने में कोई भी आपत्ति न हो। आकृति पद का अर्थ संस्थान अर्थात् गलसास्ना, कम्बुग्रीवादि विशिष्ट आकार भी है।

इन लोगों का यह आशय है कि वृद्धों के व्यवहार और श्रोताओं के ज्ञान से शब्द के अर्थ का निश्चय होता है। इस शब्द का यह अर्थ है, इसका प्रथम

निश्चायक वृद्धों का व्यवहार ही है और कोई दूसरा प्रकार नहीं है। जैसा कि जगदीश ने शब्दशक्ति प्रकाशिका में कहा है :—

संकेतस्य ग्रहः पूर्वं वृद्धस्य व्यवहारतः।
पश्चादेवोपमानाद्यैः शक्तिधीपूर्वकैरसौ ॥

संकेत का ज्ञान सर्वप्रथम वृद्ध व्यवहार से होता है; पश्चात् उपमानादि से होता है।

वृद्ध लोग गुणप्रधान भाव से स्थित व्यक्ति, आकृति और जाति तीनों में गवादि शब्दों का प्रयोग करते हैं और श्रोता लोग समझते हैं। अतः तीनों पद के अर्थ हैं। जैसे गौ को पैर से नहीं छूना चाहिए। यहाँ पैर से छूने का निर्बन्ध गौ जाति भर के लिए है न कि किसी खास गौ व्यक्ति के लिए है। गौ खड़ी है, गौ बैठी है यहाँ खड़ा होना एवं बैठना गौ व्यक्ति का होता है, न कि जाति का। 'मट्टी की गौ बनाओ', 'दाल की पिट्ठी की गौ बनाओ' यहाँ मट्टी की या पीठी की गौ बनाने का अर्थ है गौ का आकार बनाना है, न कि जाति या व्यक्ति का बनाना है। अतः क्रमशः जाति, व्यक्ति एवं आकृति तीनों पद के अर्थ हैं।

कुब्ज शक्तिवाद—६ठा मत (जाति एवं व्यक्ति दोनों में शक्ति)

इस मत का शंका समाधान यह है कि जाति ही पद का अर्थ है, व्यक्ति पदार्थ न ही है यह ठीक नहीं है। जाति एवं व्यक्ति दोनों पद के अर्थ हैं। अन्यथा जातिशक्त पद से तब व्यक्ति का ज्ञान कैसे होगा। क्योंकि अन्य अर्थ में शक्त पद से अन्य अर्थ का बोध कैसे होगा? कहते हैं कि स्वभाव से होगा। उस स्वभाव का भी निर्वाह नहीं होगा, यदि शक्ति से व्यक्ति उपस्थित नहीं होगा। उत्तर :—गो पद नियम से गोत्व जाति एवं गो व्यक्ति का बोधक हैं किन्तु जाति शक्ति ज्ञान व्यक्ति के ज्ञान कराने में पद का सहकारी है इस कल्पना में लाघव है और यह आवश्यक भी है। जैसे नैयायिकों के यहाँ पद की अर्थ में ही शक्ति है न कि अन्वय में शक्ति है। तथापि वही पद आकांक्षादि ज्ञान के सहकार से अन्वय का बोधक होता है। फलतः पदार्थ ज्ञान एवं अन्वयज्ञान (शाब्द बोध) दोनों पद से ही होते हैं, उसी तरह जाति एवं व्यक्ति दोनों का ज्ञापक पद है।

और भी बात है। जाति शक्ति ज्ञान होने पर व्यक्ति में शक्ति का ज्ञान नहीं होने पर भी व्यक्ति के ज्ञान होने में विलम्ब भी नहीं होता है।

यद्यपि प्रत्यक्ष स्थल में जाति के विना भी व्यक्ति का ज्ञान हो जाता है अतः व्यक्ति बोधक सामग्री भिन्न है और जातिविशिष्ट व्यक्ति बोधक सामग्री भिन्न है। तद्यपि शब्द बोध स्थल में व्यक्ति ज्ञान के लिए जातिशक्ति ज्ञान ही हेतु है। इसलिए जाति एवं व्यक्ति दोनों में पद की शक्ति है क्योंकि दोनों का बोधक वह पद है। हाँ व्यक्ति में शक्ति स्वरूप सती हेतु है और जाति में जातिविशिष्ट व्यक्ति की उपस्थिति में तथा शाब्दबोध में जानी हुई वह शक्ति हेतु है। जैसे नैयायिक के मत से पदार्थ में जानी हुई और अन्वय में स्वरूप सती है। इसी का नाम कुब्जशक्तिवाद है।

इस मत में शब्दजन्य ज्ञान विषय पदजन्य प्रतीति विषय ही वाच्य है, यह बन सकता है। ऐसा मानने पर लक्ष्य एवं व्यंग्य भी वाच्य कोटि में आ जाएँगे। अतः ज्ञातशक्ति सहकृत पदजन्य प्रतीति विषय ही वाच्य है। तथा व्यक्ति में शक्ति होते हुए भी व्यक्तिशक्ति ज्ञान कारण नहीं है। अथच कारणतावच्छेदक जाति शक्ति ज्ञानत्व ही है, व्यक्ति शक्ति ज्ञानत्व नहीं है। यह लाघव इस मत से है। और भी एक बात है। अगर केवल जाति में ही शक्ति मानेंगे तो व्यक्तिसमानसंवित्संवेद्यत्व जाति में कैसे बनेंगे ? क्योंकि व्यक्ति में शक्ति संवित् ही नहीं है। फलतः दोनों में शक्ति है।

इतरान्वित में शक्तिवाद—७वाँ मत

भट्ट जी का मत है कि 'नीला घड़ा है' ऐसे वाक्यों में अभेद संसर्ग का भी भान होता है, अतः सम्बन्ध में संसर्ग में भी शक्ति है। क्योंकि इतर से सम्बन्ध करने वाला इतर अर्थ है, ऐसी प्रतीति होती है। इसी का नाम इतरान्वित शक्तिवाद है।

कार्यान्वित या अन्वित शक्तिवाद—८,९ वाँ मत

सभी पुरुषों को प्रथम व्युत्पत्ति वृद्ध व्यवहार से ही होती है। व्युत्पत्ति के अन्य उपाय व्याकरणादि सभी शब्द की व्युत्पत्ति के अधीन हैं अर्थात् शब्द के ज्ञान होने के बाद वे उपाय प्रयोजक होते हैं। अतः व्यवहार शक्तिग्राहक प्रमाणों में प्रधान है। उस व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि किसी भी कार्य में किसी साध्य में अन्वित पद से अर्थ मालूम पड़ता है अतः कार्यान्वित में घटादि पदों की शक्ति है।

इन्हीं का अवान्तर मत है कि यद्यपि वृद्ध व्यवहार से सर्वप्रथम कार्यान्वित का ही ज्ञान होता है तथापि शक्ति कार्यान्वित में नहीं है। किन्तु अन्वित मात्र में शक्ति है। क्योंकि तत्तत् कार्य के वाचक पदों के रहने पर भी

आकांक्षा योग्यता एवं आसत्ति के द्वारा ही कार्यान्वित का ज्ञान होता है। अन्यथा नहीं। वृद्ध व्यवहार में भी शब्द से ही उपस्थित अर्थ का ज्ञान होता हैं और शब्द के विषय में नियम है कि (अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः) प्रकारान्तर से जो नहीं मिलता हैं वही शब्द का अर्थ होता है। यहाँ कार्यांश आकांक्षादि लभ्य होने से उपयुक्त नियम लागू होना है। अतः कार्यांश में शक्ति नही है। और भी वात है कि कार्यांश में शक्ति इसलिए भी नहीं मान सकते कि सिद्ध अर्थ में भी शक्ति है 'घटवद् भूतलम्' घड़ों वाली भूमि यहाँ कोई साध्य कार्य नहीं है। घड़ा सिद्ध एवं भूमि सिद्ध है। अतः कार्यांश से व्यभिचार भी है। अतः अन्वितमात्र में शक्ति है। यह अन्विताभिधानवादी प्रभाकर हैं।

आपोह में शक्तिवाद—१० वां मत

ये अपोहवादी सौगत वौद्ध हैं। इनके यहां 'सर्व क्षणिकम्' सव कुछ क्षणिक है व्यक्ति एवं जाति क्षणिक है ध्रुव नहीं है। वे विचार में स्थिर नहीं हो सकते। अतः अतद्व्यावृत्तिरूप अपोह में शक्ति है। जैसे तद् का अर्थ हैं गौ, उससे भिन्न अतद् गोभिन्न अश्व, उससे भिन्न गौ है। इस तरह तद्भिन्नभिन्नाधि करणमात्रवृत्ति तद्भिन्न से भिन्न के अधिकरण में आश्रय में रहने वाला अपोह भी एक प्रकार से असाधारण धर्म तद्वृत्तित्वे सति तदितरावृत्तिस्वरूप ही है उसी में रहे और उससे भिन्न में नहीं रहे वही असाधारण धर्म का लक्षण है। इस तरह संकेतित अर्थ का निरूपण सम्पन्न हुआ।

लक्षणा

शक्य अर्थ के निरूपण करने के वाद उससे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थों का निरूपण करना क्रम प्राप्त है। उनमें प्रथम लक्ष्य है। लक्ष्य का स्वरूप वतलाते हुए आचार्य ने लिखा है कि जो अर्थ लक्षणा वृत्ति से वोध्य हो वह लक्ष्य अर्थ है। अव जिज्ञासा होती है कि लक्षणा की क्या आश्यकता है, लक्षणा क्या है ? अतः लक्षणा का स्वरूप लक्षणा का लक्षण लिखने का अवसर उपस्थित हुआ।

लक्षणा की क्या आवश्यकता है ?

अभिधा शक्ति की तरह लक्षणा शक्ति को मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि गंगा में घोष वसता है ऐसे वाक्यों में गंगा पद से ही तीर की उपस्थिति हो जाएगी। गंगा पद से अभिधा के द्वारा प्रवाह रूप अर्थ की

उपस्थिति हो जाने पर एक सम्बन्धी के ज्ञान से दूसरे सम्बन्धी का स्मरण अपने आप हो जाता है। इस न्याय के अनुसार प्रवाह सम्बन्धी तीर का स्मरण अपने आप हो जाएगा। लक्षणा की आवश्यकता नहीं है। इस पर कहते हैं कि लक्षणा की आवश्यकता है किन्तु पद विशेष से ही पदार्थ की उपस्थिति होने पर शाब्द बोध होता है जैसे 'घट लाओ' कहने पर शाब्द बोध होता है, इसी को यदि अलग-अलग 'घट कर्मत्व, आनयन, एवं कृति' कहें तो शाब्द बोध नहीं होगा। अतः पूर्वोक्त तीर अर्थ की स्मृति गंगा पद से हुई है। इस बात के लिए गंगा पद में तीर रूप अर्थ के प्रतिपादन के वास्ते लक्षणा शक्ति मानी गई है।

यहाँ यदि 'तीर' गंगा पद का अर्थ नहीं होगा तो 'गंगा' इस पद में कही गई सप्तमी विभक्ति के अर्थ आधार का तीर में अन्वय नहीं होगा। क्योंकि एक नियम है कि विभक्तियां अपने अर्थ को प्रकृति के अर्थ से मिलकर ही बतलाती हैं। यहाँ सप्तमी विभक्ति की प्रकृति गंगा है न कि तीर। हां यदि गंगा पद का अर्थ तीर हो जाए, तो सप्तमी विभक्ति के अर्थ का समन्वय उसमें हो सकता है। अगर कहें कि वक्ता जिस पद से जो अर्थ कहना चाहता है ऐसे तात्पर्य के विषय अर्थ के साथ ही विभक्ति का अर्थ मिलता है तब भी गंगा पद का तीर में तात्पर्य है। इस तात्पर्य के निर्वाह के लिए भी तीर में गंगा पद की शक्ति मानना आवश्यक है। वह शक्ति लक्षणा है।

तीरादि अर्थ गंगादि पदों के अभिधेय नहीं हो सकते

"सर्वे सर्वार्थ वाचकाः", "शब्दा वै कामधेनवः" सभी शब्द सब अर्थों के वाचक हैं, शब्द कामधेनु हैं, इनसे जो चाहो उस अर्थ का दोहन कर लेओ, ऐसा महावैयाकरण पतंजलि ने अपने व्याकरण महाभाष्य में लिखा है। अतः तीर गंगापद का अर्थ है और नैयायिक ईश्वर की इच्छा को अभिधा शक्ति कहते हैं, उस इच्छा का विषय वस्तुमात्र है। अतः तीर भी उसका विषय है। फलतः वैयाकरण एवं नैयायिक दोनों के मत से गंगा पद ही अभिधा के द्वारा तीर अर्थ का बोधक हो सकता है। इस पर कहते हैं कि यह नहीं हो सकता है। क्योंकि यदि ऐसा सिद्धांत मानेंगे तो घड़ा या कपड़ा वगैरह सभी गंगा पद के अर्थ हो जाएंगे। तब यह अर्थ अभिधेय है, यह अभिधेय नहीं है, ऐसी व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी और मुख्यार्थ बाध जो लक्षणा का हेतु माना गया है वह भी अब नहीं होवेगा।

प्रासंगिक शंका और उसका समाधान

शंका: "गंगादि पद हरि एवं गोप्रभृति शब्दों की तरह नानार्थक क्यों नहीं ? अस्तु। गंगादि पदों के प्रवाहादि तथा तीरादि दोनों अर्थ हुए। जिनमें

वह पद गंगात्वेन प्रवाह की उपस्थिति अभिधा से करता है और गंगातीरत्वेन तीर की उपस्थिति लक्षणा से करता है। फलतः "जो पद नाना शक्तियों से नाना प्रकारक उपस्थिति का जनक हो वह पद नानार्थक होता है" इस नियम के अनुसार गंगापद भी नानार्थक हो गया।

अवांतर शंका :—नियम के अनुसार तदादि सभी सर्वनाम नानार्थक हो जाएँगे। क्योंकि वे भी बुद्धिस्थ, रघुत्व, अजत्व, घटत्व आदि नाना प्रकारक उपस्थिति के जनक हैं।

उत्तर :—इसके दो उत्तर हैं। एक मत हैं कि वे सर्वनाम नानार्थक हैं। दूसरा मत है कि "बुद्धिस्थत्व उपाधि को छोड़ कर" इतना विशेषण पूर्व नियम में जोड़ देने से सर्वनाम नानार्थक नहीं होंगे। जो पद नानाशक्तियों से बुद्धिस्थत्व उपाधि को छोड़ कर नाना प्रकारक उपस्थित का जनक हो वही नानार्थक है।

शंका :—नियम का आकार परिवर्तित कर देने से सर्वनामगत नानार्थकत्व दोष हटने पर भी गंगा पद में नानार्थकत्व जैसा का तैसा ही रह गया।

समाधान :—वही पद नानार्थक है जिसका अपने नाना अर्थों में समान रूप से प्रयोग हो किन्तु कोई विनिगमक न हो अतः जो नाना शक्ति से नाना-प्रकारक बोध का जनक हो। गगापद में यह नियम नहीं है इसका प्रवाह एवं तीर रूप अर्थों में समान रूप से प्रयोग नहीं होता है। तथा विनिगमक भी है। प्रवाह रूप अर्थ का बोध होने पर ही तीर रूप अर्थ का बोध गंगापद कराता है। अतः गंगा पद नानार्थक नहीं है, और भी बात है। उक्त नियम में नाना शक्ति पद का अर्थ है नाना अभिधा शक्ति। इस लिए भी गंगापद नानार्थक नहीं है।

लक्षणा की आवश्यकता का शेषांश

विद्यार्थी को जब शब्दों का उच्चारण करना सिखाते हैं (यथा घटमुच्चारय, पटं ब्रूहि, गां कथय) जैसे घट का उच्चारण करो, पट बोलो, गौ कहो। यहां पर घट, पट एव गौ पदों का अर्थ जो कि व्यक्तिरूप है उसका उच्चारण बोलना या कहना नहीं हो सकता। हो सकता है तो घट शब्द का पटपद का या ग औ इस अनुपूर्वी का। अब प्रश्न उठता है कि जब अध्यापक ने विद्यार्थी से कहा कि घटमुच्चारय। तब इस वाक्य में घटपद का क्या अर्थ? घटपद हो तभी उच्चारण क्रिया की संगति है अन्यथा नहीं। अगर घट पद का अर्थ घट

पद हो तो कैसे होवे क्योंकि घटादि पदों की शक्ति पृथुबुध्नोदर विशिष्ट कम्बुग्रीवादि वाले व्यक्तियों में है न कि घटादि पदों में।

अगर कहें कि अभिधा शक्ति तो सम्बन्ध रूप है। वह सम्बन्ध दो में रहता है अतः जैसे अर्थ में वह है वैसे ही पद में भी है। सुतराम् जैसे वह अर्थ को उपस्थित करता है उसी तरह पद को भी उपस्थित कर दे, हर्ज क्या है?

उत्तरः—ठीक कहते हैं। किन्तु सम्बन्धरूप शक्ति द्विष्ठ होने पर भी पद ही शक्ति का आश्रय है शक्य नहीं है। अर्थात् आश्रयता सम्बन्ध से शक्ति पद में है और विषयता सम्बन्ध से अर्थ में वह शक्ति है। जो शक्ति का विषय होता है वही शक्य है। यह पदार्थ स्वभाव है कि शक्ति अपने विषयीभूत अर्थ की ही केवल उपस्थिति करती है, अपने आश्रय पद की नहीं। क्योंकि पद में बोधकत्व की योग्यता है और अर्थ में बोध्यत्व की योग्यता है अतः घटादि पद घटादि पदों के शक्य अर्थात् शक्ति के विषय अर्थ नहीं हुए। जब वे घटादि पद घटादि के अर्थ नहीं हुए तो घटं, पटं, ग्रामं आदि में आनेवाली द्वितीया विभक्ति अम् से उपस्थाप्य कर्मत्व का अन्वय उन पदों में नहीं होगा। किन्तु क्रिया से जन्य फल का आश्रय कर्म होता है इस नियम के अनुसार प्रकृति में उच्चारण क्रिया से उत्पन्न जो श्वास वायु का कण्ठ तालु आदि संयोगरूप फल है उसके आश्रय-घटादि पद हैं, तभी उन घटादि पदों में द्वितीया विभक्ति आई है। यह घटादि पदों के पटादि पदों के अर्थ बनाना कार्य अभिधा शक्ति से सम्भव नहीं है। अतः लक्षणा शक्ति मानने की आवश्यकता आई।

लक्षणा के द्वारा घटादि पदों के अर्थ घटादि पद बन गये तब द्वितीया विभक्ति अम् से उपस्थित कर्मत्व का अन्वय घटादि पदों से हो गया। यहाँ घटादि रूप शक्य का पटादि पदों के साथ वाच्य वाचकभाव रूप सम्बन्ध होने से शक्यसम्बन्ध रूप लक्षणा का लक्षण समन्वित हुआ। यहाँ नैयायिक के मत में निरूढ़ा लक्षणा मानी गयी है। वैयाकरण यहाँ कहता है कि शब्द भी प्रातिपदिकार्थ है अतः वह शक्य है, और जहां जबगडदश् इत्यादि स्थलों में कोई शक्य नहीं है तब शक्य सम्बन्ध लक्षणा कैसी? किन्तु जबगडदश् इसका शक्य है सूत्र। अगर किसी ने जबगडदश को बुलाओ अर्थात् वैयाकरण को बुलाओ कहा तो उस अवस्था में लक्षणा हो सकती है।

लक्षणा का लक्षण

लक्षणा का लक्षण भिन्न-भिन्न सिद्धांत के अनुसार भिन्न-भिन्न आचार्यों ने लिखा है। हम यहां सबके मतों का उल्लेख करके साहित्य के आचार्यों का सम्मत लक्षण लिखेंगे।

सर्वप्रथम इसके वारे में हम अग्निपुराण को उद्धृत करते हैं। उन्होंने कुछ संकेत किया है।

अग्निपुराण में शब्दार्थोभयालंकार के प्रकरण में अभिव्यक्ति के स्वरूप निरूपण करते समय लिखा है कि :—

प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेय इत्यपि
तस्या भेदौ, श्रुतिस्तत्र शब्दः स्वार्थसमर्पकः
भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विधैव सा
संकेतः परिभाषेति ततः स्यात्पारिभाषिकी।
मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा
स्वाभिधेयस्खलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य बोधकः
यया शब्दो निमितेन केन स्यात् सोपचारिकी
सा च लाक्षणिकी, गौणी, लक्षणा गुणयोगतः
अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते
अभिधेयेन सम्बन्धात्, समीप्यात्, समवायतः
वैपरीत्यात, क्रियायोगात्, लक्षणा पंचधा मता
गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता तद् विवक्षया।

प्रकटत्व अर्थात् प्रकाशन अभिव्यक्ति है। उसके दो भेद हैं श्रुति और आक्षेप। जिसमें श्रुति दो प्रकार की है—नैमित्तिकी एवं पारिभाषिकी।

अवान्तर विचार

यहाँ शब्द को श्रुति नाम से लिखा है वह स्त्रीलिंग है अतः उसके नैमित्तिकी एवं पारिभाषिकी ये स्त्रीलिंग नाम लिखे हैं। शब्द शक्तिप्रकाशिका कार ने इसको इस प्रकार का लिखा है :—

यदाधुनिकसंकेतःशालिस्यात्पारिभाषिकम्
जात्या नैमित्तिकं शक्तमौपाधिकमुपाधिना।

यहाँ एक भेद और बढ़ा दिया है औपाधिक। वे मुख्या श्रुति के दो भेद लिखते हैं। इसके वाद औपचारिकी श्रुति को ही लाक्षणिकी कहते हैं। लाक्षणिकी का आश्रय लक्षणा है वह भी लक्षणा एवं गौणी नामों से व्यवहृत होती है। गुण से होने वाली वृत्ति गौणी है वह अनन्त प्रकार की है और लक्षणा पांच प्रकार की है।

जब शब्द अपने अर्थ के विषय में स्खलद्गति बाधित हुआ किसी रूढ़ि या प्रयोजन रूप निमित से अमुख्य अर्थ का बोधक हो तब वह औपचारिक कहलाता है। यह लक्षणा का लक्षण काव्यप्रकाशकार से मिलता जुलता है।

"अभिधेयाविनाभूत" आदि उल्लेख आधुनिक है। मालूम पड़ता है किसी ने पुस्तक के हाशिये पर अपने संकेत के लिए लिखा हो, उसको पुराण पुस्तक सम्पादकों ने कृपा कर मूल में मिला दिया है। यहाँ ग्रंथ में श्रुति का भेद लिखते हैं या श्रुति की वृत्ति का लक्षण लिखते हैं या शब्दार्थोभयगत अलंकार को लिखते हैं, क्या है, जरा अटपटा सा मालूम पड़ता है।

लक्षणा के लक्षण के विषय में एक मत १

प्राचीन दीक्षितादि के नाम से प्रचलित एक मत लक्षणा के बारे में है कि अन्वय की असंगति अनुपपत्ति का ज्ञान होने पर जो शक्यार्थ के सम्बन्ध का स्मरण होता है उससे जो संस्कार का उद्बोधन होता है वह उद्बुद्ध संस्कार ही लक्षणा है।

यह लक्षण असंगत है। क्योंकि उद्बुद्ध संस्कार को लक्षणा मानने पर सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि लक्षणा शब्द की शक्ति मानी गई है। किंतु संस्कार को लक्षणा मानने पर वह आत्मा या मन का धर्म संकार शब्द में कैसे रहेगा ? और जहां अन्वय अनुपपन्न नहीं हुआ प्रत्युत संगत होता है वहाँ यह लक्षण नहीं जायगा, इत्यादि दोष हैं।

शक्यसम्बन्ध ही लक्षणा है—मत २

शक्य का सम्बन्ध ही लक्षणा है यह नैयायिकों का मत है। यह मत भी असंगत है। जैसा गंगा में घोष बसता है, इसमें गंगा पद का शक्य प्रवाह है, उसका सम्बन्ध संयोग तीर में है। इस तरह लक्ष्य का धर्म लक्षणा हुआ, लक्षक गंगापद का धर्म लक्षणा नहीं। फलतः लक्षणा शब्द वृत्ति नहीं कहलायेगी। क्योंकि गंगापद के साथ सम्बन्ध नहीं होने से शाब्द बोध का जनक जो पद और पदार्थ का सम्बन्ध है उसको वृत्ति कहते हैं। इस नियम की परिधि में यह लक्षण नहीं जाता है।

एक बात और भी है कि शक्य सम्बन्ध ही लक्षणा है, ऐसा मानने पर 'छत्रिणो यान्ति' यहाँ छत्रिणः में लक्षणा नही हो सकती है। क्योंकि नैयायिक के मत में शक्त को पद माना गया है। जिसमें छत्र भी शक्त है और इन् प्रत्यय भी शक्त है। इस तरह पदसमूह होने से छत्रिणः यह वाक्य हो गया। वाक्य में शक्ति नहीं है, फलतः वाक्यार्थ के शक्य न होने से

शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा का समन्वय 'छत्रिणः' में नहीं होता है। अतः उक्त लक्षण दूषित है।

शक्य से अशक्य की उपस्थिति लक्षणा है—मत ३

मीमांसक का सिद्धान्त है कि शक्यार्थ के सम्बन्ध के ज्ञान होने से जो अशक्य अर्थ की उपस्थिति है वही लक्षणा है। जैसे गंगापद से शक्यार्थ प्रवाह का ज्ञान हुआ उससे (एक सम्बन्धी के ज्ञान होने से अपर सम्बन्धी का स्मरण हो जाता है इस न्याय के अनुसार) तीर की स्मृति हो जाती है। यही लक्षणा का स्वरूप है। इसीलिए गंगापद से तीर की उपस्थिति नहीं होने से ही 'लाक्षणिकं पद नानुभावकम्' लाक्षणिक पद शाब्दबोधजनक नहीं होता है, यह सिद्धान्त भी समन्वित हो जाता है। क्योंकि पद ही से उपस्थित हुए अर्थ का शाब्दबोध में भान होता है, यह नियम शक्यार्थ के विषय में ही लागू होता है। लक्ष्यार्थ के विषय में नहीं। वहाँ तो केवल पदार्थ की उपस्थिति मात्र अपेक्षित है चाहे सम्बन्धिज्ञान विधया अर्थ की उपस्थिति हो। यह मत भी असंगत है।

इस मत में तात्पर्यानुपपत्ति या अन्वयानुपपत्ति लक्षणा का बीज है, यह सिद्धान्त कट जाता है और उपस्थिति की हेतु वृत्ति होती है न कि उपस्थिति ही वृत्ति है। अतः वृत्तिभूत लक्षणा का लक्षण यह नहीं हुआ। और भी बात है कि जब तीर गंगा पद का अर्थ नहीं होगा तो उस तीर में 'गंगायाम्' जो सप्तमी विभक्ति है उस विभक्ति के अर्थ का अन्वय नहीं होगा। फलतः वाक्यार्थ बोध नहीं होने से व्यर्थ ही लक्षण की कुसृष्टि हुई।

उपस्थिति रूप लक्षण अर्थगत होने से शब्द का धर्म नहीं बनेगी, इसका उत्तर आप देते भी हैं तो भी गौरवरूप दोष लगा ही रहेगा। लक्षणा का विषय जो तीर उसके सम्बन्धी प्रवाह का वाचक गंगापद है, यह गुरुभूत सम्बन्ध है।

शक्यतावच्छेदक का आरोप लक्षणा है--मत ४

वैयाकरण लक्षणा शक्ति अलग नहीं मानते हैं। वे अभिधा शक्ति का ही ऐसा स्वरूप मानते है कि प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध से भिन्न अर्थ की उपस्थिति में वह शब्द की सहायिका हो जाती है। अभिधा के लिए संकेतित अर्थ को उपस्थित करने में संकेत कारण है किन्तु असंकेतित अर्थ को उपस्थित

करने में किसी हेतु को नहीं प्राप्त कर संकेतित अर्थ के धर्म का असंकेतित अर्थ में आरोप कर लेते हैं (इसी का दूसरा नाम अन्य धर्म का अन्य में अध्यास है) इसी शक्यतावच्छेदक धर्म के आरोप का लक्षणा शब्द से व्यवहार होता है ! निष्कर्ष यह है कि गंगा में घोष वसता है इस वाक्य के गंगा पद का जो अर्थ प्रवाह है उससे भिन्न तीर रूप अर्थ की उपस्थिति प्रवाहगत धर्म प्रवाहत्व का आरोप करके अध्यास करके अभिधा के द्वारा ही होती है, अतः लक्षणा शक्ति अभिधा शक्ति से पृथक् नहीं है। जैसा भर्तृहरि ने वाक्य-पदीय में लिखा है कि "अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः" शब्द अपने अर्थ में व्यवस्थित है अर्थात् शक्यतावच्छेदक धर्म जैसे अभिधा स्थल में था वैसे ही लक्षणा स्थल में भी है किन्तु धर्मी मात्र वदल गया है। पहले धर्मी प्रवाह था, अब तीर हो गया।

इस मत में यह प्रश्न उठता है कि अन्य में अन्य के धर्म का आरोप किसी कारण से ही होगा, निष्कारण नहीं हो सकता है। जैसे अन्य माणवक में अन्य सिंह के क्रूरतादि गुणों के सम्बन्ध से माणक को सिंह कहा जाता है यह स्थिति जहाँ हो वह गौण है और जहाँ केवल सम्बन्ध से अन्य अर्थ में अन्य का आरोप किया हो वहाँ लक्षणा होती है। जैसे सामीप्य सम्बन्ध से तीर को गंगा कहा गया है।

गुणतो गुणवृत्तिरिष्यते ह्यपरा लाक्षणिकीष्ट संगतेः
इति भेदकमस्ति लक्षणागुणवृत्योरिति वेद वादिनः (संक्षेप शारीरिक)

अतः जब कि आरोप या अध्यास गुणों के सम्बन्ध से या अन्य किसी सम्बन्ध से ही होता है तब आरोप के मूल शक्य सम्बन्ध को ही लक्षणा कह देना पर्याप्त है आरोप तक अनुभावना का कोई फल नहीं है। इसीलिए प्राचीन न्याय सूत्र एवं न्याय वार्तिककार के द्वारा प्रतिपादित आरोप रूप लक्षणा का नवीनों ने परित्याग कर दिया है। आरोप के मूल शक्य सम्बन्ध को लक्षणा माना हैं।

न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम ने आरोप को ही लक्षणा माना है। उनका सूत्र है सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधना, धिपत्येभ्यो ब्राह्मण, वाल, कट, राज, सक्तु, चन्दन, गंगा, शकटा, न्न, पुरुषेषु अतद्भावेऽपि तदुपचारः" इति।

ब्राह्मणादि १० अर्थों में तदभाव अर्थात् उन धर्मों के न रहने पर भी सहचरण वगैरह कारणों से उन धर्मों का आरोप उपचार है, लक्षणा है।

वह उपचार उन धर्मों का आरोप है। आरोप के कारण बतलाते हुए उदाहरण देते हैं। जैसे (पूर्वं ब्रह्मदण्डानि भोजय) भोजन कराने का जब प्रसंग आया तब व्यवस्था के लिए कहा कि पहले ब्रह्मदण्डों को भोजन कराओ। (ओम् ब्रह्म है। उससे युक्त दण्ड ब्रह्मदण्ड हुआ। उस अर्थ को कहने वाला शब्द ब्रह्मदंड है) इसी प्रसंग में कहा कि यष्टियों का प्रवेश कराओ। यहाँ ब्राह्मण भोजन के समय यष्टियों का प्रवेश बनता नहीं अतः उन ब्राह्मणों के साथ यष्टियों का साहचर्य नियम होने से उनमें यष्टित्व का आरोप किया। इसी तरह खटिया चिल्लाती है, मंच हसते हैं। यहाँ पर खटिया बैठने की वस्तु है, अतः खटिया पन का आरोप बैठने वाले बालकों में किया। बीरणों में बैठते हैं। यहाँ चटाई बनाने योग्य तृणों का नाम बीरण है। चटाई बनाने के लिए लाए हुए बीरणों का धर्म बीरणत्व का आरोप कट में तादर्थ्य के कारण किया है।

राजा यम है। यहाँ राजा में यमत्व का आरोप किया है। यह उसके वृत्त अर्थात् क्रूर अनुशासन के कारण है। सक्तु प्रस्थ है। यहाँ सक्तुओं में प्रस्थत्व का आरोप उनके प्रस्थ परिमाण के कारण है।

चन्दन तुला है। यहाँ चन्दन, तुला से धारण किया होने से चन्दन में तुलात्व का आरोप है।

गंगा में गायें चरती हैं। यहाँ सामीप्य के कारण तीर में गंगात्व का आरोप है।

शकट कृष्ण है। यहाँ कृष्ण गुण के योग से शकट में कृष्णत्व का आरोप है। अन्न ही प्राण है। यहाँ अन्न प्राणों के साधन हैं अतः अन्न में प्राणत्व का आरोप है। यह पुरुष कुल है, यहाँ पुरुष कुल का अधिपति है। अतः आधिपत्य के कारण पुरुष में कुलत्व का आरोप किया।

इसी तरह आरोप 'रूप लक्षणा' का समर्थन न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने भी किया है। जैसे साहचर्य का अर्थ है यष्टिके साथ सम्बन्ध। उस सम्बन्ध से 'यष्टिकावान्' बन सकता है। और याष्टिकान्। याष्टिकान् यह तो मुख्य ही प्रयोग है। अतः उपचार का बीज कुछ और ही है। वह क्या है? बतलाते हैं। यष्टिका में यष्टिका शब्द का प्रयोग यष्टिकात्व जाति के कारण है। ब्राह्मण के हाथ में रहने वाली यष्टिका में संयुक्तसमवेत जाति का ब्राह्मण में समवाय सम्बन्ध से आरोप करके ब्राह्मण को यष्टिका कहा है।

यह आरोप रूप . लक्षणा का स्वरूप सूत्र एवं वार्तिक कारों के द्वारा प्रतिपादित हैं ।

और भी बात है कि अन्य में अन्य के धर्म का आरोप किसी मतलब से ही, प्रयोजन से ही होता है, बिना प्रयोजन के आरोप होगा ही नहीं । यह सिद्धान्त है । किन्तु लक्षणा तो प्रयोजन शून्या निरूढा भी होता है । तब आरोप को लक्षणा कैसे कह सकते हैं ?

और भी बात है । आप तो सभी जगह आरोप ही को लक्षणा कहेंगे । तब साध्यवसाना लक्षणा का भेद कैसे हो सकता है । अगर कहें कि वहाँ भी हम आरोप करेंगे, तब सारोपा एवं साध्यवसाना का विनिगमक क्या होगा ? और काव्यप्रकाशकारादि सम्मत 'जहाँ विषय एवं विषयी दोनों शब्द से निर्दिष्ट रहते हैं, वह सारोपा होती है 'यह सारोपा का लक्षण आप मान नहीं सकते । क्योंकि आप गंगायां घोषः कुन्ताः प्रविशन्ति में भी जहाँ केवल विषयी ही हैं, विषय नहीं है । वहाँ भी आरोप करते हैं अर्थात् वहाँ भी सारोपा लक्षणा मानते हैं ।

और भी बात है । साध्यवसाना स्थल में भी आरोप मानेंगे तब 'शुद्ध-भेदयोरन्यवैलक्षण्येन अव्यभिचारेण चेति' इस काव्यप्रकाश की व्याख्या में जो लिखा है कि कारण में कार्य का भेद मालूम पड़ने पर व्यभिचार की सम्भावना हो सकती है, अतः सारोपा में अव्यभिचार रूप फल नहीं हो सकता है । साध्यवसाना में तो भेद हट जाता है प्रत्युत अभेद मालूम पड़ता है । अतः व्यभिचार की शंका भी नहीं हो सकती है । क्या यह लिखना बनेगा ? कभी नहीं बनेगा ।

और भी कारण है । आपने 'गौणी का लक्षण-लक्षणा एक भेद और है अतः 'लक्षणा 'तेन षडविधा' लक्षणा छः प्रकार की ऐसा न कहकर सात प्रकार की कहना उचित है । इस प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि उपादान लक्षणा से अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का और लक्षण लक्षणा से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का, सारोपा से रूपक का, साध्यवसाना से प्रथम अति-शयोक्ति का, शुद्ध सारोपा एवं शुद्ध साध्यवसाना से हेत्वलंकार का निरूपण करेंगे । अतः षड् विधा कहना ही सफल है, ऐसे कहने का क्या मूल्य है जब कि साध्यवसाना स्थल में भी आरोप ही मानेंगे ।

षडविधेति । नच गौण्यां लक्षणलक्षणात्वांगीकारेण सप्तविधत्व मुचित-मिति वाच्यम । अत्रोपादान लक्षणाभ्यामर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्यौ,

सारोपासाध्यवसनाभ्यां रूपकप्रथमातिशयोक्ती, शुद्धाभ्यां च ताभ्यां हेत्वलंकारं निरूपयिष्यतीति षड्भेदकथनमेव सफलम् । इति । काव्यप्रकाशमूल की व्याख्या में उद्योत । पृष्ठ ५२ ।

अतिशयोक्तौ च नातिव्याप्तिः । अतिशयोक्तेः साध्यवसान लक्षणा-मूलकत्वात् । रूपक के लक्षण की व्याख्या में, पृष्ठ ४६४ ।

रूपक का ऐसा लक्षण करने से अतिशयोक्ति के लक्ष्य में रूपक का लक्षण नहीं जाएगा अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा । क्योंकि अतिशयोक्ति साध्यवसाना लक्षणा मूलक है । इत्यादि हेतुओं से शक्यतावच्छेदक का आरोप लक्षणा है, यह मत भी असंगत है ।

प्रसंगवश उदाहरण की व्याख्या

इस मत के अनुसार दिये हुए उदाहरण का भी दिग्दर्शन करा देना अप्रासंगिक नहीं होगा । यद्यपि उदाहरणों को आगे लिखेंगे तद्यपि यहाँ लिखना आवश्यक होगा । जैसे :—

कचतस्त्रस्यति वदनं, वदनात्कुचमण्डलं त्रसति ।
मध्याद्बिभेति नयनं नयनादधरः समुद्विजति ॥

यहाँ इस पद्य की वर्णनीया कामिनी रुष्ट है । जो केशपाश विभिन्न वर्ण के सुगन्धित पुष्पों से गूँथा हुआ धम्मिल्ल था वह गुस्से से आज गूँथा हुआ नहीं है, वह विखरा हुआ है, अतः वह केशपाश वदन को आक्रान्त किये हुए हैं । यह रोष शत्रु पर नहीं है । प्रणयी के ऊपर रोष है, वह भी प्रणयिनी का है अतः मुँह को ऊपर की ओर न करके नीचे की ओर किए हुए है । फलतः ऊपर का भाग झुका हुआ होने से नीचे कुच भाग भी नत हो गया है और कमर रोष के आवेश में संचलन से कभी-कभी लचक जाती है । नयन ईषद्रक्त हो गये हैं और ओठ क्रोध से काँप रहे हैं । यह स्पष्ट नायिका का स्वरूप है ।

कवि समुदाय में नायिका के मुख की कभी चन्द्रमा से तुलना करते हैं, कभी मुख में चन्द्रत्व का आरोप करते हैं, इत्यादि प्रसिद्ध है । बालों का मुख पर विखरना मानों राहु का चन्द्रमा पर आक्रमण है । केशपाश और राहु को कवि सम्प्रदाय में काला ही माना गया है । अतः राहु से चन्द्र को त्रास होने को कच से मुख डरता है, लिखा है । चन्द्रमा से कमलों का संकुचित होना भी कवि समय सिद्ध है । अतः वदन से कुचमण्डल का त्रस्त होना वर्णित है ।

नायिकाओं के वर्णन में नायिकों को गजराज गति और मृगराज कटि कहा जाता हैं अर्थात् उनकी गति हाथियों की सी है और उनकी कमर मृगराज की सी क्षीण है। और नायिका को मृगनयना हरिणशावकलोचना कहा जाता है। अतः मृगराज से मृग का डरना स्वभाव सिद्ध है। अधर की तुलना पल्लव से करते हैं या उसपर पल्लवत्व का आरोप करते हैं। पल्लव हरिण का खाद्य है, अतः नयन से अधर डरता है, ऐसा लिखा है।

फलतः प्रथम वाक्य में कचों पर राहुत्व का आरोप है, वदन में चन्द्रत्व का आरोप है, दूसरे वाक्य में वदन में चन्द्रत्व का आरोप है और कुचमंडल में कमलत्व का आरोप है। तीसरे वाक्य में मध्यकटि में मृगराजत्व का आरोप है और नयन में मृगत्व का आरोप है। चौथे वाक्य में मृगत्व का आरोप है, अधर में पल्लवत्व का आरोप है। इस तरह यहाँ रूपक समुदाय है, यह रूपक समुदाय व्यंग्य हैं।

कच में राहुत्व के आरोप का फल है, कचों भी नीलिमातिशय, वदन में चन्द्रत्व के आरोप का फल है वदन का कामी के हृदय को अधिक आकृष्ट करना। त्रास का व्यंग्य है छिप जाना। वालों का वदन पर बिखर जाने से वदन ढंक जाता है। यह प्रथम वाक्य कीं कथा है। द्वितीय वाक्य में वदन में चन्द्रत्व के आरोप का फल है कि रोप में भी मुख की कान्ति वड़ी है, कुछ भी फीका पन नहीं है। कुचों पर कमलत्व के आरोप का फल है, छाती उभरी हुई है, कुच पीन है। त्रास का व्यंग्य है संकुचित होना। मध्य में मृगराजत्व के आरोप का फल है जैसे मृगराज सब पशुओं का राजा है, सब पशुओं से महत्व शाली है, उसी तरह मध्य भाग सब अवयवों का केन्द्र विन्दु है, अतः सबसे स्पृहणीय है। नयन में मृगत्व के आरोप का फल है नायिका के नयन वस्तुतत्व के अन्वेषक है, इनसे कोई बात ओझल नहीं हो सकती, कोई स्थिति छिप नहीं सकती। यहाँ विभाति का व्यंग्य है फीके पड़ जाना, मन्द पड़ जाना। मध्यभाग का कभी-कभी लचक जाना इतना स्पृहणीय है कि नयन भी उसके सामने फीके पड़ जाते हैं। मन्द पड़ जाते हैं। चतुर्थ वाक्य में नयन में मृगत्व के आरोप का फल पूर्ववत् है। अधर में पल्लवत्व के आरोप का फल हैं। कामिनियों का अधर अमृत कला का आश्रय है, पल्लव स्वरूपता में उसमें वह अमृतकला सुरक्षित रह सकती है। समुद्विजति का भाव है (ओविजी भय चलनयोः धातु से समुद्विजति बना है। इसका अर्थ भय और चलना है, यहाँ चलना ही गृहीत है) नयनरूप मृग अन्वेषक

बुद्धिमान् के पीने के लिए अधर पल्लव में अमृतकला संचलित है, स्पन्दायमान है।

प्रासंगिक समर्थन

दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपमुंक्ष्वेति समादिदेश। पत्र पुट में मेरे दूध का दोहन करके हे पुत्र! पी लो। ऐसा कामधेनु ने दिलीप को आदेश दिया।

वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि। वट के पत्रपुट में सोये हुए बालक मुकुन्द को प्रणाम करता हूँ इत्यादि स्थलों में पत्र में वस्तु का सुरक्षित रहना सिद्ध है।

प्रासंगिक उदाहरण का उपसंहार

यह ऊपर निर्दिष्ट व्याख्यान सकल कवि सम्मत प्रशस्त मार्ग के अनुसार है। आपने शक्यतावच्छेदक कचत्व का आरोप राहु में और वदनत्व का आरोप चन्द्र में, और तो और मध्यत्व का आरोप मृगराज में, नयनत्व का आरोप कमल में करके सकल विद्वत्समाज के लिए उपहसनीय वस्तु का उपस्थापन ही किया। कोई भी किसी भी प्रकार शास्त्रानुकूल समन्वित पथ उपस्थित नहीं किया। अतः विचारणीय है।

यह तो हुआ पृथक् पृथक् पदों में लक्षणा के स्वरूप का निदर्शन। किन्तु सम्पूर्ण श्लोक का भाव यह है कि कोई चाटुकार प्रणयी अपनी रुष्ट प्रणयिनी को प्रसन्न करने के लिए उसकी प्रशंसा करता है कि आपके अवयवों के सम्बन्धी वस्तु जैसे कच एवं आपके अवयव दोनों बहुत ही महनीय हैं। अपनी विलक्षण महत्ता से एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। तब मादृश जनों को प्रभावित करके वशीभूत कर लेवें तो आश्चर्य ही क्या है। वह विलक्षण महत्ता क्या है, उसकी व्याख्या ऊपर दिखा चुके हैं।

साहित्यिक मत में लक्षणा का स्वरूप

तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के बल पर प्रतिपाद्य अर्थ के सम्बन्धी अर्थ का प्रतिपादन करने वाली जो शब्द की आरोपित वृत्ति है, उसका नाम लक्षणा है।

आलंकारिक मत में लक्षणा पदवृत्ति एवं वाक्यवृत्ति दोनों है, अतः प्रतिपादन के योग्य अर्थ प्रतिपाद्य कहा है। वह अर्थ यदि अभिधा से प्रतिपाद्य

होगा तो अभिधेय कहलाएगा और यदि वाक्य से वह अर्थ प्रतिपाद्य हुआ तो वाक्य प्रतिपाद्य वाक्यार्थ कहलाएगा। प्रतिपाद्यत्व अभिधेय, लक्ष्य एवं व्यंग्य तथा ज्ञाप्य बोध्य सभी में रहेगा, अतः वाक्य ज्ञाप्य या वाक्य बोध्य भी प्रतिपाद्य कहलाएगा।

रूढि या प्रयोजन के बल पर कहने का अभिप्राय है। जैसे "घट-घट व्यापक राम" इस वाक्य में दो बार घट शब्द का प्रयोग क्यों किया? क्या इसका यह मतलब है कि कुम्हार ने जितने घड़े बनाए हैं उन सब में भगवान् राम व्याप्त हैं! इस तरह अर्थ करने पर घट घट व्यापक राम इस वाक्य का अर्थ संगत हो गया। किन्तु यह मुख्य अर्थ विवक्षित नहीं है तब वक्ता का तात्पर्य क्या है? किस तात्पर्य से किस अभिप्राय से वक्ता ने इस शब्द का प्रयोग किया है। इसका निर्णायक कौन? इस समस्या का हल करने के लिए लक्षण में "रूढि या प्रयोजन के बल पर" कहा। इस तरह रूढि या प्रयोजन तात्पर्य के निर्णायक हैं।

भगवती श्रुति कहती हैं कि "तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्" सृष्टि की रचना करके ईश्वर उसमें प्रविष्ट हो गया। कण कण की रचना ईश्वर ने की और ईश्वर की रचना के बाहर कुछ भी नहीं है अर्थात् ईश्वर सब जगह व्याप्त है।

इस शास्त्रीय सिद्धान्त के आधार पर यह बात रूढ हो गयी है कि "घट घट व्यापक राम"। यहाँ मुख्यार्थ घड़े की अविवक्षा में रूढि के बल पर घट घट की लक्षणा कण कण में है।

प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण देते हैं "गंगायां घोषः" यहाँ पर गंगा शब्द की तीर में लक्षणा है, शीतलता पावनता प्रयोजन है। यह पदगत लक्षणा है। वाक्य में लक्षणा का उदाहरण "मन चंगा तो कठौती में गंगा" यहाँ वाक्य में चंगा पद का मुख्य अर्थ है युवा। युवत्वादि अवस्थाएँ शरीर की होती हैं। मन तो शरीर रहित है और मन का भी यहां सुखादि का साधन इन्द्रियरूप अर्थ नहीं है। कठौती का भी अर्थ पात्र विशेष नहीं है। अगर लकड़ी का बना हुआ पात्र लेते हैं तो गंगा का समावेश यहाँ कैसे हो सकता है। फलतः मन का लक्षणा के द्वारा अर्थ है मनोवृत्ति भावना, चंगा पद का लक्षणा से अर्थ है पवित्र। कठौती अर्थ है कठौती में भरा हुआ जल: भावना यदि पवित्र है तो कठौती में भरा हुआ जल भी गंगाजल की तरह

पवित्र हैं। इसका प्रयोजन है कि यह पवित्र है, यह नहीं है किन्तु इस तरह इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है, मन को निगृहीत करना चाहिए।

"रूढि या प्रयोजन के बल पर" कहने का और भी फल

यदि लक्षण में रूढि या प्रयोजन के बल पर नहीं कहेंगे तो "गंगा में घोष" इसमें तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर गंगा पद का प्रतिपाद्य अर्थ जो प्रवाह है, उसका सम्बन्धी जैसे संयोग सम्बन्ध से तीर है वैसे ही प्रवाह से युक्त तीर में समवेत तीरत्व भी है। फलतः संयुक्त समवाय रूप से प्रतिपाद्य सम्बन्धी होने से तीरत्व भी लक्ष्य हो जाएगा। यदि रूढि या प्रयोजन का लक्षण निवेश करते हैं तो तीरत्व में न रूढि है और न तो प्रयोजन है।

"लक्षणा शब्द की आरोपित वृत्ति है" कहने का फल

गंगा शब्द प्रवाहरूप अर्थ को उपस्थापित करके सफल है, अतः शब्द, बुद्धि एवं क्रिया जब विरत हो जाती है तब उनमें कोई व्यापार नहीं होता है। इस नियम के अनुसार गंगा शब्द तीर का उपस्थापक नहीं होता है। हां, गंगा शब्द से उपस्थापित प्रवाह तीर को लक्षित करता है। इस तरह लक्षणा प्रवाहरूप अर्थ की वृत्ति है न कि शब्द की वृत्ति है। किन्तु वृत्ति शब्द का ही धर्म होता है, इस सिद्धान्त के अनुरोध से अर्थ के धर्म को शब्द में आरोप करते हैं क्योंकि अर्थ शब्द से प्रतिपादित हुआ ही अर्थ का लक्षक होता है।

"तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर" कहने का प्रयोजन

"तात्पर्य ज्ञान लक्षणा का बीज है" इस मत को सभी ने माना है क्योंकि "घट घट में व्यापक राम", "कौओं से दही को बचाओ", "छत्ते वाले जाते हैं" ऐसे सभी उदाहरणों में अन्वय उपपन्न हो जाता है। अतः लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु वक्ता के तात्पर्य विषयीभूत अर्थ "कण कण में सर्वत्र ईश्वर की सत्ता है", मूषक, बिलाव, वानर, कौए जो जो भी दही के नाशक हैं उनसे सबसे दही को बचाओ। एक साथ मिलकर चलने के कारण बिना छत्तेवाले भी छत्ते वाले मालूम पड़ते हैं, इत्यादि अर्थ अभिधा के द्वारा शब्द से नहीं उपस्थापित होते हैं। फलतः "तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर" लक्षणा के द्वारा उन उन अर्थों की उपस्थिति होने से

उपर्युक्त "तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर" इस अंश का लक्षणा में निर्देश करना सफल है।

कुछ लोग अन्वयानुपपत्ति को भी लक्षणा का बीज मानते हैं और उसके लिए "गंगायां घोषः" को उदाहरण देते है। परन्तु विचार करने पर मालूम होता है कि न वह बीज है और न वह उसका उदाहरण है।

कहते हैं कि गंगा शब्द का अर्थ जल है; वह घोष का आधार नहीं बन सकता है। अतः गंगा पद से लक्षणा के द्वारा तीर की उपस्थिति होती है।

इस पर विचार यह होता है कि जैसे "गंगायां घोषः" यहाँ अन्वय के उपपन्न नहीं होने से लक्षणा करते हैं वैसे ही "गंगायां गावश्चरन्ति" यहाँ भी तो वही गंगायां पद है, कैसे अन्वय हो जाता है और लक्षणा क्यों नहीं होती है? अगर कहें कि यहाँ सामीप्यार्थक सप्तमी है अतः गंगा के समीप गायें चरती हैं ऐसा अर्थ होने से कोई अनुपपत्ति नहीं है, तब यहाँ भी वह सप्तमी है और गंगा के समीपवर्ती घोष है। इस तरह अन्वय हो सकता है। इसलिए लक्षणा की क्या आवश्यकता है?

इसके सिवाय "स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्" इस गीता के श्लोक में जैसे घोष पद का अर्थ ध्वनि है उसी तरह गंगायां घोषः इसमें भी घोष पद का अर्थ ध्वनि है। जल में कलकल रव का होना स्वाभाविक है। इस तरह न यहाँ अन्वयानुपपत्ति है और न लक्षणा है।

इस पर यह प्रश्न उठता है कि तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा बीज है और गंगायां घोषः इसमें गंगापद की तीर में लक्षणा है, इस प्रसिद्धि का आधार क्या है? इसका सरल उत्तर यह है। एक सर्वसम्मत नियम है कि पद से पदार्थ की उपस्थिति होने पर उसका अन्वय बोध अवश्य हो जाता है। अगर पद से पदार्थ की उपस्थिति होने पर अन्वय बोध नहीं होता तो "अग्नि से सींचता है" इस वाक्य से शाब्द बोध तो हुआ ही नहीं, तब यह वाक्य संगत नहीं है यह कहना कैसे बनता है? अतः सिद्ध है कि पद से पदार्थ की उपस्थिति होने पर अवश्य ही अन्वय बोध होता है। हाँ, उस प्रकार के अर्थ में वक्ता का तात्पर्य नहीं रहता है। शाब्द बोध हुए बिना यह अर्थ वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है, यह कहना कैसे बन सकता है? अतः अन्वयानुपपत्ति कोई वस्तु नहीं है। जब उसमें वक्ता का तात्पर्य नहीं

है, किसी अन्य अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है, तब वह प्रथम प्रतीत अर्थ अप्रामाणिक है, यह समझना स्वाभाविक है।

अब यह स्थिति उत्पन्न हो गयी कि जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है वह अर्थ मिले कैसे ? क्योंकि उस अर्थ में संकेत नहीं होने से अभिधा शक्ति से वह अर्थ मिल नहीं सकता। अतः उस तात्पर्यविषयी भूत अर्थ की उपस्थिति के लिए लक्षणा शक्ति की उपासना करनी पड़ती है।

अब पुनः प्रश्न उठता है कि अमुक अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है, अमुक में नहीं, इसका विनिगमक कौन? उत्तर :—सिद्धान्त है कि इस तात्पर्य के नियामक जैसे नानार्थक शब्द स्थल में प्रकरणादि हैं वैसे ही लक्षणा स्थल में तात्पर्य के नियामक रूढ़ि या प्रयोजन हैं।

इस बात को उदाहरण से हम समझाते हैं। जैसे "गंगायां घोषः" इस स्थल में "गाँगायां गावश्चरन्ति" गंगा के समीप में गायें चरती हैं, "गुरौ वसति" गुरु के समीप में रहता है, इत्यादि उदाहरणों की तरह गंगा के समीप में घोष है ऐसा अर्थ हो सकता है और संगति भी बैठ जाता है। तब भी लक्षणा क्यों करते हैं अवश्य ही कोई प्रयोजन है। एक हेतु।

दूसरा हेतु है—गंगा के तीर पर पैदा होनेवाले पेड़ों की छाया या वहाँ पर खड़े हुए प्राणियों की छाया गंगा में पड़ती है, उसी तरह घोष की भी छाया गंगा में पड़ती है। इसी को देखकर ऐसी प्रतीति होती है कि मानो गंगा में वे पेड़ हैं, मानो गंगा में प्राणी है, गंगा में घोष है। इस तरह जल में प्रतिबिम्बित वस्तु का जलाशय में रहने का वर्णन कवि लोगों ने अपने काव्यों में किया है। जैसे नैषधीयचरित में श्री हर्ष ने वर्णन किया है :—

तटान्तविश्रान्ततुरंगमच्छटा स्फुटानुबिम्बोदय चुम्बनेन यः।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिवाश्रयन्॥

यहाँ महाराज नल के बगीचे के तालाब का वर्णन है। नल के घोड़ों का समूह उस तालाब के तीर पर पहुँचा है, उनकी परछाई जल में पड़ रही है, उसी को लेकर कवि ने वर्णन किया है कि तीर पर स्थित घोड़ों के समुदाय का प्रतिबिम्ब जल में पड़ रहा है जिससे ऐसी शोभा हो रही है कि हजारों उच्चैःश्रवा घोड़े उस तालाब में आश्रय पा कर रहते हैं।

ऐसे ही माघ कवि ने भी अपने काव्य के तृतीय सर्ग में वर्णन किया है। अस्तु।

इस तरह विना लक्षणा के संगति बैठ जाती है, तब भी लक्षणा करते हैं, अवश्य कोई प्रयोजन है।

तीसरा हेतु है कि घोष पद की मछली अर्थ में लक्षणा करने से भी संगति हो सकती है तब फिर गंगा पद में ही लक्षणा क्यों ? तो अवश्य कोई प्रयोजन है।

चौथा हेतु है कि गंगाजल में घोष हैं अर्थात् कलकल ध्वनि है, इससे भी संगति हो जाती है तब लक्षणा की क्या आवश्यकता है ? अवश्य कोई प्रयोजन है।

पांचवां हेतु है कि गंगाजल में घोप याने ग्वालों का गाँव कैसे बस सकता है ? इसके लिए गंगा पद की गंगा पुल में या नौका में लक्षणा करके उस पुल पर या नौका पर गाँव बस सकता हैं। इससे भी संगति बैठ सकती है। तब तीर रूप अर्थ ही लक्ष्य क्यों ? अवश्य ही कोई प्रयोजन है।

वह प्रयोजन यह है कि ग्रीष्म ऋतु व्याप्त है, मित्रों में परस्पर वार्तालाप हो रही है कि क्या किया जाए, बड़ी गरमी है। विना ताप के आनन्द से रहना भी मुश्किल है। तब तक किसी मित्र ने कहा कि आप हमारे घर में आइए, वहाँ रहिए क्योंकि हमारा गाँव गंगा में है। जिस प्रयोजन शीतलता को आप चाहते हैं वह शीतलता आपको वहाँ मिलेगी।

यद्यपि ऊपर निर्दिष्ट पांचों अर्थो को लेने से संगति उस वाक्य की अवश्य हो जाती है किन्तु जिस प्रयोजन को मन में रखकर वक्ता ने इस वाक्य का प्रयोग किया था वह तात्पर्य नहीं सिद्ध हो रहा था और जब वह अर्थ मिला तब तात्पर्य सिद्ध हो गया। अतः तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का बीज है। यह सिद्धांत सिद्ध है। अब शंका होती है कि तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर लक्षणा आती है तब लक्षणा अनुपपत्ति को मिटाने के लिए तात्पर्य का प्रकाश या तात्पर्य विशिष्ट का प्रकाश क्यों न करे। इसका उत्तर व्यंजना प्रकरण में कहा जाएगा।

"लक्षणा वृत्ति पद एवं वाक्य दोनों में है"—यह सिद्धांत

नैयायिक लक्षणा को पद की ही शक्ति मानते हैं, वाक्य की नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे अभिधा शक्ति पद ही में है वैसे ही लक्षणा भी पद ही में रहती है है। क्योंकि शक्य सम्बन्ध ही लक्षणा है। वाक्य में अभिधा शक्ति के न होने से शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा का स्वयमेव अभाव है।

मीमांसक वाक्य में लक्षणा मानते है। वे कहते हैं कि "गभीरायां नद्यां घोषः" गम्भीर नदी में घोष है। यहां पर क्या हालत होगी ? क्योंकि गंभीर पद में यदि तीर की लक्षणा करते हैं तो तीर नदी तो नहीं है, अतः तीर का नदी के साथ अन्वय नहीं होने से नदी पद अनन्वित रह जाएगा। अगर नदी पद की तीर में लक्षणा करते हैं तो तीर गम्भीर नही है, इसलिए तीर का गम्भीर के साथ अन्वय नहीं होने से गम्भीर पद अनन्वित रह जाएगा। अगर दोनों पदों में गम्भीर पद की गम्भीर तीर में, नदी पद की नदी तीर में लक्षणा मानते हैं तव गहरी नदी के तीर पर घोप हैं, ऐसी विशिष्ट प्रतीति नहीं होगी, और इसका कोई विनिगमक नहीं है कि नदीपद की गम्भीर नदी तीर में लक्षणा मान ली जाए और गम्भीर पद तात्पर्य ग्राहक मान लिया जाए। या गम्भीर पद की गम्भीर नदी तीर में लक्षणा मान ली जाए और नदी पद तात्पर्य ग्राहक मान लिया जाए।

यह भी नहीं कह सकते हैं कि नदी द्रव्य है और तीर भी द्रव्य है। अतः दोनों का साक्षात्संयोग सम्वन्ध होने से नदीपद की तीर में लक्षणा उचित है। क्योंकि "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिंगास्तु तद्वति" गम्भीर पद गुण-वाचक ही है यह वात नही है जैसे शुक्लादि की स्थिति है वैसी ही गम्भीर पद की भी है। अतः उनकी तरह गम्भीर पद गुणीवाचक भी है। अतः तीर के साथ गुणी का साक्षात्संयोग सम्वन्ध है। अतएव उस गम्भीर पद में भी तीर की लक्षणा हो सकती है।

फलतः पहले गम्भीर एवं नदी का अन्वय वोध हो जायेगा, उसके वाद उसमें घोप की अधिकरणता वाधित है, ऐसा ज्ञान होने पर समुदाय में अर्थात् "गभीरायां नद्याम्" इस वाक्य में लक्षणा मानना आवश्यक है। वाक्य में लक्षणा मानने से अर्थवाद वाक्यों की प्रशस्त्य में लक्षणा है, यह सिद्धांत भी समन्वित हो गया, और "छत्रिणो यान्ति" यहां पर भी छत्रिन् में छत्र प्रकृति एवं इन प्रत्ययों की कोश एवं व्याकरण से पृथक् पृथक् अर्थ में शक्ति प्रसिद्ध है तथा शक्त ही पद है इस नियम के अनुसार छत्रिणः यह पदसमूह रूप वाक्य है और वाक्य में अभिधा शक्ति है नहीं। अतः शक्य सम्वन्ध रूप लक्षणा का उदाहरण कैसा ? यह शंका तथा छत्र पद की एक सार्थ में लक्षणा है इन् प्रत्यय का अर्थ है सम्वन्धी अतः एक साथ वाले जाते हैं, यह अन्वय संगति हुई। या इन् प्रत्यय की एक सार्थ में लक्षणा है। छत्रपद तात्पर्यग्राहक है इत्यादि नानावाद सव समाप्त हो जाते हैं। अतः शक्य सम्वन्ध का नाम

लक्षणा है। इसकी अपेक्षा सामान्य रूप से लघुभूत प्रपिपाद्य सम्बन्ध का नाम लक्षण है, यही उचित होगा।

इन सब झगड़ों की अपेक्षा वाक्य में लक्षणा मानना ही ठीक है। छत्रिणो यान्ति यहाँ छत्री की ही एक सार्थ वाहित्व रूप सम्बन्ध से छत्री, अछत्री के समुदाय में लक्षणा होती है, और "नीलो द्विरेफः" इन दोनों पदों में नैयायिक लक्षण मानता ही है। अतः वाक्य में लक्षणा होती है, यही सिद्धांत है। "विषं मुंक्ष्व" यहाँ पुत्र के प्रति पिता के कहे हुए वाक्य में विप को खाओ कहना नहीं बन सकता है। अतः लक्षणा होती है कि इसके घर में मत खाओ और इसका फल है इसके घर में भोजन करना विप के खाने से भी अधिक अनिष्टकारी है।

लाक्षणिक पद भी अनुभावक होता है

पदों का स्वभाव है कि वे दूसरे पद के अर्थ से मिलकर अपने अर्थ के अनुभव के जनक होते हैं। अतः वे पद आनुभावक होते हैं। यदि दूसरे पद के अर्थ से अपने अर्थ का मिलान नहीं होता हो तो वह पद अनुभावक नहीं होते हैं, अनुभव के शाब्दबोध के जनक नहीं होते हैं। इससे एक सिद्धांत सा बन गया है कि शक्तिमत्पद ही अनुभावक है। लाक्षणिक पद अनुभावक नहीं है। "लाक्षणिकं पदं नानुभाकम्" जैसे "देवदत्तो ग्रामं गच्छति" देवदत्त गाँव को जाता है यहाँ इस वाक्य में देवदत्तादि पद अभिधा शक्ति के द्वारा उपस्थित अपने अर्थों का एक दूसरे के अर्थों से मिलान कर लेते हैं। अतः ये पद अनुभावक हैं। किन्तु गंगायां घोपः इत्यादि स्थलों में जहाँ लक्षणा होती है वहाँ गंगा पद का अर्थ घोप पद के अर्थ से मिलान नहीं करता है, इसका दूसरे से अन्वय नहीं होता है। अतः वह अनुभावक नहीं है। ऐसा कुछ लोगों का कहना है। किन्तु ऐसी बात नहीं है।

यदि यह सिद्धांत होता तो गंगापद से उपस्थित तीर रूप अर्थ का घोप पद के अर्थ के साथ प्रतियोगी रूप से अन्वय नहीं होता, और अन्वय हुए विना शीतलता वगैरह की प्रतीति भी नहीं होती। अगर यहाँ लक्षणा करने पर भी जिसके लिए लक्षणा की जाती है वह फल प्रतीत न होवे तो लक्षणा करना ही व्यर्थ है। अतः लाक्षणिक पद भी अनुभावक है, अन्वय के अनुभव का जनक है। अतः लाक्षणिकं पदं नानुभावकम् यह प्रवाद मात्र है, सिद्धांत भूत नहीं है।

लक्षणा के भेद

लक्षणा दो प्रकार की है—निरूढ़ा और प्रयोजनवती। ये दोनों भी दो प्रकार की है। निरूढा शुद्धा, निरूढ़ा गौणी। प्रयोजनवती शुद्धा, प्रयोजनवती गौणी। प्रथम दोनों प्रकार की निरूढाओं के कोई भेद प्रभेद नहीं है। प्रयोजनवती शुद्धा एवं प्रयोजनवती गौणी के भेद प्रभेद होते हैं। जैसे शुद्धा के १—उपादान लक्षणा, २—लक्षित लक्षणा ३—सारोपा और ४—साध्यवसाना चार भेद होते हैं, और गौणी सारोपा व साध्यवासाना दो भेद होते हैं। इस तरह लक्षणा के कुल भेद आठ होते हैं। कहीं-कहीं उपादान को अजहल्लक्षणा, लक्षितलक्षणा को जहल्लक्षणा कहते हैं।

इनके उदाहरण

शुद्धा निरूढ़ा के उदाहरण हैं सरसों का, चमेली का, आँवले का तैल है। तैलपद का अभिधेय अर्थ है तिलों को घाणी में पेरने ते निकला हुआ स्नेह पदार्थ। तव सरसों का तैल यह कहना कैसे बन सकता है? किन्तु प्रसिद्धि हो गई है। और भी वात है कि सरसों को घाणी में पेरने से निकले हुए स्नेह पदार्थ का अपना कोई नाम ही नहीं है सिवाए तैल के। अतः उनके स्नेह को भी तैल कहना निरूढ़ हो गया।

गौणी निरूढ़ा के उदाहरण हैं लावण्य, चित्रतुरग एवं चित्रगजादि। लावण्य पद का अर्थ है लवण रस का धर्म नमकीनपना। किन्तु जैसे दाल में, तरकारी में यदि नमक नहीं रहे तो वे फीके मालूम पड़ते हैं और नमक के रहने ये स्वादु हृदयंगम हो जाते हैं वैसे ही नायिका के मुख में युवकों के हृदय को स्पर्श करने वाली वस्तु नहीं हो तो कोई उसकी तरफ ताके भी नहीं, किन्तु जव वह वस्तु रहती है तव भौंरों के तरह नायक लोग मँडराए रहते हैं। अतः हृदयस्पर्शित्वरूप सादृश्य के कारण नायिका की परम शोभा में लावण्य पद रूढ़ हो गया। आलेख्य गज, फोटो की नायिका, चित्र में घोड़ा ये सव आकार साम्य से हाथी, नायिका, अश्व में निरूढ़ हो गये हैं। शुद्धा सारोपा के 'माधुर्यतम' आदि वहुत से उदाहरण हैं। घी आयु है, नदी पुण्य है, चोर भय है, प्रिया सुख है, जूवा वैर है, गुरु ज्ञान है, ब्राह्मण पूजन श्रेय है। इन्हीं उदाहरणों में से यदि विषय वाचक पदों घृत, नदी वगैरह को हटाकर यह आयु ही है, यह पुण्य ही है इत्यादि रूप से कहा जाए तो ये ही शुद्धा साध्यवसाना के उदाहरण हो जाते है।

सारोपा का प्रयोजन अर्थात् फल है अन्य बादाम वगैरह की अपेक्षा विलक्षणरूप से घी आयु का जनक है। साध्यवसाना का फल है कि घी से आयु बढ़ने में कोई सन्देह ही नहीं है।

गौणी सारोपा के मुखं चन्द्रः गौर्वाहीकः उदाहरण हैं। गौणी साध्यवसाना के मुखमिदम्, गौरयम् उदाहरण हैं। गौणी सारोपा में चन्द्रताद्रूप्य गोताद्रूप्य प्रतीति अर्थात् चन्द्रगत आह्लादकत्वादि गुण सजातीयगुणत्व ज्ञान से चन्द्रपद का लक्ष्य मुख है, गोगत जडत्वादि गुण सजातीय गुणवत्व ज्ञान से गोपद का लक्ष्य वाहीक है, लक्षणा का फल मुख स्पृहणीय है, अतिशय कामद्दीपक है, वाहीक आदरणीय नहीं है, अति अनादरणीय है, यह गौणी साध्यवसाना का फल है।

उपादान लक्षणा के उदाहरण कुन्ताः प्रविशन्ति श्वेतो धावति हैं। कुन्त धारी के प्रवेश में रहने वाला वक्ता का तात्पर्य कुन्तों के प्रवेश से उपपन्न नहीं होता है, अतः कुन्तरूप वाच्यार्थ भी कुन्तधारी रूप लक्ष्यार्थ में प्रविष्ट है अतः उपादान लक्षणा है। कुन्तधारियों को कुन्त पद से कहने का अभिप्राय है, फल है कि कुन्तों की तरह कुन्तधारियों को भी वेध योग्यत्व एवं वेधायोग्यत्व की प्रतीति नहीं है। अतः निर्दय प्रहर्तृत्व ही मूल है। "श्वेतो धावति" इसमें सफेद गुण वाला घोड़ा और घोड़ों की अपेक्षा इतना तेज दौड़ता है कि घोड़े के अवयव नहीं दिखाई पड़ते हैं, सफेद रंग ही दौड़ना मालूम पड़ता है। अतः घोड़े के अवयवों का नहीं दिखाई पड़ना ही फल हैं। साहित्य दर्पणकार ने इसको रूढि का उदाहरण लिखा है। इसकी बात वे ही जाने कि क्यों लिखा है।

लक्षण लक्षणा का उदाहरण "गंगायां घोषः इसको देते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रश्न उठता है कि गंगा पद से गंगा तीर उपस्थित होता है या तीर मात्र उपस्थित होता है? गंगापद से जब गंगा तीर उपस्थित होता है तभी यमुनादि नदियों के तीर की अपेक्षा गंगा की विलक्षणता के कारण गंगा तीर में विलक्षण धर्मो की प्रतीति हो सकती है जो कि वक्ता को विवक्षित है। विवक्षित अर्थ की अनुपपत्ति होने पर ही लक्षणा की उपासना की जाती है, यह विवक्षित अर्थ तभी मिल सकता है जब गंगापद से गंगातीर की उपस्थिति है। अतः गंगा पद की लक्षणा गंगा तीर में है। अगर गंगा पद से तीर यमात्र की उपस्थिति मानते हैं, प्रतियोगितया घोष में अन्वित होने वाला तीर, मुना वगैरह का तीर क्यों न लिया जाए, इसका नियारक कौन? अगर

कहें कि वह गंगा पद ही है तब इसका अर्थ हुआ कि गंगा तीर रूप अर्थ गंगा पद से उपस्थित हुआ। जब गंगा पद का अर्थ गंगा तीर हुआ तब लक्षित लक्षणा या जहल्लक्षणा का उदाहरण गंगायां घोषः कैसे हुआ? लक्षित लक्षणा का उदाहरण कहना असंगत है। इसी तरह द्विरेफ पद का अर्थ है दो रेफ वाला, यहाँ रेफ वर्ण है अतः रेफ-द्वय वर्णघटित भ्रमर पद लक्ष्य हुआ। उससे क्रूर निर्ह्राद आदि पदों की व्यावृत्ति और भृंग व्यक्ति की प्रतीति होती है। अतः लक्षित लक्षणा या जहल्लक्षणा का उदाहरण मानना भी असंगत है। क्योंकि मुख्यार्थ त्याग नहीं है और अमर कोषकार ने भृङ्ग के नामों में द्विरेफ नाम का उल्लेख किया है।

"द्विरेफ पुष्पलिड् भृङ्ग षटपद भ्रमरालयः"। यहाँ द्विरेफ पद का विग्रह ऐसा है जिस व्यक्ति के नाम वाचक पद (भ्रमर पद) में दो रेफ हों वह व्यक्ति द्विरेफ पद वाच्य है। इस तरह लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है। और शक्ति ग्राहक प्रमाणों में कोष भी प्रमाण है। अतः लक्षित लक्षणा का उदाहरण कहना असंगत है।

लक्षित लक्षणा का उदाहरण है "उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते" ऐसे विरोध स्थल। यहाँ अपकारी को उपकार किया कहना युक्ति संगत नहीं है, अतः शक्यार्थ का परित्याग करके अशक्यार्थ का ग्रहण किया। "सेतुबन्धे नरः स्नात्वा" यहाँ स्नान जल में होता है, पुल में स्नान नहीं हो सकता है अतः सेतूपलक्षित समुद्र लिया जाता है। सेतु पद ने यहाँ अपना अर्थ छोड़ दिया है। पुष्पं जिघ्रति, पुष्प को सूँघता है, यहाँ सूँघना सौरभ का है अतः पुष्प ने अपना अर्थ छोड़ दिया, ऐसी जगहों में लक्षितलक्षणा या जहल्लक्षणा है।

"कौओं से दही को बचाओ" यहाँ पर दही को झूठा कर देने वाले अस्पृश्य, और बालक, काक, बिडाल, कुक्कुट एवं कुत्ता वगैरह के विषय में रहने वाला तात्पर्य केवल कौओं से दही को बचाओ कहने से उपपन्न नहीं होता है। अतः काक शब्द का प्रतिपाद्य जो काक व्यक्ति उसके सम्बन्धी उच्छिष्ट करने वाले अस्पृश्य, बालक प्रभृति सभी व्यक्ति लक्ष्य हुए। उनमें काक भी प्रविष्ट है अतः उपादान लक्षणा ही है।

व्यंजना शक्ति निरूपण

अभिधा शक्ति एवं लक्षणा शक्ति के निरूपण के बाद व्यंजना का निरूपण अवसर प्राप्त है। इसके विषय में अच्छा एवं पूरा विवाद एवं

कोलाहल लोगों ने किया है। उसका उत्तर भी काव्य प्रकाशादि में विस्तार से दिया है। तथापि अपनी जानकारी को दुहराने के लिए तथा वह मेरी जानकारी कितनी तथ्यात्मक है इस बात को विद्वानों के समक्ष उपस्थित करने के लिए व्यंजना के विरुद्धवादियों की युक्तियाँ, उसके वाद, उनका सर्वसम्मत खण्डन दिखला कर व्यंजना का स्वरूप दिखालाया जाएगा। क्योंकि "अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते" रात्रि के किए हुए अन्धकार को जब तक सूर्य अपनी प्रभा से हटा नहीं देता है तब तक उदित नहीं होता है। अतः पहले विरुद्धवादियों की युक्तियों का खण्डन किये बिना व्यंजना का स्वरूप दिखलाना सम्भव नहीं है। अतः उन युक्तियों को दिखलाते हैं।

व्यंजना के विरुद्धवादियों की शैलियाँ

व्यंजना के विषय में अपना विरोध प्रकट करने वालों ने कई शैली से उसको प्रकट किया है, उनमें मुख्य अंश तीन हैं और अवान्तर प्रकार ६ हैं।

१—काव्य में रसादि स्थल में मुख्य रूप से व्यंजना का लक्षण संगत नहीं होता है।

२—व्यंजना नाम की कोई अलग वृत्ति नहीं है, उसका मानी हुई वृत्तियों में ही अन्तर्भाव है।

३—व्यंजना यदि वृत्तियों की परिधि से बाहर है, तब वह है ही नहीं।

इनमें प्रथम अंश एक ही प्रकार का है, उसके अवान्तर भेद नहीं हैं।

द्वितीय अंश में चार प्रकार हैं। पहला अभिधा में व्यंजना का अन्तर्भाव, दूसरा लक्षणा में उसका अन्तर्भाव, तीसरा तात्पर्याख्या नामक वृत्ति में अन्तर्भाव, चौथा रसना नाम से व्यवहार होना।

तृतीय अंश में व्यंजना अनुमान है या सम्भावना है या भावना है या मानस बोध है या आक्षेप है।

रसादि स्थल में मुख्य रूप से व्यंजना का लक्षण संगत नहीं होता

रसादि स्थल में मुख्य रूप से व्यंजना का लक्षण संगत नहीं होता है किन्तु औपचारिक रूप से व्यंजना का व्यवहार है। यह एक आशंका महिम भट्ट की है। यही विद्वान नैयायिक महिम भट्ट स्वयं अभिव्यक्ति व्यंजना का लक्षण लिखते हैं और उसके भेद प्रभेदों का निरूपण करते हैं। उनमें से

पहले भेद का स्वरूप संगत नहीं होता है। दूसरे भेद का स्वरूप संगत होता है किन्तु वह भी मुख्य रूप से संगत नहीं होता है होता है जो कहते हैं यह उनका भ्रम है। अतः उसको औपचारिक प्रयोग लाक्षणिक व्यवहार कहना चाहिए। यह बात अनुमान में ध्वनि का अन्तर्भाव करने की झोंक में कह गये।

इसका स्पष्टीकरण यह है। ध्वनिकार ने ध्वनि का शिलान्यास करने के लिए उसकी भूमिका करते हुए लिखा है कि :—

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदा वुभौ स्मृतौ ॥

सहृदयों के द्वारा श्लाघनीय प्रशंसनीय होने के कारण जो अर्थ काव्य की आत्मा के रूप से व्यवक्षित है उस आत्मभूत अर्थ के दो भेद हैं—वाच्य और प्रतीयमान। यह एक संगति है।

अर्थ के दो भेद हैं—वाच्य और प्रतीयमान वह वाव्य की आत्मा के रूप में व्यवस्थित व्यवहृत है उनमें जो सहृदय श्लाघ्य अर्थ है। यह द्वितीय संगति है।

यहाँ दो संगति कहने का यह भाव है कि प्रतिज्ञा की है ("तेन ब्रूमः सहृदय-मनः प्रीतये तत्स्वरूपम्" इसलिए सहृदयों को प्रसन्न करने के लिए ध्वनि का स्वरूप कहते हैं।) यहां प्रतिज्ञा करते हैं ध्वनि के निरूपण करने की और कहते हैं वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं। इसमें शंका होती है कि ध्वनि का भेद वाच्य है यह कथन कैसे हो सकता है क्योंकि ध्वनि भी हो और वही वाच्य भी हो यह एक काल में एक ही ध्वनि व्यक्ति के लिए त्रिकाल में भी संभव नहीं है। विभिन्न काल में भी यदि सम्भव हो सकता है तो वस्तु ध्वनि या अलंकार ध्वनि के लिए हो सकता है। रस रूप ध्वनि के लिए वह भी सम्भव नहीं अतः ध्वनि के भेदों में वाच्य नाम का कोई भेद वन नहीं सकता है। प्रथम संगति में यह आपत्ति है।

द्वितीय संगति में अर्थ के दो भेद हैं—एक अर्थ वाच्य है दूसरा प्रतीयमान है। उनमें सहृदय श्लाघ्य प्रतीयमान अर्थ काव्य की आत्मा के रूप में व्यवस्थित है। इसमें शंका होती है कि वस्तुतत्व ठीक होने पर भी अक्षरों से यह अर्थ कैसे आया।

उत्तर :—भगवती श्रुति कहती हैं कि "एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म", "नेह नानास्ति किंचन" सजातीय विजातीय एवं स्वगत भेद शून्य ब्रह्म है। यहाँ देश एवं काल में नाना अर्थात् विभिन्न वस्तु कुछ भी नहीं है। जिन ब्रह्म के विषय में कहा गया है कि ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं। ब्रह्म की जाति का

या ब्रह्म की जाति से विरुद्ध जाति का कोई अलग पदार्थ नहीं है। और तो और ब्रह्म में अपने आप का भी भेद नहीं है। जैसे "राहु का शिर" यह अपने आप में भेद है। केतु के शिरो भाग का नाम ही तो राहु है। फिर राहु का शिर यह भेद कैसे? तथापि काल्पनिक भेद है। यह भेद भी ब्रह्म में नहीं है। फिर भी ब्रह्म को समझाने के लिए (जन्माद्यस्य यतः जिससे इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलीनता होती है) इस तरह भेद को ही सामने रखते हैं। उसी प्रकार प्रकृत में "ध्वनि" अर्थ है वह अर्थ प्रतीयमान है। अर्थात वह किसी से प्रतीत होता है। तब आकांक्षा होती है कि किससे प्रतीत होता है? आकांक्षा की शान्ति के लिए कहना आवश्यक है कि वह प्रत्यायत्क भी अर्थ ही है, जिसका नाम वाच्य है।

फिर शका होती है कि यही बात समझाना है तब ब्रह्म को तरह दो बार में समझाते। उत्तर :—एक ही अंश (अभेद में भी भेद होता है) में साम्य है, अन्य अंश में साम्य नहीं है। क्योंकि ब्रह्म के ज्ञान होने पर संसार कहाँ (ज्ञाते तत्वे कः संसारः) किंतु ध्वनि के विषय में यह अंश लागू नहीं पड़ता। यहाँ तो ध्वनिकार लिखते हैं कि (न हि व्यंग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरी भवति वाच्याविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्) व्यंग्य की प्रतीति के समय वाच्य की प्रतीति दूर नहीं होती। क्योंकि वाच्य के सम्बन्ध से ही व्यंग्य की प्रतीति होती है।

फलतः प्रतीयमान को अर्थात् प्रत्याय्य को समझाने के लिए प्रत्यायक को उसके स्वरूप में समझाना आवश्यक हो जाता है, उसके बिना भागासिद्धि दोष हो जाता है। इसलिए प्रतिज्ञात अर्थ को ही आचार्य ने लिखा, प्रतिज्ञात के बाहर नहीं लिखा। संगति की यह कथा हुई।

और जो इस संगति के विषय में जो आशंका थी उसका उत्तर यह है "पाठ-क्रमादर्थ क्रमो बलीयान्"। पाठ क्रम से अर्थ क्रम बलवान् है इस शास्त्रीय नियम के अनुसार अक्षरों को व्यवस्थित करके संगति करने में कोई दोष नहीं है।

अब प्रकृत विषय पर आते हैं। "अर्थः सहृदय श्लाघ्यः" इस पद्य में ध्वनिकार ने प्रतीयमान को काव्य की आत्मा कहा और वाच्यार्थ उसी के निरूपण में प्रत्यायक रूप से स्वतः कहा गया। इसके बाद आगे चलकर ध्वनिकार कहते हैं कि (घटप्रदीपन्यायः तयोः) यह कैसे? तब समझाते हैं कि व्यंजकत्व मार्गे तु पदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासौ अन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्।

प्रत्याय्य एवं प्रत्यायक में घट प्रदीपन्याय है। अर्थात् अन्धेरे घर में दीपक जलाने पर प्रकाशक और प्रकाश्य वस्तुओं की एक साथ ही प्रतीति होती है क्योंकि व्यंजकत्व अर्थात् व्यंजना के मार्ग में अर्थ अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थ का प्रकाशक होता है जैसे दीपक, इत्यादि घट प्रदीप न्याय का उल्लेख करके वाच्य प्रतीयमान में व्यंग्य व्यंजक भाव सिद्ध किया है। क्योंकि प्रकाश्य वस्तुओं की प्रकाशक के साथ हीं प्रतीति का नाम व्यंजना है, यह सिद्धांत है।

रसादिस्थल में मुख्य रूप से व्यंजन का लक्षण संगति नहीं होता हैं।

इसका खण्डन करते हुए व्यक्ति विवेककार व्यक्तिविवेक में पृष्ठ ५३ में लिखते है, "केवलं रसादिष्वनुमेयेष्वयमसंलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभाव इति सहभावभ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रान्येपां व्यंग्यव्यंजकमावाभ्युपगमः, तन्निवन्धनश्च ध्वनिव्यदेशः। स तु तत्रौपचारिक एव प्रयुक्तो न मुख्यः तस्य वक्ष्यमाणनयेन बाधितत्वात्। उपचारस्य च प्रयोजनं सचेतनचमत्कारकारित्वं नाम' तद्धि मुख्ये चित्रपुस्तकादौ व्यक्तिविपये परिदृष्टमेव।

रसादि ध्वनियाँ अनुमेय हैं। इनमें रसादि गम्य हैं, वाच्य गमक है, यह क्रम न मालूम हो कर यही मालूम होता हैं कि वे दोनों एक साथ प्रतीत होते हैं। किन्तु वे एक साथ नहीं मालूम होते हैं, यह सिद्ध है। केवल एक साथ प्रतीति की भ्रांति है। इस भ्रांति के कारण अन्य आचार्य रसादि में व्यंग्य व्यंजक भाव मानते हैं, और उस भ्रांतिमूलक व्यंग्य व्यंजक भाव के कारण ही रसादि में ध्वनि शब्द का व्यपदेश करते हैं। वस्तुतस्तु वह व्यपदेश औपचारिक है, लाक्षणिक है, मुख्य प्रयोग नहीं है। क्योंकि यह प्रयोग आगे कहे जानेवाले नयों से बाधित है। लक्षणा का प्रयोजन यहाँ है सहृदयों को चमत्कार की अनुभूति। वह चमत्कार मुख्यतया नायिका वगैरह की फोटो में देखा ही जाता है। इत्यादि खण्डन करके व्यक्ति का स्वरूप बतलाते हैं :–
नापि वाच्य प्रतीयमानयोः मुख्यवृत्या व्यंग्य व्यंजक भावः सम्भवति व्यक्ति-लक्षणानुपपत्तेः। तथा हि। सतोऽसत एव वार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्ध-स्मरणानवेक्षिणा प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविपयतापत्तिरभिव्यक्तिरिति तल्लक्षणमाचक्षते। (पृष्ठ ७६)

वाच्य और प्रतीयमान में मुख्यवृत्ति से व्यंग्य व्यंजक भाव सम्भव नहीं हो सकता है क्योंकि व्यक्ति का लक्षण उसमें अनुपपन्न है। जैसे प्रकाशित होनेवाला जो अर्थ है वह चाहे सच्चा हो या चाहे झूठा हो, उसके सम्बन्ध ज्ञान की पर्वाह नहीं करनेवाले प्रकाशक के साथ ही होने वाली प्रतीति का

नाम अभिव्यक्ति है ऐसा आचार्य लोग कहते हैं। जिसमें सच्चे अर्थ की अभिव्यक्ति तीन प्रकार की है। तत्र सतोऽभिव्यक्तिस्त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्। तत्र कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरत्वापत्तिलक्षण आविर्भाव एका, यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः।

तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशकेनौपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया, यथा प्रदीपादिना घटादेः।

तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः कुतश्चिदव्यभिचारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद्वा संस्कारप्रबोधमात्रं तृतीया, यथा धूमाद् वह्नेः।

न चैतल्लक्षणं वाच्ये संगच्छते। तथा हि—सतोऽभिव्यक्तिराद्ययोरर्थयोर्लक्षणं न प्रत्सप्रतीयमानेष्वेकमपि संस्प्रष्टुं क्षमते तस्य दध्यादेरिवेन्द्रियविषयभावापत्तिप्रसंगाद् घटादेरिव वाच्यार्थसहभावेनेदन्ताप्रतीतेरसम्भवात्।

तृतीयस्यास्तु यल्लक्षणं तदनुमानस्यैव संगच्छते, न व्यक्तेः।

उन तीन प्रकार की व्यक्तियों में पहली का लक्षण है जो कार्य, कारण में शक्त्यात्मना अवस्थित होने से इन्द्रियों का विषय नहीं होता था उसका इन्द्रियों का विषय हो जाना ही आविर्भाव है, यही पहली अभि व्यक्ति है। जैसे दही दूध में ही था किन्तु इन्द्रियों से ओझल था। जब कारण रूप में था तब तक दही नहीं कह सकते थे। जब क्रिया विशेष से इन्द्रियों का विषय हुआ तब दही कहने लगे। इसी का नाम नैयायिक उत्पत्ति मानता है, सांख्य वाले इसे आविर्भाव कहते हैं।

वही आविर्भूत वस्तु किसी प्रतिबन्धक के कारण अप्रकाशित अवस्था में थी किन्तु प्रदीप के जलाने पर साधनभूत प्रकाश के साथ ही जब उसका प्रकाश हो जाए तो वह प्रकाश ही द्वितीया अभिव्य व्यक्ति है। जैसे दीपक से घट का प्रकाश।

पहले कहीं स्थल विशेष में अनुभव किये हुए इसी लिए संस्कार रूप से अन्तःकरण में वर्तमान किसी नियत वस्तु से जैसे धूम, फोटो, लिपि, प्रतिबिम्ब, अनुकरण या शब्द से संस्कार का उद्‌बोधन यह तृतीया अभिव्यक्ति है जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान।

यह ऊपर बतलाया हुआ अभिव्यक्ति का लक्षण प्रतीयमान में संगत नहीं होता है। जैसे पहलेवाले दो लक्षण तो प्रतीयमान रस, वस्तु एवं अलंकारों में से किसी एक को भी स्पर्श नहीं करता है। स्पर्श करने का अर्थ होगा जैसे

पहली अभिव्यक्ति में दूध का परिणाम दही स्पष्ट आँख से दिखाई पड़ता है, उसी तरह दिखाई पड़ने लगे। द्वितीय अभिव्यक्ति में प्रकाश के साथ ही जैसे "अयं घट" यह घड़ा है, उसी तरह वाच्यार्थ के साथ ही यह व्यंग्य है यह प्रतीति होने लगे परन्तु दोनों जगह में लक्षण स्वरूप को स्पर्श नहीं करता है। "न हि स्वरूपाऽसंस्पर्शि लक्षणं भवति" जो स्वरूप को स्पर्श ही नहीं करे वह लक्षण नहीं है। अतः लक्षण संगत नहीं है।

तीसरी अभिव्यक्ति का जो लक्षण है वह अनुमान में ही संगत होता है न कि व्यक्ति में।

यह सब लेख हस्तिस्नान की तरह हैं। जैसे हाथी पहले नहाता है और फिर सूँड़ से अपने शरीर पर धूल फेंक लेता है उसी तरह तीन प्रकार की अभिव्यक्तियाँ लिखी, तीनों के लक्षण लिखे, उदाहरण भी लिखे, अन्त में कहते हैं कि यह तीसरा लक्षण अभिव्यक्ति का नहीं है, अनुमान का है। हम पूछते हैं कि ये विभाग, लक्षण, उदाहरण किसके सिद्धांत के अनुसार आपने लिखे ? जिस आचार्य सम्मत ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं उस आचार्य ने कहीं अपने ग्रन्थ में ऐसा प्रतिपादन किया है ? नहीं प्रतिपादन किया है तब अपनी बात का अपने से ही निषेध करना क्या हुआ ? हस्तिस्नान के समान ही तो हुआ।

द्वितीय अभिव्यक्ति का स्वरूप जिसको ध्वनिकार ने स्वीकृत किया है उसको आप भी अनुमान नहीं कहते हैं तब अनुमान में ध्वनि का अन्तर्भाव करना वही हुआ जैसे "आम्रान् पृष्टः कोविदारानचष्टे" आम कैसे हैं ? पूछने पर कहता है कि कोदो अच्छे हैं। अतः अनुमान में सकल ध्वनियों का अन्तर्भाव करने के लिए व्यक्ति विवेक बनाता हूँ, यह प्रतिज्ञा ध्वस्त हुई।

और भी बात है। तीन प्रकार की अभिव्यक्तियों में से तीसरे स्वरूप को यदि आप अनुमान मानते हैं तब व्यक्ति में अनुमान का अन्तर्भाव हुआ न कि अनुमान में व्यक्ति अन्तर्भाव हुआ। क्योंकि आप ही के लेख के अनुसार यह तीसरा भेद व्यक्ति का है। तीसरापन अपेक्षा रखता है दूसरे और पहले की। पहले और दूसरे भेद व्यक्ति के हैं तब तीसरा भी व्यक्ति का ही है।

जैसा कि आपका लेख है "तत्र सतोऽभिव्यक्तिस्त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्" सत् की अभिव्यक्ति तीन प्रकार की है क्योंकि वह तीन प्रकार का है। यह आपकी गज निमीलिका है। हाथी जैसे वस्तु को सामने देखता है तथापि

आँख वन्द कर लेता है उसी तरह आप स्वयं सिद्धवत् वस्तु का प्रतिपादन करते हैं और स्वयं उसको भूल जाते हैं।

अनुमान में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है इस बात का स्पष्टीकरण के आगे प्रघट्टक में करेंगे।

आप लिखते हैं कि द्वितीय अभिव्यक्ति का लक्षण प्रतीयमानों में से किसी एक को भी स्पर्श नहीं करता। क्योंकि प्रदीप के जलाने पर प्रकाश के साथ ही "यह घड़ा है" यह प्रतीति जैसे होती है वैसे वाच्यार्थ के साथ ही यह रस है या यह वस्तु है या यह अलंकार है यह प्रतीति नहीं होती।

इसका उत्तर सुनिए। यहाँ आपने हेतु में दो अंश कहे हैं। एक अंश है यह रसादि हैं ऐसी प्रतीति नहीं होती और दूसरा अंश है वाच्य और प्रतीयमान में क्रम है। वाच्य का ज्ञान पहले होता है फिर पीछे प्रतीयमान का ज्ञान होता है। इनमें सहभाव नहीं है, सहभाव होने पर व्यंजना का लक्षण संगत होता है, केवल सहभाव का भ्रम है। अतः औपचारिक रूप से व्यंजना है, मुख्य रूप से नहीं है।

प्रश्न के प्रथम अंश का उत्तर यह है कि पद्य के वाच्यार्थ के प्रतीत होने पर यह रस है या यह वस्तु है या यह अलंकार है यह प्रतीति अवश्य होती है। यदि वैसी प्रतीति नहीं होती तब यह पद्य अमुक रस का उदाहरण है, अमुक रस का नहीं। यहाँ अमुक वस्तु ध्वनित होती है यहां अमुक अलंकार ध्वनित होता है, अमुक नहीं होता है, यह व्यवहार कैसे होता ? यह व्यवहार ही सिद्ध करता है कि उपर्युक्त प्रतीतियां होती हैं।

दूसरे अंश का उत्तर यह है कि वाच्य अर्थ एवं प्रतीयमान के सहभाव के न होने की समस्या में आप व्यर्थ उलझे हुए हैं। हमारे यहाँ तो वक्ता के द्वारा शब्द के पूरे रूप में उच्चारण किये विना ही अर्थात् वक्ता श्रोता को अपने मन का भाव समझाने के लिए वाक्य के अन्तर्गत किसी पद को अभी पूरा नहीं बोल सका है, किन्तु बोल रहा है, उतने में तो श्रोता ने उसके कितने तूफानी भावों को समझ लिया। अत; सह भाव नहीं होने का आपका स्वप्न मात्र है। इसी लिए तो ध्वनिकार ने असंलक्ष्य क्रम कहा। हमारे यहाँ तो नायिका का मान पहले ही चला जाता है, उसके बाद मनुहारन होती है। अग्रे मानो गतः पश्चादनुनीता प्रियेण सा।

वाच्य अर्थ एवं प्रतीयमान के सहभाव न होने के भ्रम को एक ऐतिहासिक तथ्य के द्वारा निकालने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि आप अपने भ्रम को दूसरों पर आरोप करते हैं, अतः भ्रम निवारण करना आवश्यक है।

राजस्थान में जोधपुर रियासत के अन्तर्गत नागोद राज्य है। मैं (लेखक) वहाँ गया हूं, वहाँ की बातों को सुना समझा है। वहाँ के युवक राजा अमरसिंह राठौर दिल्ली के बादशाह मुहम्मद तुगलक की सेना के नायकों में से एक थे। सेना का सेनापति बादशाह का साला था जो कि उनकी शूरता से कुढता था। अमरसिंह को द्विरागमन के अवसर पर घर जाने के लिए अवकाश की आवश्यकता थी। अतः सेनापति से तीन महीने के अवकाश की प्रार्थना की। अन्ततो गत्वा तीन दिन का अवकाश स्वीकृत हुआ। एक दिन जाने का, एक दिन ठहरने का और एक दिन पुनरावर्तन का स्वीकृत हुआ। वहाँ घर पहुँचने पर तीन मास व्यतीत हो गये।

तीन मास के बाद जब वे शाही दरबार में उपस्थित हुए तब सेनापति, बादशाह के साले ने राठौर साहब को अपमानित करने की भावना से "ये लोग समय का मूल्य क्या जानें आखिर राजपूत जाति गँवार होती है" इस वाक्य के गँवार पद के गँ को उच्चारण किया ही था कि तलवार निकल पड़ी और उस सेनापति के वार कहने के पहले ही तलवार का वार कर दिया गया, उसको मार डाला। जैसा कि प्रसिद्ध हैं :—

इत गंकार मुख से कह्यो उत निकसी जमधार
वार कहन पायो नहीं वार कियो तत्काल।

इस इतिहास से सिद्ध हैं कि पूरे शब्द के बिना कहे भी वक्ता के भाव को सहृदय लोग लख लेते हैं। प्रतिदिन का अनुभव ही प्रमाण है कि किसी वक्ता ने कुछ कहना शुरू किया कि सहृदय श्रोता ने कहा कि बस-बस में समझ गया कि आप क्या कहना चाहते हैं, आगे कहने की आवश्यकता नहीं। यदि कहीं मूर्ख श्रोता हुआ तो कहने से समझना तो दरकिनार, समझाने पर भी नहीं समझता। अतः यह काव्योद्यान प्रतिभाशाली व्यक्तियों के विहार की वस्तु है, शुष्क नीरस तर्क से परे है। वाच्य प्रतीयमान में सहभाव नहीं होता है, यह आपका केवल भ्रम है और सब निरर्थक ऊहापोह है।

एक विचार और भी है कि आपने जो यह लिखा कि "तृतीयस्या यल्लक्षणं तदनुमानस्य" तीसरी अभिव्यक्ति का जो लक्षण है वह अनुमान है।

उसमें तीसरी का लक्षण किसी अव्यभिचारी अर्थात् नियत वस्तुविशेष से केवल संस्कार का प्रबोध मात्र है इसमें आपत्ति यह है कि अगर उद्बुध संस्कार को ही अनुमान यानें अनुमिति का हेतु मानेंगे तब नैयायिक आपका परामर्श को कारण मानने का सिद्धांत ही धराशायी हो जाएगा क्योंकि उद्बुद्ध संस्कार को ही अनुमिति का हेतु मानने का प्रकार यह है :—'पर्वत में धूम को देखा' उससे पक्ष पर्वत में धूम की वृत्तिता की स्थिति का ज्ञान हुआ। उस ज्ञान से धूम वह्नि व्यप्य है अर्थात वह्नि निरूपित व्याप्ति का आश्रय धूम है। इस अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार का उद्बोध होता है उससे फिर वह्नि की अनुमिति हुई। इस तरह मध्य में पक्ष धर्मता ज्ञान से यो धूमवान् स वह्निमान इस व्याप्ति के संस्मरण तथा उस व्याप्ति स्मरण से जन्य वह्नि व्याप्य धूम वाला यह पर्वत है, इस परामर्श को मानने की क्या आवश्यकता रह गयी ? इस तरह आपने संस्कार प्रबोध को अनुमति कह कर स्वयं अपने नैयायिकत्व का उपहास किया।

व्यंजना का मानी हुई वृत्तियों में अन्तर्भाव क्यों नहीं

व्यंजना को अलग वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है ? मानी हुई अभिधा या लक्षणा वृत्तियों में ही उसका अन्तर्भाव कर दिया जाए तो क्या क्षति है। अर्थात् व्यंजना का कार्य सिद्ध शक्तियों से हो सकता है।

व्यंजना का अभिधा में अन्तर्भाव वादियों का मत

भट्टलोल्लट वगैरह मीमांसकों का मत है "आरब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्" आरम्भ किये हुए का अन्त तक जाना यह दूसरा बुद्धि का लक्षण है। तदनुसार वाच्यार्थं का ज्ञान कराने के लिए आया हुआ शब्द प्रतीयमान का ज्ञान कराने तक अपना कार्यं करेगा। जैसे एक ही बाण दुश्मन की छाती तोड़ता है और कवच को तोड़ता है और प्राण लेता है अतः व्यंजना की आवश्यकता नहीं।

इनको साहित्याचार्यं उत्तर देते हैं कि आपने दृष्टान्त के एक बाजू का अवलम्बन किया, उसके दूसरी तरफ आपने देखा भी नहीं। बाण जैसे वेग के अनुसार वेग के सापेक्ष होकर ही अपनी क्रिया करता है उसी तरह शब्द भी संकेत अर्थात् शक्तिग्राहक प्रमाणों के द्वारा जिस अर्थ में शक्ति का ग्रहण करता है उसी अर्थ को बतलाता है, अन्य को नहीं बतलाता है। अन्य अर्थों को भी यदि वह शब्द बतलाने लगेगा तो लक्षणा की क्या आवश्यकता है ?

और 'यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोयमागतः' विनाश से जगत की रक्षा करने वाले वीर की पत्नी जिस कार्य के लिए सन्तान पैदा करती है, उसका समय आ गया। यहाँ पर माता (कुन्ती) अपनी सन्तान (पांडवों) को उपदेश देती है कि 'इस ब्राह्मण की रक्षा करो, जाओ, युद्ध करो।' यहाँ पर किस व्याकरण आदि प्रमाण ने युद्ध करो आदि अर्थों में शक्ति ग्रहण कराया। तब भी शब्द इन अर्थों का बोध कराता है, किसके सहारे ? जिसके सहारे बोध कराता है वह व्यंजना शक्ति है। अतः व्यंजना मानना परमावश्यक है, अभिधा से कार्य नहीं चलेगा। यह स्थिति एक ही अर्थ का बोध कराने वाले शब्दों के विषय की है।

नानार्थक शब्द विषयक स्थिति

अभिधावादियों का कहना है कि जिस शब्द का शक्ततावच्छेदक याने उसकी आनुपूर्वी (जैसे सैन्धव—स, ऐ, न्, ध्, अ, व् अ) एक हो और शक्यतावच्छेदक (जैसे अश्वत्व और लवणत्व) नाना हो वह शब्द नानार्थक कहलाता है।

जैसे अश्व रूप अर्थ सैन्धव शब्द का शक्य है उसी तरह लवण रूप अर्थ भी उस शब्द का शक्य है। अतः दोनों अर्थ अभिधेय हैं। या जिस अर्थ में प्रकरण है उस अर्थ में प्रथम तात्पर्य निर्णय हुआ अतः उसका प्रथम बोध हुआ। दूसरे अर्थ का बोध बाद में हुआ। दोनों अर्थ अभिधेय हैं संकेत दोनों अर्थो में तुल्य है किन्तु प्रथम प्रकरणसहित है, दूसरा प्रकरणशून्य है। अतः नानार्थक स्थल में अर्थान्तर प्रतीति अभिधासे नहीं होती है। अगर कहें शब्द का संकेत सभी अर्थो में समान होने से सभी अर्थ खलेकपोत न्याय से एक साथ उपस्थित होंगे, अतः किस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है इसमें सन्देह होने पर प्रकरणादि को नियामक बनाया गया। अतः अभिधा उसी अर्थ को बतलाएगी जिस अर्थ में उन नियामकों के द्वारा तात्पर्य का निर्णय हुआ है। उसकी अपेक्षा दूसरे अर्थ को यदि बतलाने की वह चेष्टा करे भी तो वे नियामक रोक देंगे। अतः दूसरे अर्थ को बतलाने के लिये व्यंजना मानना आवश्यक है।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि प्रकरणादि बहुत हैं, उनका कोई एक अनुगमक नहीं है, और वे प्रकरणादि अनियत भी हैं जिसका फल होता है कि कभी भोजन प्रकरण में सैन्धव पद का अर्थ लवण और कभी गमन प्रकरण

में उसका अर्थ अश्व होता है। कदाचित् भोजन प्रकरण में गमन का तात्पर्य भी उपस्थित हो सकता है (जैसे मित्रों के यहाँ वैवाहिक महोत्सव में भोजन के लिए ग्रामान्तर गमन उपस्थित होने पर) उस अवस्था में सन्देह भी हो सकता है फलतः प्रकरणादि नियन्त्रित तात्पर्य ज्ञान शब्दबोध का कारण नहीं मानकर केवल तात्पर्यज्ञान को शाब्द बोध का कारण माना जाता है। वह तात्पर्यज्ञान दोनों में है अतः अभिधा से दोनों अर्थों का बोध हो जाएगा, व्यंजना की क्या आवश्यकता है ?

इस पर अन्य आचार्य कहते हैं कि तात्पर्यज्ञान शाब्द बोध का कारण है यह भी नियम साधु नहीं है क्योंकि 'तात्पर्यं न तुलाधृतम्' तात्पर्य कोई तराजू से जोखा तो है नहीं। जैसे किसी वैद्य के यहाँ कोई रोगी गया। वैद्य ने रोगी की परीक्षा की और दवा दी और कहा 'न नूनं त्वया भोक्तव्यम्।' वैद्य ने इस तात्पर्य से कहा कि निश्चय तुम कुछ खाना नहीं। वह घर को चला। रास्ते में संयोगवश दूसरे वैद्य से भेंट हो गयी। उससे वार्तालाप हुआ। उसमें उनसे कहा कि उन वैद्य जी ने कहा है कि न नूनं त्वया भोक्तव्यम्। सुनते ही उस वैद्य ने कहा कि नहीं खाने से कमजोरी हो जाएगी। खाना जरूर। किन्तु कम खाना। उन वैद्य जी ने भी यही कहा है कि 'ननु ऊनं त्वया भोक्तव्यम्।' ऊन का अर्थ थोड़ा है। यहाँ ननु का अर्थ 'प्रश्नावधारणानुज्ञयानुनयामंत्रणे ननु' इस अमरकोष के अनुसार अनुज्ञा है। इसके बाद कोई तीसरा व्यक्ति मिला। उसने नु 'ऊनं त्वया न भोक्तव्यम्' तुमसे अनुनय है कि तुम कम मत खाना क्योंकि घूमते-फिरते हो; जवान हो कम खाना ठीक नहीं है (नु स्यात् प्रश्ने विकल्पार्थेप्यतीतानुनयार्थयोः) इस विश्वकोष के आधार पर नु का अर्थ अनुनय है।

अतः किस तात्पर्य को शाब्द बोध का कारण माना जाए ?

और भी कारण है। श्री हर्ष महाकवि ने महाराज नल के द्वारा अपनी प्रेयसी के लिए संदेशहर राजहंस की विदाई करने में नैषध महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में एक श्लोक लिखा है :—

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥

इसमें श्री हर्ष कवि ने या राजा नल ने जिसका कभी स्वप्न भी नहीं लिया, तीनों कालों में भी जिसकी साधारण जन भी सम्भावना नहीं कर

सकता वह प्रकृत विरुद्ध अर्थ अक्षरों की योजना से दोषज्ञ लोग निकाल लेते हैं।

तव शिवं वर्त्म निवर्तताम, तुम्हारा मार्ग कल्याणमय नहीं होवे। 'पुनः त्वरितं स आगमः आगमनं मास्तु' वह तुम्हारा आगमन पुनः जल्दी मत होवे। भला जो राजा नल दमयन्ती के लिए इतना व्याकुल हो वह राजा नल हंस की यात्रा की शुभकामना करेगा या ऐसी अटपट बातें कहेगा ? तब भी उपर्युक्त अर्थ निकाला जाता है। उसमें कवि का या कवि निबद्ध वक्ता का तात्पर्य है क्या ? कभी भी नहीं। इसके सिवाय जो व्यक्ति ऐसा अर्थ निकालते हैं उनका भी तो तात्पर्य उस अर्थ में नहीं फिर भी तो वह अर्थ उन्हीं अक्षरों से निकलता है। अगर उन लोगों का वैसा तात्पर्य होता है तो संशोधन क्यों करते ?

तव वर्त्मसु वर्त्तातां शिवं पुनरस्तु त्वरितं सदागमः। तुम्हारा प्रत्येक मार्ग कल्याणमय हो और वहुत शीघ्र तुम्हारा सदा निरन्तर शुभ आगमन हो। अतः कैसे कहें कि तात्पर्य ज्ञान शाब्द वोध का कारण है। शाब्दवोध तो पद से, पदार्थ की उपस्थिति होने पर तात्पर्य के विना भी हो ही जाता है।

और भी कारण है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य बनाया। जिस के द्वितीय सर्ग में कथा है कि दिलीप, गुरु वशिष्ठ जी की आज्ञा से नन्दिनी को चराने के लिए प्रातः समय में आश्रम से खोलकर जंगल की ओर ले आते हैं। यह स्पष्ट है और विद्वत्समाज इसको पूर्ण रूप से जानता है। तथापि हमारे गुरुवर महामहोपाध्याय पं० देवीप्रसाद जी कविचक्रवर्ती के पूज्य पिता महाकवि पं० दुःखभंजन जी ने उस सर्ग को चोर पक्ष में समन्वित किया। यह चोर पक्षीया टीका 'सुप्रभात' काशी के मान्य विद्वानों के द्वारा समर्थित अतएव सुप्रसिद्ध मासिक पत्र में क्रमशः निकलती थी। कवि का तात्पर्य उन अर्थो में नहीं रहने पर भी उन्हीं शब्दों से चोर रूप अर्थ कैसे प्राप्त होता है ?

एक महिम्नः स्तोत्र है। यह स्तोत्र वाल, युवा एवं वृद्ध, स्त्री या पुरुष सभी में समान भाव से प्रसिद्ध है। उसके एक श्लोक का अंश है 'न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः।' इसका अर्थ है प्रभुओं की बुद्धि किसी दूसरे की अधीनता में नहीं रहती हैं, वे लोग स्वतन्त्र होकर अपनी कार्य व्यवस्था करते हैं। किन्तु इसी पद्यांश का अर्थ यह भी किया गया जैसा कि प्रसिद्ध है। उपर्युक्त पं० दुःखविभंजन जी, कवि के विषय में एक कथा यहाँ काशी में प्रसिद्ध है कि काशीनरेश प्रभुनारायण सिंह जी ने टेढ़ी नीम मोहल्ले में उनको एक मकान देने का निश्चय किया। प्रायः सब व्यवस्था सम्पन्न हो गयी। काशीनरेश के

यहाँ खवाशजी (नाई) प्रधानमन्त्री थे। उन्होंने उसमें कुछ संशोधन किया। वह संशोधन कविजी को नापसन्द हुआ। उन्होंने नापसन्दगी प्रकट करने के लिए एक चिट्ठी लिखी। उसमें इस "न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः" पद्यांश की व्याख्या करके लिखा कि प्रभुधियः याने प्रभुनारायण जी की बुद्धि नखलु याने नखों के काटने वाले नाई के तन्त्र में अधीनता में हो गयी। इस अर्थ का इस पद्यांश से स्वप्न में भी और त्रिकाल में भी कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं है तथापि यह अर्थ निकाला गया।

अतएव कैसे कहा जाए कि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध का कारण है। अतः नानार्थक शब्द स्थल में द्वितीयार्थ का बोध कराने के लिए व्यंजना की आवश्यकता नहीं है, अभिधा से ही दोनों अर्थों का बोध हो जाएगा।

व्यंजनावादी का उत्तर

व्यंजनावादी इसका उत्तर देता है कि हे आचार्यगण ! आपका दृष्टिकोण अंश विशेष को ही लक्षित करता है, अंशान्तर का स्पर्श भी नहीं करता है। आपने वैद्य जी, की उक्ति का एवं श्री हर्ष एवं कालिदास के काव्य तथा महिम्नः स्तोत्र के पद्यांश का उदाहरण दिया, उसके विषय में सुनिये।

हर एक विषय के संस्कार होते हैं। वे संस्कार गन्दे विषयों के भी और अच्छे विषयों के भी होते हैं। जैसे चोरी या दुराचार के संस्कार वाला ही चोरी या दुराचारी करता है। जिसको वैसा संस्कार नहीं होता उसको उस विषय के अवसर उपस्थित होने पर भी वह उन कार्यों को नहीं करता है, करना तो दर किनार, उस विषय की चर्चा भी उसके लिए विष हो जाती है। इसी तरह अच्छे विषयों में भी यही दशा है।

विश्व के मान्य राजा महाराजा, धनिकों के सम्पर्क में रहकर भी संस्कार के न होने से धनिक नहीं होता है। विश्व के मान्य विद्वानों के सम्पर्क में रह कर भी संस्कार न होने से विद्वान् नहीं हो पाता है। जिसको उस विषय के संस्कार होते हैं, वह साधारण व्यक्ति के एवं तुच्छ वस्तु के सहारे भी कोट्यधीश हो जाते हैं। मट्टी, एवं धूल करकट के व्यापारी को धनिक होते मैंने देखा है। इसी तरह साधारण व्यक्ति के सम्पर्क में भी विद्याव्यसनी रहकर महाविद्वान् हो जाता है।

यह भी कोई नियत नहीं है कि एक विषय के संस्कारशाली की दूसरे विषय में प्रगति हो। बड़ा वैज्ञानिक भी आयुर्वेद के या कानून के तत्वों

का जानकार हो, यह बात नहीं है। फलतः संस्कार एक विशेष वस्तु है। वह संस्कार विशेष ही व्यंजना है। वह संस्कार विशेष प्रतिभा से उद्‌बुद्ध होता है, अतः प्रतिभा से उद्‌बुद्ध होने वाला अर्थविषयक संस्कारविशेष व्यंजना का स्वरूप है।

इस व्यंजना से अर्थ को समझने के लिए एकमात्र प्रतिभा ही कारण है। यह प्रतिभा वक्ता के तात्पर्य की अपेक्षा नहीं करती। वक्ता का तात्पर्य रहे चाहे न रहे श्रोता अपनी प्रतिभा से विलक्षण अर्थों की प्रतीति कर लेता है, और इस व्यंजना का आश्रय शब्द ही हो या अर्थ ही हो यह बात नहीं है। शब्द का एक देश वर्ण, तथा प्रकृति प्रत्यय रचना, वाक्य, वाच्य लक्ष्य एवं व्यंग्य, अर्थ, चेष्टा, देश, काल, संयोग, वियोग, प्रकरणादि तथा नियत सम्बन्ध, सामान्य सम्बन्ध, विशेष सम्बन्ध, अनियत सम्बन्ध, विपरीत सम्बन्ध या उनका न होना आदि अनन्त उसके आश्रय हैं।

व्यंजना के इन्हीं अनन्त आश्रयों के कारण शब्दमात्र में रहने वाली वह भी संकेत सापेक्षा अभिधा व्यंग्य अर्थ को बतलाने में असमर्थ है।

और "वक्ता का तात्पर्य रहे चाहे न रहे" ऐसी तात्पर्य की डाँवाडोल स्थिति होने से तात्पर्य की अनुपपत्ति से आश्रय पानेवाली तथा शब्द के एक देश वर्ण प्रकृति एवं प्रत्यय, रचना में स्वप्न में भी नहीं रहनेवाली, शब्द में भी आरोपिता और सम्बन्ध की नित्य अपेक्षा रखनेवाली लक्षणा शक्ति व्यंग्य अर्थ को बतलाने में सर्वथा असमर्थ है।

सम्बन्ध के न होने पर भी प्रवृत्त होनेवाली व्यंजना का प्रतिनियत सम्बन्ध होने पर ही प्रवृत्त होनेवाले अनुमान में अन्तर्भाव करना उपहास ही है।

आक्षेप का अर्थ यदि लक्षणा है या अनुमान है तब उत्तर दे चुके हैं। आक्षेप का अर्थ व्यंजना है तब अभीष्ट ही है।

उस शंका का नाम सम्भावना है जहाँ एक कोटि उत्कट हो। ऐसी सम्भावना से भी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। अतः सम्भावना ही व्यंजना है, यह कथन नहीं हो सकता है।

भावना प्रतिभा के अन्तर्भूत है। भावना व्यंजना का कारण है। भावना के अनन्तर व्यंजना से व्यंग्यार्थ की प्रतीति है, अतः भावना एवं व्यंजना भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं।

मानस बोध कहनेवालों का यह भाव है कि काव्य शब्दों से जो पदार्थ की उपस्थिति होती है वह मन ही में होगी। तब काव्य शब्दों से उपस्थापित पदार्थ सहकृत मन से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जायेगी। व्यंजना की क्या

आवश्यकता है। तब तो 'गामानय' गौ को लाओ, गंगायां घोषः गांगा में घोष है इत्यादि वाक्यों के अर्थों की भी शक्ति एवं लक्षणा के बिना ही मन से बोध हो जाना चाहिए। किन्तु होता तो नहीं है। अतः कहना होगा कि वाक्य से जो विशिष्ट बोध होता है, उस विशिष्ट बोध में एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से सम्बन्ध होना निश्चित है। सम्बन्ध नहीं होने पर पदार्थ का विशिष्ट बोध में भान ही नहीं होगा। इसलिए पदार्थोपस्थिति सहकृत मन से विशिष्ट बोध नहीं हो सकता है। तब तो सुतरां स्पष्ट है कि काव्य वाक्य जन्य व्यंग्यार्थ का मन से बोध नहीं होगा फलतः व्यंजना मानना आवश्यक है।

व्यंजना स्वरूपसती व्यंग्यार्थ बोध का कारण है या ज्ञाता, यह प्रश्न ही असगत है। क्योंकि व्यंजना शक्ति, अभिधा एवं लक्षणा की तरह सम्बन्ध रूपा नहीं है जो कि ज्ञाता ही बोध का कारण बने वह व्यंजना ज्ञानरूपा है। स्वरूपसती मानने पर यह आपत्ति होने लगेगी कि "सभी व्युत्पन्नों को सर्वदा व्यंग्यार्थ का भान होने लगेगा" यह कहना, केवल मुख है इसलिए कहना चाहिए कि हरीतकी दश हाथ लम्बी है, के समान है। जब योगी को भी सर्वदा अर्थ का भान नहीं होता। तब साधारण व्युत्पन्न को उसका सर्वदा भान होगा इसकी चर्चा ही सम्भव नहीं। अतः व्यंजना एक स्वतन्त्र शक्ति है।

प्रमापक ग्रन्थों का निर्देशन

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
१—काव्यालंकार	भामह
२—काव्यादर्श	दण्डी
३—काव्यालंकार सूत्र वृत्ति	वामन
४—सरस्वती कण्ठाभरण	महाराजा भोज
५—शृङ्गार प्रकाश	महाराजा भोज
६—अलंकार शास्त्र के मौलिक सिद्धान्त	मधुसूदन शास्त्री
७—अलंकार कौस्तुभ	कवि कर्णपूर
८—भास्करोदया	लक्ष्मीनृसिंह शास्त्री
९—तर्क संग्रह	अन्नं भट्ट
१०—साहित्य कौमुदी	विद्याभूषण
११—साहित्य सार	अच्युतराय
१२—अलंकार महोदधि	नरेन्द्र प्रभसूरि
१३—वृत्ति दीपिका	मौनि श्रीकृष्ण भट्ट
१४—त्रिवेणिका	आशाधर
१५—शक्तिवाद	गदाधर भट्टाचार्य
१६—रस गंगाधर एव मधुसूदनी	पंडितराज जगन्नाथ एवं मधुसूदन शास्त्री
१७—संस्कृत साहित्य का इतिहास—प्रथम भाग एवं द्वितीय भाग	कन्हैयालाल पोद्दार
१८—एकावली	विद्याधर
१९—साहित्य मीमांसा	रुय्यक
२०—न्याय प्रदीप	गंगा सहाय
२१—काव्य मीमांसा एवं मधुसूदनी	राज शेखर एवं मधुसूदन
२२—अग्नि पुराण	कृष्ण द्वैपायन व्यास
२३—नंजराजयशोभूषण	नरसिंह कवि
२४—काव्यालंकार	रुद्रट
२५—वाग्भटालंकार	वाग्भट प्रथम

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
२६—काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
२७—प्रतापरुद्र यशोभूषण	विद्यानाथ
२८—काव्यानुशासन	द्वितीय वाग्भट
२९—काव्यालंकार	भवदेव सूरी
३०—साहित्यरत्न मञ्जूषा	बालसुब्रह्मण्यम्
३१—अन्योक्ति मुक्तावली	हंसविजय गणि
३२—सुभाषितावलि	वल्लभदेव
३३—काव्य प्रकाश	मम्मट भट्ट
३४—शृंगार सर्वस्वभाण	नल्लकवि
३५—ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
३६—लोचन (टीका)	अभिनव गुप्त
३७—कौमुदी (टीका)	उत्तुंगोदय
३८—चित्र मीमांसा	अप्पय्य दीक्षित
३९—काव्यालंकार संग्रह	उद्‌भट भट्ट
४०—रस प्रदीप	प्रभाकर भट्ट
४१—काव्य विलास	चिरंजीव
४२—अलंकार मुक्तावली	विश्वेश्वर पांडेय
४३—चन्द्रालोक	पीयूषवर्ष जयदेव कवि
४४—अर्थ संग्रह	लौगाक्षि भास्कर
४५—न्याय कुसुमांजलि	उदयनाचार्य
४६—उणादिकोष	
४७—महाभाष्य (३,४,५,६,७,८ अध्याय)	पतंजलि
४८—व्युत्पत्तिवाद	गदाधर भट्टाचार्य
४९—शास्त्रदीपिका १, २ अध्यात्त	पार्थसारथि मिश्र
५०—न्यायमञ्जरी	जयन्त भट्ट
५१—व्यक्ति विवेक	महिम भट्ट
५२—व्यक्ति विवेक—मधुसूदनी विवृति	मधुसूदन शास्त्री
५३—सांख्यकारिका एवं तत्त्व कौमुदी	ईश्वर कृष्ण एवं वाचस्पति
५४—कुट्टिनीमत	दामोदर
५५—कुट्टिनीमत की टीका	टीकाकार
५६—तत्त्वचिन्तामणि	गंगेशोपाध्याय
५७—नाट्यशास्त्र+अभिनव भारती	भरत+अभिनव गुप्त

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
५८—सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजी दीक्षित
५९—अमर कोष	अमर सिंह
६०—अलंकार चिन्तामणि	जिनसेन
६१—पाणिनीय व्याकरण महाभाष्य (१, २ अध्याय)	पतंजलि
६२—अलंकार शेखर	केशव मिश्र
६३—वेदान्तसार	नृसिंह
६४—साहित्य दर्पण	विश्वनाथ
६५—रसचन्द्रिका	विश्वेश्वर पांडेय
६६—पदवाक्य रत्नाकर	गोलोक नाथ
६७—काव्यमाला—प्रथम गुच्छक (कला विलास)	क्षेमेन्द्र
६८—औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र
६९—ब्रह्मवैवर्त्त पुराण	कृष्ण द्वैपायन व्यास
७०—वक्रोक्ति जीवितम्	कुन्तक
७१—वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र
७२—रस तरंगिणी	भानुदत्त कवि
७३—रघुवंश	कालिदास
७४—मालतीमाधव	भवभूति
७५—अभिधावृत्तिमातृका	मुकुल भट्ट
७६—शब्द व्यापार विचार	मम्मट
७७—शब्द शक्ति प्रकाशिका	जगदीश तर्कालंकार
७८—शिव महिम्न स्तोत्र	पुष्पदन्त
७९—प्रबन्धकल्प-लतिका	रेवतीकान्त भट्टाचार्य
८०—वासवदत्ता	सुबन्धु
८१—सुभाषित रत्न भाण्डागार	काशिनाथ शर्मा
८२—अभिज्ञान शाकुन्तल	कालिदास
८३—शृङ्गार सप्तशती	परमानन्द
८४—कुमार सम्भव	कालिदास
८५—गीतगोविन्द काव्य	जयदेव कवि
८६—काव्यमाला ४ (शृङ्गार तिलकम्)	रुद्र भट्ट
८७—गाथा सप्तशती	सातवाहन

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
८८—काव्यमाला ५ (शृङ्गार भूषणम्)	वामनभट्ट
८९—अमरुक शतक	अमरुक कवि
९०—प्राचीन लेखमाला (प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग)	
९१—सुभाषित रत्नाकर	कृष्ण
९२—शिशुपाल वध	माघ
९३—पद्य रचना	लक्ष्मण भट्ट
९४—स्वप्नवासवदत्तम्	भास
९५—आर्या सप्तशती	गोवर्द्धन
९६—विद्या परिणयन	आनन्दराय
९७—वसन्त तिलकभाण	वरदाचार्य
९८—हरिहर सुभाषित	हरिहर
९९—रत्नावली नाटिका	कवि हर्ष
१००—काव्यमाला—सप्तम गुच्छक	
१०१—काव्यमाला—अष्टम गुच्छक	
१०२—काव्यमाला—नवम गुच्छक	
१०३—काव्यमाला—दशम गुच्छक	
१०४—नैषधीय चरित	कवि हर्ष
१०५—ब्रह्मसूत्र एवं शांकर भाष्य	व्यासजी एवं शंकराचार्य
१०६—काव्यमाला—द्वितीय गुच्छक	
१०७—काव्यमाला—चतुर्थ गुच्छक	
१०८—न्याय सूत्र	महर्षि गौतम
१०९—काव्यमाला—द्वादश गुच्छक	
११०—काव्यमाला—त्रयोदश गुच्छक	
१११—काव्यमाला—एकादश गुच्छक	
११२—लक्ष्मीश्वरी चरित	पू० बालकृष्ण मिश्र जी
११३—लोक तत्व	
११४—हर्ष चरित	बाण
११६—तत्वचिन्तामणि	गंगेशोपाध्याय
११७—न्याय सिद्धान्त मुक्तावली एवं प्रभा	विश्वनाथ एवं नृसिंहदेव
११८—काव्य सर्वस्व	परमानन्द

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
११९—मीमांसा न्याय प्रकाश	आपदेव
१२०—हिन्दू विश्वविद्यालय नाटक	मधुसूदन शास्त्री
१२१—काव्य कल्पलता वृत्ति	अमर सिंह
१२२—किरातार्जुनीय	भारवि
१२३—काव्य प्रदीप	गोविन्द ठक्कुर
१२४—अलकार रत्नाकर	शोभाकर मित्र
१२५—अलंकार कौस्तुभ	विश्वेश्वर
१२६—कवि कल्पलता	
१२७—तैत्तरीपनिषद्	
१२८—ईशावास्योपनिषद	
१२९—कुवलयानन्द चन्द्रिका चकोर	वेंकट
१३०—वैयाकरण भूषणसार	कौण्ड भट्ट
१३१—शुक्रनीति सार	शुक्राचार्य
१३२—दशरूपक एवं अवलोक	धनंजय एवं धनिक
१३३—अलकार सर्वस्व	रुय्यक
१३४—शब्द कल्पद्रुम	कोपकार
१३५—कुवलयानन्द	अप्पय्य दीक्षित
१३६—मीमासा दर्शन	जैमिनि
१३७—श्रीमद्भगवद्गीता	
१३८—अनुभूति प्रकाश	विद्यारण्य
१३९—प्रौढ़ मनोरमा	भट्टोजी दीक्षित
१४०—प्राकृत प्रकाश	वररुचि
१४१—भगवद्गीता रहस्य	तिलक
१४२—परिभाषेन्दु शेखर	नागेश
१४३—प्राकृत व्याकरण	वररुचि
१४४—भाव प्रकाशन	भाव पण्डित
१४५—काम सूत्र	वात्स्यायन
१४६—वृत्त रत्नाकर	केदार भट्ट
१४७—छन्दः सार संग्रह	चन्द्रमोहन घोप
१४८—मेदिनीकोप	मेदिनीकार
१४९—कादम्बरी	बाण

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
१५०—दर्शनतत्व रत्नाकर	
१५१—तर्कभाषा	केशव मिश्र
१५२—श्रीकर भाष्य	श्रीपति
१५३—सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य
१५४—श्री भगवन्नाम कौमुदी	श्री लक्ष्मीधर
१५५—श्री भगवद्भक्ति रसायन	मधुसूदन सरस्वती
१५६—व्याप्ति पंचक	
१५७—भारतीय दर्शन	चट्टोपाध्याय
१५८—महावाक्य रत्नावली	पंचानन भट्टाचार्य
१५९—भट्टिकाव्य	भट्टि कवि
१६०—पातंजलसूत्र	
१६१—षड्दर्शन	
१६२—षट् सन्दर्भान्तर्गत श्री भागवत संदर्भ	बलदेव विद्याभूषण
१६३—छान्दोग्योपनिषत्	
१६४—हिन्दू विश्वविद्यालय महाकाव्य	मधुसूदन शास्त्री
१६५—स्कन्द पुराण	कृष्ण द्वैपायन
१६६—लघुमंजूषा	नागेश
१६७—निरुक्त	यास्काचार्य
१६८—छन्दः शास्त्र	पिंगलाचार्य
१६९—वाणी भूषण	दामोदर मिश्र
१७०—साहित्य मधसूदन	(अप्रकाशित) मधुसूदन शास्त्री
१७१—शब्दास्तोम महानिधी	वाचस्पति
१७२—काव्यडाकिनी	
१७३—साहित्य सिद्धान्त	सीताराम भिवानी
१७४—केनोपनिषत् भाष्य	भगवत्पाद शंकर
१७५—प्रश्नोपनिषद्	आनन्द गिरि
१७६—बृहदारण्यकोपनिषत्	आनन्द गिरि
१७७—खण्डनखण्ड खाद्य	श्री हर्ष
१७८—एतरेयोपनिषत्	आनन्द गिरि
१७९—काठकोपनिषत्	आनन्द गिरि

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
१८०—मुण्डकोपनिषत्	नारायण विरचिता टीका सहित
१८१—कौटिल्य अर्थशास्त्र	चाणक्य
१८२—ब्रह्मपुराण	कृष्ण द्वैपायन
१८३—विष्णुधर्मोत्तर पुराण	कृष्ण द्वैपायन
१८४—पद्मपुराण (भाग १, २, ३)	कृष्ण द्वैपायन
१८५—ब्रह्मवैवर्त्त पुराण	वेदव्यास
१८६—मत्स्य पुराण	कृष्णद्वैपायन
१८७—वायुपुराण	कृष्ण द्वैपायन
१८८—लिंगपुराण	कृष्ण द्वैपायन
१८९—रससदन भाण	युवराज कवि

———

श्रीः

साहित्य शास्त्रीय

तत्त्वों का समालोचनात्मक अध्ययन की विषय सूची